

मूल्य-मीमांसा

लेखक

गोविन्दचन्द्र पाण्डे



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भारत सरकार, शिक्षा मन्त्रालय, की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित :

मूल्य-मीमांसा (MULYA MIMANSA)

प्रथम संस्करण : १६७३

मूल्य : १५.००

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२ विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
ज य पु र – ४

मुद्रक :
अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स
ज य पु र – ३.

मूल्य-मीमांसा

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए "वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग" की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १९६९ में पांच हिन्दी भाषी प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गई।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान [illegible]यः सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थों का निर्माण करवा रही [illegible]कादमी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक तीन सौ से भी [illegible]क ग्रंथ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम में तैयार करवाई गई है। हमें आशा है कि यह अपने विषय में उत्कृष्ट योगदान करेगी।

चंदनमल बैद	**सत्येन्द्र**
अध्यक्ष	**निदेशक**

आमुख

प्रायः चार वर्ष पूर्व राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना होने पर उसकी दर्शन विषय-नामिका के प्रधान डॉ० दयाकृष्ण और अकादमी के कार्यकारी निदेशक श्री यशदेव शल्य की ओर से मुझे मूल्य-मीमांसा पर एक मौलिक ग्रन्थ लिखने का निमन्त्रण मिला। मैं उन दिनों 'मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑव कल्चर' (अब प्रकाशित, आगरा १९७२) से जूझ रहा था और मुझे लगता था कि संस्कृति-मीमांसा मूल्य-मीमांसा के बिना अधूरी रह जाती है। इस स्थिति में मैंने मूल्य-मीमांसा पर लिखना स्वीकार किया। किन्तु यदि वह स्वीकृति कार्य रूप में परिणत हो सकी है तो वह केवल मित्रवर शल्य जी के अवार्य आग्रह से। उनमें दूसरों से लिखवा सकने की अद्‌भुत क्षमता है जो कि दर्शन और हिन्दी में उनकी अपूर्व लगन का ही दूसरा रूप है और हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के लिये प्राणभूत है।

जो विद्वान् मूल्य--मीमांसा के मूल और प्रौढ़ साहित्य से सुपरिचित हैं, उन्हें विचार करने पर यह ग्राह्य प्रतीत होगा कि उसमें एक कमी प्रायिक है। उसमें मूल्य के सामान्य स्वरूप का ही विचार किया गया है, वह सामान्य स्वरूप मूल्य के विशिष्ट आयामों में किस प्रकार विशिष्टता लाभ करता है, इस प्रश्न की प्रायः उपेक्षा की गई है। पुनश्च, मूल्य-प्रत्यय के इस सामान्य विश्लेषण का आधार बहुधा नैतिक अनुभूति का आयाम ही मिलता है। फलतः या तो मूल्य-लक्षण, हेगल की पदावली में, इस प्रकार 'अमूर्त' और निर्विशेष हो उठता है कि उससे किसी प्रकार के विशेषों का निगमन सम्भव नहीं होता, अथवा वह केवल नैतिक मूल्य का लक्षण बन जाता है। वस्तुतः मूल्य-मीमांसा में प्रत्यय-मीमांसा को सांस्कृतिक अनुभूति के प्रकारों की मीमांसा से जोड़ना आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में शुद्ध प्रत्यय और सांस्कृतिक अनुभूति के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को बुद्धिस्थ कर मूल्य-मीमांसा का प्रयास किया गया है।

यह उल्लेख्य है कि परिशिष्ट में संगृहीत दो लेख 'दार्शनिक' में पहले प्रकाशित हो चुके थे। उन्हें इस पुस्तक का बीज कहा जा सकता है।

यदि मेरे छात्र और तरुण सहयोगी डॉ० शिवकुमार गुप्त ने इस पुस्तक के छपने में अपना इतना समय और मन न लगाया होता तो संभवत यह कभी छप ही नहीं पाती।

मैं अपने अन्य छात्र और सहयोगी श्री विनोदमणि दिवाकर का भी आभारी हूँ जिन्होंने पाण्डुलिपि की प्रेस कापी में सहायता की। पाण्डुलिपि के टंकन के लिए मैं श्री आर० एस० गुप्त और श्री मगनलाल का आभारी हूँ।

राजस्थान ग्रन्थ अकादमी के सभी अधिकारियों की ओर विशेषतः उसके वर्तमान निदेशक डॉ० सत्येन्द्र, शल्यजी एवं श्री हरिसिंह के लिए आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्तव्य है।

यदि सुधी आलोचकों को इस पुस्तक में दोषों के बावजूद कोई गुण दिखाई दे, तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'।

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

पी/६ राजस्थान यूनिवर्सिटी कैम्पस,
जयपुर

विषय-सूची

१

मूल्य-बोध और मूल्य-चिंतन का विकास

हिन्दी के दार्शनिक लेखन में आजकल 'मूल्य' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'वैल्यू' एवं मूल्य-मीमांसा का 'वैल्यू फिलौसोफी' अथवा एक्सियोलौजी के स्थान पर होने लगा है। ग्रीक 'एक्सियोस्', जर्मन 'वैर्ट', फ्रांसीसी 'वालोर', अंग्रेजी 'वैल्यू', इन सभी का प्रकृत सन्दर्भ में प्रयोग पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में भी अपेक्षाकृत नवीन है। १८८५ के लगभग लौत्से ने आचार-शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र से अधिक व्यापक मूल्य-मीमांसा की स्पष्ट उद्भावना की थी[1]। जर्मनी में ब्रेन्टानो, एरन्फेल्स, माइनौंग, ज़िमल, एवं हार्तमान, फ्रांस में पॉललापि और इंगलेंड में अर्बन की रचनाओं से लगभग १८९० से १९२० के बीच मूल्य-मीमांसा का एक नवीन प्रस्थान के रूप में आविर्भाव माना जा सकता है[2] और पिछली अर्धशती में इस पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छपे हैं[3]। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस मीमांसा के मूल प्रश्न अथवा धारणाएं इसके पहले अविद्यमान अथवा उपेक्षित थीं[4]। वस्तुतः साम्प्रतिक मूल्य-मीमांसा को मुख्यतः नाम, रूप एवं प्राधान्य के भेद से ही एक नवीन प्रस्थान माना जा सकता है। उदाहरण के लिए प्लेटो में सत्, श्रेयस्, एवं सौन्दर्य की एक अविभक्त रूप में विवेचना

---

१ पैरि, जनरल थियरी ऑव वैल्यू, पृ० ५, तु० मैर्त्स, ए हिस्टरी ऑव योरोपीयन थाट इन दि नाईन्टीन्थ सेन्चुरी, जि० ४, पृ० ६४, १२५।

२ ऐरेन्फेल्स, सिस्तेम देर वैर्त-तेओरी १८९७; माईनौंग, सिकोलोगिश-एतिशेउन्त-रजुशुंगनत्सु वैर्त-तिओरी, १८९४; ज़िमल, फिलोसोफी देस गैल्देस, १९००; ब्रेन्टानो, फॉम उरष्प्रुंग ज़ित्लिशेर एरकेन्तनिस, १८८९; एदुआर्दफोन हार्तमान, ग्रुन्द्रिसदेर एक्सियोलोगी, १९०८; पॉललापि, लोजीक दलावोलोंते, १९०२; अर्बन, वेल्युएशन इट्स नेचर एण्ड लौज १९०९।

३ उदाहरणार्थ बौन्सैके, प्रिंसिप्ल ऑव इन्डिविडुएलिटी एण्ड वैल्यु, १९१२; पैरि, उपर्युक्त, १८२६; निकोलाई हार्तमान, एतिक, १९२६; ड्युई, थियरी ऑव वैल्युएशन, १९३९।

४ तु० बोसैन्के, हिस्टरी ऑव ईस्थैटिक्स, पृ० १।

मिलती है और उसके आदर्श-विषयक सिद्धान्त को मूल्य-मीमांसा का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्स मानना पड़ेगा। अरिस्टॉटल में तत्व-दर्शन एवं आचार-दर्शन के रूप में सत् और श्रेयस् की पृथक्-पृथक् विवेचनाएं मिलती हैं, जोकि एक विशालतर दर्शन में गुम्फित हैं। मूल्य-मीमांसा के सन्दर्भ में भी अरिस्टॉटल के दर्शन का महत्त्व कम नहीं हो जाता। हेगल ने प्रायः १५० वर्ष पूर्व सौन्दर्य-दर्शन के अर्थ में 'इस्थेटिक्स' शब्द का प्रयोग निर्धारित किया था,[1] किन्तु हेगल में साथ-साथ विभिन्न दार्शनिक मीमांसाएं एक सम्पूर्ण दार्शनिक मीमांसा के अंगों के रूप में मिलती हैं। टॉमिस्ट परम्परा में 'सत्' और 'श्रेयस्' ईश्वर में परमार्थतः मिल जाते हैं और उनका समन्वित विवेचन मूल्य-मीमांसा के लिए अप्रासंगिक नहीं है। अस्तित्ववादी परम्परा का मूल आशय मूल्यपरक ही माना जाना चाहिये। भारतीय परम्परा के अधिकांश में मूल्य-विषयक धारणाएं सामान्य दार्शनिक सन्दर्भ में पृथक् नहीं की गई हैं किन्तु अनिवार्यतः विद्यमान हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि मूल्य दर्शन का यथेष्ट परिज्ञान केवल उसके आधुनिक रूप से ही प्राप्त नहीं हो सकता। मूल्य-विषयक दार्शनिक धारणाओं को परखने के लिए हमें उनको उनके विकास के सन्दर्भ में रखना आवश्यक होगा।

मूल्य-मीमांसा का ऐतिहासिक विकास मूल्य-बोध के केवल सहज रूप पर आधारित न होकर उसके सामाजिक और सांस्कृतिक रूपों की पृष्ठ-भूमि में सम्पन्न हुआ है। ऐतिहासिक क्रम में मूल्य-बोध का सृजनात्मक पक्ष पहले सक्रिय अभिव्यक्ति पाता है और समाज एवं संस्कृति के रूप में व्यक्त अथवा सृष्ट मूल्यों के एक विश्व को उपस्थित करता है[2]। इस प्रक्रिया में मूल्य-बोध स्वयं परम्परागत संस्कारों के द्वारा परिष्कृत और विरूढ़ होता है। इस संस्कार-सघन मूल्य-बोध की विवेक, सहृदयता, श्रद्धा आदि विधाओं और उनके अन्तर्गत विषयों के आदर्शों, प्रतिमानों, 'अर्थों', 'सत्यों' आदि के तात्विक विवेचन के द्वारा मूल्य-मीमांसा प्रवृत्त होती है यद्यपि 'कारयित्री' और 'भावयित्री' प्रतिभाएं, 'सृजन' और 'विवेक', मूल्य-बोध के सहज-संयुक्त पक्ष हैं, तथापि यह ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि पहले मूल्य-सृजन प्रौढता को प्राप्त होता है, पीछे उसमें अन्तर्निहित विवेक बौद्धिक आलोचना के रूप में प्रस्फुटित होता है। नाना मूल्य-प्रभेदों की पृथक्-पृथक् आलोचनाओं के व्यवस्थित होने के पश्चात् ही तात्विक और व्यापक मूल्य-मीमांसा का विकास स्वाभाविक है। यद्यपि विवेक मनुष्य का

---

१ 'ईस्थैटिक्स' शब्द का प्रयोग बाउमगार्टन ने १७५० में किया था—तु० मर्त्स', उपर्युक्त जि० ४, पृष्ठ ५।

२ तु० बोसेन्के, हिस्टरी ऑव ईस्थेटिक्स, पृष्ठ १।

सहज धर्म है, उस विवेक का मूल्य-दर्शन के रूप में विकास ऐतिहासिक-सांस्कृतिक क्रम में अपेक्षाकृत पीछे होता है। फलतः हम प्रायः दार्शनिक ज्ञान का उदय सांस्कृतिक परम्परा के पिछले दिनों में पाते हैं।[1] उदाहरण के लिए प्राचीन ग्रीस में सामाजिक एवं राजनीतिक परम्पराओं के परि-निष्ठित रूप धारण करने के पश्चात् ही प्लेटो एवं अरिस्टॉटल ने 'न्याय' (दिके)[2] की तात्विक मीमांसा प्रस्तुत की। इस मीमांसा के युग में ही यूनानी राज्य और समाज का आदर्श घटनाचक्र में चूर हो रहा था। जब अरस्तू ने सौन्दर्य अथवा सत्य की मीमांसा व्यवस्थित रूप में हाथ में ली, उस समय यूनान की नाट्य-कला एवं रेखा-गणित पहिले ही अपना प्रामाणिक रूप पा चुके थे। ऐसे ही भारतीय इतिहास में अर्थ-शास्त्र और धर्म-शास्त्र, तर्कशास्त्र और रस-शास्त्र का विकास राज्य और समाज, ज्ञान-विज्ञान एवं काव्य-कला आदि के विकास की अपेक्षा परवर्ती है।

जैसाकि ऊपर संकेत किया गया था, दर्शन की पुरानी पाश्चात्य अथवा भारतीय परम्परा में मूल्य-मीमांसा एक पृथक् दार्शनिक प्रस्थान के रूप में विकसित नहीं हुई थी। भारतीय दर्शन तत्वज्ञान के सम्प्रदायों ('मेटाफिजिकल स्कूल्स') में विभक्त है और तत्वज्ञान के प्रायः दो ही विभाग मिलते हैं—अध्यात्म-विद्या एवं न्याय-विद्या जिसे आन्वीक्षिकी अथवा तर्क-शास्त्र भी कहते थे। अध्यात्म-विद्या में परमार्थ की व्याख्या के प्रसंग में दुःख और मोक्ष, सत् और ज्ञान का समन्वित प्रतिपादन मिलता है। सामाजिक और नैतिक जीवन, काव्य और कला, लौकिक सुख-भोग, इन सब के मूल्यों को अपारमार्थिक मानने के कारण उनका यथेष्ट विवेचन अध्यात्म-विद्या के अन्दर नहीं किया जाता। इनका विवेचन धर्म-मीमांसा, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि में मिलता है जिनमें विस्तार विवरणात्मक एवं व्यवस्था-पनात्मक है और तात्विक दार्शनिक विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त है। नाना प्रकार और स्तरों के मूल्यों का तुलनात्मक विवेचन एक स्वतन्त्र शास्त्र का विषय नहीं था।

प्राचीन वैदिक जन-जीवन अग्रगामी, प्रवृत्तिशील एवं संचरिष्णु था। सुदूर पश्चिमान्त से पूर्व तक उत्तर भारत की विस्तृत भूमि पर वैदिक जनों के 'संचार और निवेश' का इतिहास उस सक्रिय सफलता के युग की कर्म-परायणता और आत्म-विश्वास का प्रमाण है। सफल प्रवृत्ति से एक नियत प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था में विश्वास दृढ़ होता है और पूर्व वैदिक युग में इस प्रकार की विश्व-नियामक व्यवस्था को 'ऋत' की आख्या

---

१ हेगल—'सांझ घिर आने पर ही मिनर्वा का उलूक उड़ना प्रारम्भ करता है' (हेगेल, **फिलोसोफी आव राइट**, अनु० नौक्स पृ० १३)।

२ प्राचीन भारतीय-यूनानी सिक्कों पर 'दिके' का अनुवाद 'धर्म' मिलता है।

दी गई। 'ऋत' सहज तात्विक व्यवस्था है और 'सत्य' उसका आनुकूल्य, सृष्ट अथवा दृष्ट अर्थों में। वस्तु-स्तर पर अर्थ-सृष्टि एवं मानस-स्तर पर अर्थ-प्रतिभान, दोनों ही ऋत से अनुप्राणित होने पर सत्य होते हैं। इसी समानान्तरता के कारण ईश्वर और ऋषि दोनों ही कवि, द्रष्टा और स्रष्टा माने जाते थे।[1] वैदिक पुरुष ऐहिक पदार्थों (रै, रायस्पोष) को प्रार्थनीय मानते हुए भी धी-गम्य ऋत के प्रकाश को ही वरेण्य मानते थे।[2] 'कृति' और 'दृशि' के उस समय तक परस्पर-विरुद्ध न समझे जाने के कारण 'धी' शब्द के अर्थ में तब 'ज्ञान' के अतिरिक्त 'संकल्प' का अंश भी विद्यमान था। इस प्रकार बुद्धि का प्रकाश-दर्शन सत्संकल्प का भी द्योतन करता था।

ज्ञान और कर्म का यह सहज सामरस्य, जिसमें जीवन का स्वीकार ज्ञान की प्रगतिशील खोज एवं ऋतानुकूल श्रेयोभीप्सा समन्वित रूप में सार्थकता लाभ करते थे, क्रमशः उत्तर वैदिक काल में भंग हो गया। 'ऋत' शब्द अंग्रेजी के right (सीधा, ठीक) और rite (कर्मकाण्ड) दोनों ही शब्दों से मूलतः जुड़ा हुआ है किन्तु उत्तर वैदिक काल में कर्मकाण्ड को ही प्रधानता दी जाने लगी। कर्म का नियामक आन्तरिक न होकर बाहरी और आनुष्ठानिक होने लगा। साथ ही नित्य और अनित्य के विवेक के प्रमुखता लाभ करने के कारण भोगों की असारता और आत्मिक जीवन की पारमार्थिकता का विरोध विचार का विषय बनने लगा। फलतः श्रेयस् और प्रेयस् का भेद आध्यात्मिक आचार दर्शन के मूल-मन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।[3] आत्म-ज्ञान के द्वारा आत्मावस्थिति रूप मुक्ति ही श्रेयस् है, इन्द्रियों के द्वारा अनित्य वस्तुओं का सुख-भोग ही प्रेयस् है। श्रेयस्-साधन प्रत्यङ्मुख, आत्माभिमुख यात्रा है जो मृत्यु-लोक का अतिक्रमण करती है जबकि प्रेयस्साधन बहिर्मुख प्रवृत्ति है जो बार-बार मनुष्य को मृत्यु के मुख में ले जाती है। तब भी उपनिषदों में न सन्यास पर जोर है, न मोक्ष को केवल दुःखाभाव के रूप में प्रतिपादित किया गया है। आत्मा का स्वरूप आनन्द है और मुक्ति आप्तकामता है। भौतिक जीवन के परे एक शाश्वत सत्य को देखने और लक्ष्य मानने पर भी उपनिषदों में जीवन को नकारने की दृष्टि विरल रूप में ही पाई जाती है। उनके लिए आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्म जगत् का

---

१ द्र० 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः
(ईशोपनिषद्, ८)

२ तु० 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात्'
(ऋ० ३, ६२, १०)

३ द्र० 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।'
(कठ० १. २. २)

मूल उपादान।[1] आत्मा के विरुद्ध अथवा अतिरिक्त कुछ नहीं है। सभी पदार्थ आत्मा से अनुप्राणित हैं, 'नाम' 'रूप' एवं 'कर्म' से उपाहित उसी के अंश हैं।[2] विश्व आनन्द से बना है और आनन्द से व्याप्त है,[3] दुःख-प्रपन्च नहीं है। द्वैत के अवभास से काम और भय का जन्म होता है और आत्म-विषयक यह भ्रान्ति ही दुःख की अनुभूति कराती है। विश्व स्वयं दुःखात्मक नहीं है, प्रत्युत 'विश्वमिदं वरिष्ठम्'—विश्व सर्वोत्तम, वरणीयतम है।[4] फलतः उपनिषदों में दुःख की नहीं, आनन्द की मीमांसा मिलती है।[5]

वस्तुतः उपनिषदों का आत्मवाद अथवा ब्रह्मवाद परवर्ती संसारवाद से मूलतः सम्बन्धित नहीं है। आत्म-ब्रह्मवाद विशुद्ध वैदिक विचारधारा का विकास है जिसमें विश्व के मूल तत्त्व की खोज थी। प्राचीन यूनान में भी इसी प्रकार से मूल तत्त्व की खोज थालेस आदि दार्शनिकों ने की थी।[6] दूसरी ओर संसारवाद इस वैदिक परम्परा में किसी अवैदिक चिन्तन-धारा का आरोप प्रतीत होता है।[7] उपनिषदों में इसके उल्लेख विरल हैं। याज्ञवल्य कर्मवाद को तत्कालीन विचारकों में एक अपरिचित सिद्धान्त के रूप में लेते हैं।[8] और इसी कारण उपनिषदों में सन्यास और निवृत्ति का उल्लेख भी विरल है। उपनिषदों में 'मूल्य' के लिए प्रयुक्त शब्द 'अर्थ' है जिसका नैरुक्तिक अर्थ है 'प्राप्य' अथवा गन्तव्य और उस पर आधारित अर्थान्तर 'एष्य' एवं 'शब्द-गोचर'। इस अन्तिम अर्थ के विकास से अर्थ शब्द वस्तु, 'भाव' अथवा 'अभिप्राय' का भी वाचक बन गया।[9] जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अर्थ की दो विधाएं उल्लिखित हैं—प्रतीयमान अथवा प्रेयस् एवं वास्तविक अथवा श्रेयस्। इस प्रत्युपस्थित अर्थ-गत द्वन्द्व के सम्मुख मनुष्य को एक का 'वरण' करना आवश्यक है। इसीलिये 'अर्थ' 'वर' अथवा 'वरेण्य' है।[10]

---

१ द्र० 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते·····' (तै० ३. १.)

२ छा० ६. १. ४.; बृ० १. ४. ७.

३ तै० २. ७.

४ मु० २. ५. ११.

५ तै० २. ८.

६ मूल तत्त्व = फूसिस, द्र० बेकवैल, सोर्सबुक इन एंश्येन्ट फिलौसफी, अध्याय १

७ द्र० बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, अध्याय १

८ द्र० बृ० ३. २. इस सन्दर्भ के महत्त्व की ओर सर्वप्रथम सर रा० गो० भंडारकर ने ध्यान दिलाया था (द्र० ए पीप इन्टु दि अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया)

९ तु० कठ १. ३. १४
तु० श्रीमती राईस डेविड्स, दि बर्थ ऑव इण्डियन साइकोलोजी, पृ० १३२ जहां अर्थ का अनुवाद 'वैल्यूज़-इन-थिंग्स' किया गया है।

१० कठ की कथा का अभिप्राय इसी में है।

यह वरण केवल ज्ञान अथवा प्रज्ञा का व्यापार नहीं है बल्कि 'क्रतु' अथवा 'संकल्प' का है। अतएव श्रेयोर्थी के लिये भावमूलक सदाचार परमावश्यक है। क्षमा, दान और दया, श्रद्धा, तप और सत्य इनके लिए आवश्यक हैं। केवल प्रज्ञा अथवा मेधा या विद्वत्ता से अर्थ-प्राप्ति संभव नहीं है।[1] किन्तु साथ ही यह भी निश्चित हैं कि साक्षात् रूप से श्रेयस् केवल ज्ञान-गम्य नित्य सद्रूप है। यद्यपि उपनिषदों में ज्ञान एवं नैतिक अच्छाई का स्पष्ट भेद है और यह स्वीकार किया गया है कि एक स्तर पर प्रज्ञा-मात्र मनुष्य को दुराचार से रोकने में समर्थ नहीं होती है, तथापि प्लेटो की तरह उपनिषदों में भी परम सत् ज्ञान-मात्र का गोचर है। किन्तु यहां पर भी यह भेद उल्लेखनीय है कि जहां प्लेटो एवं अरस्तु में ज्ञान की अपेक्षा उसका सद्रूप विषय प्रधान है, उपनिषदों में परमज्ञान के आत्मज्ञान होने के कारण प्राधान्य ज्ञान में रहता है और सभी विषय उसमें क्रमशः विलय प्राप्त करते हैं।[2] यूनानी दर्शन में ज्ञान-गत श्रेष्ठता सत् के द्वारा अर्पित होती है और सत् ही पारमार्थिक है, उपनिषदों में सत् का स्वरूप ही अन्ततः ज्ञानरूप है। वस्तुतः यूनान में ज्ञान (नूस) विषय-ज्ञान के रूप में ही अवधारित रहता है और इसलिये द्वैत का अतिक्रमण नहीं करता, जबकि उपनिषदों में ज्ञान का स्वरूप आत्मज्ञान और अद्वैत-स्फूर्ति है।

ईसापूर्व छठी शताब्दी तक दार्शनिक वातावरण में पर्याप्त परिवर्तन आ गया था। संसारवाद का स्वीकार प्रायिक हो चुका था और अन्तर्निहित कर्म की व्याख्या सामान्यतः सभी आचार्यों के लिए समान थी एवं फलतः निवृत्तिपरक धर्म का उस समय बोलबाला था।[3]

जहाँ उत्तर-पूर्व के गणों में और उनके निकटवर्ती राज्यों में परिव्राजक आचार्य पुनर्जन्म रूपी संसार को विशेष दुःखात्मक एवं कर्म को उसके मूल में बन्धनकारी मानकर अपवर्गात्मक मोक्ष को लक्ष्य और सन्यास को साधन विज्ञापित कर रहे थे और उनके विरोधी प्रवृत्तिमार्गी आचार्य, आस्तिक एवं नास्तिक, भोग–प्रधान जीवन की सफलता के साधनों पर विचार कर रहे थे, उत्तर–पश्चिम की ओर एक समन्वयात्मक दृष्टि का उदय हो रहा था।

बुद्ध, महावीर और मस्करी गोशाल प्रख्यात निवृत्ति मार्गी थे किन्तु जहां सभी संसार को कर्ममूलक मानते थे, बुद्ध कर्म का क्षय मुख्यतः ज्ञान से, महावीर तपस्यारूपी कर्म से और गोशाल केवल अपरिहार्य भोग से

---

१ कठ, १. २. २३

२ तु० कठ, १. ३. १३.

३ तु० स्टडीज् इन दि ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३२१ प्रभृति

स्वीकार करते थे। अजित कोशकम्बली एवं लोकायतिक विचारक नास्तिक प्रवृत्तिवादी थे और भौतिकवादी तत्त्वदर्शन के आधार पर प्रत्यक्ष अनुभूति-गत सुख को ही मुख्य अर्थ मानते थे। लोकायतदर्शन का प्रभाव अर्थ-शास्त्र के विकास पर विशेष रूप से पड़ा है और इस सन्दर्भ में 'अर्थ' शब्द का ही अर्थान्तर हो गया जोकि उस अर्थ से मिलता है जिसे हम पाश्चात्य अर्थशास्त्र में पाते हैं – उपयोगिता, विनिमेयता, सामाजिक हित-सुख (वेलफेयर)। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय महाभारत के अनेक सन्दर्भों में विशेषतः भगवद्गीता में मिलता है। यह दृष्टिकोण वैदिक आचार-विधान को समाज रक्षा के लिये आवश्यक समझता था और इसी के परि-वेश में धर्मशास्त्र का विकास हुआ। जहां ऋत गति अथवा क्रिया का नियामक था, धर्म स्थिति का नियामक है।[1] समाज को व्यवस्थित रूप से धारण करने वाले संस्थागत नियमों की समष्टि होते हुए भी धर्म को मानव हृदय में स्थित सहज शासन माना जाता था।[2] यह प्लेटो के उस प्रतिपादन के सदृश है जिसके अनुसार व्यक्ति और समाज दोनों ही 'धर्म' (दिके) के एकसूत्र से व्यवस्थित हैं।

इन विविध विचार-सारणियों के समवेत प्रभाव से पुरुषार्थ-चतुष्टय के सिद्धान्त का जन्म हुआ। पदार्थ से विभिन्न पुरुषार्थ के चतुर्धा विभक्त होते हुए भी समन्वयात्मक वैदिक परम्परा में वे एक प्रकार की मूल्य-निश्रेणी प्रस्तुत करते हैं जिसमें अर्थ और काम गृहस्थाश्रम में धर्म के अनुकूल होते हुए भी जीवन की अन्तिम अवस्था में परम पुरुषार्थ मोक्ष के गवेषी के लिए त्याज्य हो जाते हैं।[3] भोग और मोक्ष परस्पर विरुद्ध होते हुए भी कैसे एक साथ मूल्य हो सकते हैं, इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं था और अतएव एक प्रबल निवृत्ति-प्रधान विचार-धारा चिरकाल तक व्याप्त रही। मध्यकाल में भक्ति के विशेष विस्तार के कारण एक नया मोड़ प्रस्तुत हुआ। परा भक्ति ज्ञानार्पित शुष्क मोक्ष के ऊपर की स्थिति है, ऐसा सिद्धान्त क्रमशः अविर्भूत हुआ।[4] मरते समय बाली ने राम के द्वारा अन्तिम अभिलाषा पूछे जाने पर मोक्ष न माँग कर चिरकाल तक भक्तिमय जीवन में लीलादर्शन ही परम पुरुषार्थ के रूप में माँगा।[5] विचार, ज्ञान और मोक्ष का स्थान अब

---

१ तु० धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥ **महाभारत**, कर्ण ६९, ५८

२ 'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहमाम्' (**वही**, वन, ३१३, १७)

३ तु० **अर्थशास्त्र** 'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत' (१.७.६); वात्स्यायन, **कामसूत्र** त्रिवर्गविप्रतिपत्ति प्रकरण।

४ तु० **श्री श्री चैतन्यचरितामृत**, पृ० ३३२-३३३.

५ **रामचरितमानस**

भाव और सेवा, प्रेम और लीला ने लिया। किन्तु जहां ज्ञान के शुष्क तर्क में खो जाने के कारण असंतोष का जन्म हुआ था, भक्ति-युग का रसाभिमुख्य क्रमशः एक कोरी भावुकता एवं शृंगारिक रसिकता में डूबने को प्रस्तुत होने लगा।[१] १९वीं शताब्दी में कोरे ज्ञान और कोरी भावुकता के स्थान पर सेवा और प्रेम का मानववादी आदर्श क्रमशः प्रस्फुटित हुआ। राममोहन-राय से तिलक, गान्धी और अरविन्द तक बार-बार यह प्रयत्न किया गया कि उपनिषदों और गीता की परम्परा में कर्म का निस्वार्थ मानव-सेवा के रूप में प्रतिपादन किया जाए।

भारतीय आध्यात्मिक-सांस्कृतिक विचार-धारा पर इस संक्षिप्त विहंगावलोकन से उसके विकास की चार अवस्थायें स्पष्टतः उपलब्ध होती हैं। वैदिक काल में मूल्य अथवा वरेण्य का अवधारण उस ऋतानुकूल आनन्दमयी सृजनात्मकता के रूप में था जिसे मानव अपने में दिव्य प्रेरणा मानता था, जिसके अनुसरण में उसे न केवल अपना जीवन चरितार्थ लगता था, अपितु अपनी सर्जनात्मकता में उसे सृष्टि के मूल में स्थित इच्छामय, छन्दोमय, तपोमय व्यापार का अपने दृष्टि-स्तर पर स्फुरण उपलब्ध होता था। मनुष्य में 'कवित्व' का आविर्भाव, उसका दिव्य छन्द से अनुछन्दित होकर स्रष्टा बनना, यही उसके जीवन का चरम मूल्य अथवा वरेण्य पद है।

भारतीय विकास की दूसरी अवस्था का काल-विस्तार बुद्ध के समय से लगभग बौद्ध धर्म के भारत में पतन तक माना जा सकता है। दुःख को 'अनर्थ' (ईविल, डिस्वैल्यू) मानकर उसके अभावरूपी मोक्ष को ही इस युग में परमार्थ, चरम मूल्य, अवधारित किया गया। काम, कर्म और भोग और उनके साथ ही निःशेष मानव-जीवन और समाज, अनर्थ पक्ष में डाल दिये गये। इस नितान्त निवृत्तिपरक (नेगेटिविस्ट) धारा के साथ एक समन्वयात्मक धारा भी प्रचलित थी जिसमें मूल्य को पुरुषार्थ के रूप में, सहज मानव पर्येषण के लक्ष्य एवं तृप्ति के रूप में, अवधारित किया गया था और यह माना गया था कि प्रवृत्ति का सम्यक् और नियत अनुपालन स्वतः मनुष्य को निवृत्ति के निकट ले जाता है। इस दृष्टि से मानव अनुभूति सभी दिशाओं में सर्वत्र मूल्य-छाया अथवा अर्थ-प्रतिबिम्ब से युक्त है, यद्यपि उपाधि-भेद से ये प्रतिबिम्ब सर्वत्र समान रूप से उज्जवल नहीं हैं।[२] सभी वैषयिक उपाधियों में दुःख अथवा अनर्थ का सम्पर्क इस बात का

---

१ तु० एस० के० डे०, **वैष्णव फेथ एण्ड मुवमेण्ट**; भगवतीप्रसाद सिंह, **रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय** :

२ द्र० पञ्चदशी में विषयानन्द प्रकरण

निरंतर स्मारक है कि मनुष्य की सहज अर्थ-गवेषणा ने अभी भी ठीक दिशा नहीं पाई है। कस्तूरी मृग के समान मनुष्य, आत्मनिगूढ आनन्द की ही खोज में भ्रान्तिवश बहिर्मुख छटपटाता रहता है। अपने स्वरूप के विषय में यह भ्रान्ति जिस स्तर पर उपाधि को आत्मा पर आरोपित करती है, उसी स्तर पर विषय-विषयि भाव के अनुकूल एष्य पदार्थों को पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत करती है। इन दोनों ही धाराओं में निवृत्तिकारक एवं समन्वयात्मक जिन्हें बुद्ध-शंकर युग की अवैदिक और वैदिक धाराएं कहा जा सकता है, वासना-क्षय के द्वारा ही परम-पुरुषार्थ की प्राप्ति अभीप्सित है।

मध्यकाल में भक्ति का चरम पुरुषार्थ के रूप में अवधारण, भारतीय चिन्तन का तृतीय चरण प्रस्तुत करता है। मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को भाव-सम्पर्क से पिघले हुये चित्त का प्रवाह बताया है।[1] नाना प्रकार के भाव-प्रवाह में रस की उपलब्धि होती है और भाव के आलम्बन के रूप में मनुष्य को विभिन्न और आदर्श आत्मविषयक धारणाएं परमात्मा के रूप में प्रत्युपस्थित होती हैं। रसानुभूति ही भक्ति का सार है और यही मध्ययुगीन चरम मूल्य का अवधारण। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आधुनिक युग में परम्परा की पुनर्व्याख्या का प्रयास मिलता है जिसमें आध्यात्मिक और मानवीय मूल्यों के समन्वय पर ध्यान केन्द्रित हुआ है। नैतिक मूल्यों के क्षेत्र में इस प्रकार का समन्वय सहज रूप से मिलता है और इसलिये आधुनिक विचारकों के लिए गीता का इतना महत्त्व रहा है।[2] पिछले पच्चीस वर्षों में पाश्चात्य विचारधारा की एक नयी और प्रबल बाढ भारत में आई है और अनेक दार्शनिकों ने परम्परा से प्रायः सर्वथा मुक्त होकर चिन्तन का प्रयास आरम्भ किया है।

जहां भारतीय परम्परा में मूल्य-विषयक विचार-विमर्श की मुख्य धारा आध्यात्मिक अनुभूति को प्रकृष्टतम प्रभाव मानकर चलती रही है, पश्चिम में प्राचीन यूनानी परम्परा ऐहिक, सामाजिक और बुद्धिवादी थी। जैसाकि सुविदित है यूनान में दर्शन का अविर्भाव प्रकृति-विषयक मीमांसा से हुआ था। थालेस, अनाक्सिमान्देर, अनाक्सिमेनीज, पिथागोरस, हिराक्लितस, पारमेनिडीज, डेमोक्रिटस एवं अनाक्सागोरस ने विश्व के मूल तत्त्व को परिभाषित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि ये दर्शन स्वतः किसी जीवन-दर्शन को समर्थित करने के लिए प्रस्तुत नहीं किये गए थे तो भी

---

१ द्र० भक्तिरसायन में

२ द्र० तिलक, गान्धी, अरविन्द एवं विनोबा की गीता की व्याख्यायें। रवीन्द्रनाथ पर वैष्णव धर्म का और नेहरू, अम्बेडकर पर बौद्धधर्म का प्रभाव स्मरणीय है। दार्शनिकों में राधाकृष्णन्, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, आर० डी० रानाडे आदि पर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट है।

यह सच है कि पिथागोरस की परम्परा एक आध्यात्मिक सम्प्रदाय से भी जुड़ी हुई थी और हिराक्लितस की सूत्रात्मक उक्तियों में एक जीवन-दर्शन भी छायावत् प्रतिबिम्बित होता है जिससे हेगेल और मार्क्स दोनों ही ने प्रेरणा ग्रहण की। जब 'पारसीक युद्धों' में सफलता के अनन्तर एथेन्सका एक समृद्ध और शक्तिशाली नगर-राज्य के रूप में उत्थान हुआ, तभी वहां सांस्कृतिक विकास भी साहित्य और कला, विज्ञान एवं दर्शन के रूप में पुष्पित और फलित हुआ। दर्शन के इस नवीन रूप को मानव-केन्द्रित करने का श्रेय सोफिस्ट-गण को है। प्रोतागोरस की उक्ति प्रसिद्ध है कि 'तोन पान्तोन क्रेमाथोन आन्थ्रोपोस मेत्रोन एस्तिन्'(मनुष्य सब पदार्थों का मान-दण्ड है)। यह उक्ति मूल्य-मीमांसा की दृष्टि से उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी ज्ञान-मीमांसा की जैसाकि प्लेटों ने इसे माना है। उस युग में भौगोलिक ज्ञान के विस्तार से एवं नाना समाजों में प्रचलित आचार-व्यवस्थाओं के विभेद से परिचित होने पर विचारशील यूनानियों के लिए यह प्रश्न स्वाभाविक था कि इस व्यवस्था-भेद (नोमोई) का 'धर्म' अथवा 'न्याय' (दिके) की सार्वभौमता से साथ तालमेल किस प्रकार बैठाया जाय।[1] सोफिस्टों की दृष्टि से आचार और समाज की व्यवस्थाएं मानव-रुचि एवं रूढ़ि पर आश्रित होने के कारण सापेक्ष मानी जानी चाहिये। इसके विपरीत सुकरात, प्लेटो एवं अरस्तू ने इन व्यवस्थाओं का मूल विवेक-बुद्धि (नूस) में खोजा। उन्होंने 'धर्म' (दिके) की सार्वभौमता को आदर्श-गत माना एवं आदर्श को बुद्धिगम्य। सुकरात ने 'आत्मोत्कर्ष'[2] को स्वरूप 'ज्ञान'[3] बताया था और ज्ञान को लक्षण-प्रतिपत्ति। उन्होंने लक्षणों को रूपाश्रित[4] बताया था और रूपों को तत्त्व[5] जोकि तारतम्य-युक्त एक श्रेणी में व्यवस्थित हैं और जोकि क्रियात्मक और कालिक अस्तिता[6] से युक्त भौतिक

१ तु० केम्ब्रिज एन्श्येन्ट हिस्टरी, जि० ५, पृष्ठ ३७६; बर्नेट, ग्रीक फिलोसोफी, पृ० १०६

२ ग्रीक में 'आरेते' जिसका अंग्रेजी में 'वर्चू' अनुवाद किया जाता है। 'आरेते' का अर्थ है 'किसी वस्तु के असाधारण गुण का उत्कर्ष'

३ ग्रीक में 'एपिस्तीमे जिसका 'डोक्सा' (='विश्वास' किन्तु=मत अं०, ओपिनियन) से विभेद किया जाता है। तु० गीता की 'व्यवसायात्मिका बुद्धि'।

४ ग्रीक में 'एइदौस' (=आकृति, रूप) जिसका अंग्रेजी में 'आइडिया' या 'फॉर्म' अनुवाद किया जाता है।

५ ग्री० में 'ता ऑन्ता' (=जो हैं)

६ ग्री० 'गेनेसिस' (=जाति, विकार्य सत्)

पदार्थों के लिए आदर्शवत् है।[१] चरम ज्ञान परम रूप श्रेयस्[२] का विषयी होता है। इस सन्दर्भ में 'तत्व' और 'श्रेयस' परमार्थतः अभिन्न ठहरते हैं। जैसे गीता में 'तत्सत्' की व्याख्या में सत् के अन्दर प्राशस्त्य का निवेश मिलता है ऐसे ही प्लेटो में परम सत् और परम मूल्य अविभक्त रूप से मिलते हैं।[३] इस 'सत्' के दर्शन में ही मानव आत्मा का बौद्धिक अंश विवेकी सम्पन्न होता है और विवेक का शासन मनुष्य के लिए 'धर्म' अथवा सदाचार सम्भव करता है। समाज में भी यह विवेक ही वास्तव में शासक पद पर अभिषेचनीय है और उसकी व्यवस्था का निर्देशक और निर्धारक है। सौन्दर्य-लिप्सा अथवा प्रेम जागतिक पदार्थों में आदर्श रूप के अभिज्ञान से उत्पन्न आत्मिक प्रेरणा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आत्मा में आदर्श विश्व के निर्दोष रूपों का स्मरण प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहता है और उनके आभास देखकर आत्मा के मानों पंख फड़फड़ाने लगते हैं और वह इस भंगुर, कालिक जगत् के अपूर्ण रूपों से परे अपने सहज विश्व को लौटना चाहती है। यह व्याकुलता और अभीप्सा ही वास्तविक सौन्दर्य-प्रेम है।

सोफिस्टों के द्वारा मूल्य मानवापेक्षी अवधारित किये गए थे और इस अवधारणा में मूल्य अन्य अर्थों में विश्लेषण के द्वारा मानो अपने स्वरूप-स्तर से घटा दिये गए थे जैसे हीरे को कोयले का रूपान्तर बता दिया जाए। उदाहरण के लिए थ्रासीमेकस् ने न्याय को बलवत्तर का स्वार्थ बताया जबकि साधारणतया न्याय के द्वारा दुर्बल बलवान् की बराबरी करना चाहता है।[४] मूल्यों को उनके आदर्श-पक्ष की ओर इस अश्रद्धा और अवज्ञा से प्लेटो ने उबारने का प्रयत्न किया है। उन्होंने मानव-जीवन को मूल्यापेक्षी माना है। मानव स्वभाव का उत्तम अंश बुद्धि है और बुद्धि आदर्श-रूपों के दर्शन (थेयोरिया) में ही कृतकृत्य होती है। ये आदर्श रूप स्वरूप-विश्रान्त किन्तु परिभाषित और व्यवस्थित विषय हैं। सर्वास्तिवादियों के 'धर्मों' के समान इन रूपों की 'सत्ता' लक्षणमयी है और यद्यपि कारित्र द्वारा इनकी अभिव्यक्तियां अनित्य हैं, ये स्वयं स्वभावतः त्रैकालिक

---

१ ग्री० परादेइग्माता (=दृष्टान्तभूतरूप)

२ ग्री० 'अगाथोन्'

३ ग्री० 'ऊसिया' (=सत्ता) और 'ओफिलिया' (=मूल्य) यह स्मरणीय है कि रिपब्लिक में श्रेयस् को ज्ञान और सत्ता के परे बताया है। नव्य-प्लातोनी मत में इसका अनुसरण कर परम तत्त्व के रूप में 'एक' की कल्पना की गई जिससे आविर्भूत पहला द्वैत अतीन्द्रिय ज्ञान (नूस) और अतीन्द्रिय रूपों का (नोएमाता) है।

४ तु० बृ० १.४.१४ —'अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण....'

अथवा अकालिक हैं। सर्वास्तिवादियों के धर्म-स्वभाव और धर्म-लक्षण के भेद के समानान्तर ही प्लेटो के आदर्श रूपों और उनके अनुकारी भौतिक पदार्थों का भेद है। दोनों ही मतों में धर्म' अथवा 'आदर्श' प्रज्ञा का विषय है। किन्तु जहां सर्वास्तिवादियों में यह स्पष्ट है कि अनेक धर्मों मे केवल एक धर्म ही पर्येषणीय है और धर्मों में 'सास्रव' और 'अनास्रव' मलिन और अमलिन का भेद किया गया है, प्लेटो में रूप अथवा आकार एक परम सद्रूप के साथ संव्यवस्थित हैं और उन्हें एक अन्तर्विभक्त, सुघटित इकाई के रूप में लेना अभिप्रेत है। यद्यपि यह स्मरणीय है कि प्लेटो ने एकत्र मलिन पदार्थों के आकारों का आदर्श-जगत् में अभाव बताया है।[1] वस्तुतः प्लेटो के अनुसार मालिन्य केवल भौतिक उपाधि का धर्म होना चाहिये जिस कारण उसमें 'प्रतिबिम्बित' अनुकृत अथवा 'संविभक्त' होने मात्र से आकार अपनी आदर्श पूर्णता से च्युत होकर अपूर्ण और अनित्य बन जाते हैं। शांकर मत की एक व्याख्या-सरणि में अविद्या का कुछ-कुछ ऐसा ही स्थान है जसे प्लेटो में भौतिक पदार्थ का। अस्तु, परिणाम यह है कि उन सभी आकारों में न्यूनाधिक मात्रा में आदर्शरूपता है जिससे वे पदार्थों के नियामक और मानव बुद्धि के प्रेरक बनते हैं। इस प्रकार प्लेटो का आकार-जगत् एक मूल्य-जगत् सम्पन्न हो जाता है।

दार्शनिक परम्परा में प्लेटो का नाम इस आदर्श रूप-वाद के साथ जुड़ा हुआ है यद्यपि यह सन्दिग्ध है कि इस मत के ऊपर अनुसृत सुकराती रूप को प्लेटो ने कहां तक निबाहा। यह प्रायः निश्चित है कि उसके **मीनो**, **फाईडो**, **रिपब्लिक**, आदि संवाद पहले के हैं और **थीयेटेटस**, **पारमेनिडीज**, **फिलेबेस** आदि संवाद पीछे के, जिनमें इस मत का कठोर तार्किक परीक्षण अथवा उपेक्षा मिलती है। ऐसा लगता है कि क्रमशः प्लेटो की सौन्दर्य-प्रवणता का स्थान गणित-प्रवणता ने ले लिया और फलतः आकार 'श्रेयस' और 'सौन्दर्य'[2] सदृश आदर्श-रूप मूल्यों की अपेक्षा '**टाइमियस**' में वर्णित सृष्टि में निहित त्रिकोण आदि गणित-निरूप्य तत्त्वों के निकट हो गए। सुकरात के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान और सदाचार के सम्बन्ध को लेकर और कवि-प्रतिभा के मूल प्रश्न को लेकर प्लेटो ने दार्शनिक विचार प्रारम्भ किया था। **मीनो**, **फाइडो**, **सिम्पोजियम** और **रिपब्लिक** में ज्ञान, 'धर्म' (=न्याय) और सौन्दर्य की मीमांसाएं आकारवाद के सहारे एक समन्वित रूप धारण करती हैं जोकि मूल्य-विषयक आदर्शवाद का प्राचीनतम युक्तियुक्त प्रतिपादन है। किन्तु जैसाकि अभी कहा गया, ऐसा लगता है, कि क्रमशः प्लेटो के चिन्तन ने अधिकाधिक नव्य पिथागोरी और इलियाटिक तर्क का प्रभाव

---

१ द्र० पारमेनीदीज

२ ग्री० 'कालोन' (= चारु)

ग्रहण किया और उसके पूर्व-सिद्धान्तित 'रूप' मानवीय सृजन, व्यवस्थापन एवं प्रशासन के सन्दर्भ में आदर्श न रह कर जागतिक सृष्टि के नियामक गणित-सिद्ध रूप बन गए। कहा जाता है कि 'अकादमी' की स्थापना के सूत्रपात के रूप में प्लेटो का प्रथम व्याख्यान 'श्रेयस्' पर था किन्तु श्रोता इस बात से विस्मित थे कि व्याख्यान गणित-शास्त्र पर प्रतीत होता था।[1] इस परिवर्तन में ज्ञान-विषयक धारणा का परिवर्तन अन्तर्निहित है। यदि ज्ञान शुष्क तर्क है और गणित उसका आदर्श, तो ज्ञान के विषयभूत सत् को भी एक प्रकार से संख्या या आकार अथवा तद्वत् मानना सही होगा। किन्तु यदि ज्ञान विवेक-रूप है, यदि उसमें मूल्य-बोध की क्षमता प्रारम्भ से ही निहित है, तो उसके विषयभूत सत् में भी 'मूल्य' और 'वस्तु', 'आदर्श' और 'आकार' को पृथक् नहीं किया जा सकता। यह स्मरणीय है कि **रिपब्लिक** में गणितीय चिन्तन के ऊपर 'द्वन्द्वात्मक' विचार का स्तर है जहां सत् के आकार का बोध होता है। **थियेटेटस** में तर्क किया गया है कि ज्ञान इन्द्रिय-संवेदन एवं 'विश्वास' के ऊपर बौद्धिक अध्यवसाय है जिसका विषय तत्त्व या आकार ही हो सकता है। **थीयेटेटस, सोफिस्ट, पारमेनिडीज़** एवं **टाईमियस** में विशुद्ध ज्ञान-मीमांसा एवं सृष्टि-मीमांसा प्रधान हो जाती हैं, मूल्य-मीमांसा गौण, यद्यपि ज्ञान और सत् की मीमांसा के प्रसंग में मूल्यों के बुद्धि-गम्य अस्तित्व का अभ्युपगम एक युक्ति के रूप में निरन्तर मिलता है।

प्लेटो की श्रेयोमीमांसा का सबसे सुविचारित और व्यवस्थित प्रतिपादन **फिलेबस** में मिलता है। फिलेबस का मत था कि सुख ही श्रेयस् है, इसके विपरीत सुकरात ज्ञान को सुख से श्रेष्ठ प्रतिपादित करते हैं और अन्ततः मनुष्य के लक्ष्यभूत अर्थों को एक श्रेष्ठता के तारतम्य के अनुसार इस प्रकार परिभाषित करते हैं:—'मात्रा' ही श्रेष्ठ है, उससे घटकर वे सब पदार्थ हैं जो मात्रा के अनुकूल निर्मित होने के कारण सुन्दर और समानुपाती है, उनसे नीचे बुद्धि अथवा ज्ञान का स्थान है जो स्वयं मात्रा-सम्मित हैं,

---

१ बर्नेट, **पूर्वोक्त** पृ. २२१। अरस्तू के अनुसार प्लेटो 'रूपों' को संख्याओं से अभिन्न मानता था किन्तु 'गणित-सिद्ध रूपों' को उनसे पृथक् और इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों को दोनों से नीचे और पृथक्। संख्याओं के मूल में 'एक' और 'असीम द्वैत' या 'अणु-महत्' के तत्त्व हैं। यह 'अणु-महत्' ही मूल प्रकृति है जिसके गर्भ से 'एक' के सहारे संख्याओं का जन्म होता है। इस 'अणु-महत्' को असत् भी कहा गया है (**पूर्वोक्त**, पृ० ३३०), 'अणुमहत्' के स्वरूप पर द्र० टेलर, **प्लेटो** (पृ० ५१०)। प्लेटो ने पिथागोरी सीमा (**पेरास**) के स्थान पर 'एक' और **अपेइरोन** (असीम) के स्थान पर 'अणु-महत्' का प्रतिपादन किया और साथ ही सुकराती 'रूपों' को संख्याओं से अभिन्न किन्तु गणित-सिद्ध रूपों और ऐन्द्रिय पदार्थों से पृथक् निर्धारित किया। इस प्रकार 'संख्या' और 'रूप' दोनों ही रूपान्तरित हो गये।

और नीचे कलाओं, विद्याओं और सच्चे मतों या विश्वासों का स्थान है, सबसे नीचे वे सुख हैं जिनकी उपलब्धि कलाओं और विद्याओं के अभ्यास में होती है। यह स्मरणीय है कि सामान्य यूनानी अभिमत के अनुसार इस दार्शनिक चिन्तन में असत् अथवा मेश्रोन् (= मिथिक कँग्रोस) का अर्थ 'अरूप' अथवा 'अपरिच्छिन्न' है एव सत् (तो ओन=मिथिक 'कॉस्मोस') का इससे विपरीत। 'अरूप' में 'सीमा' डालने से ही सृष्टि होती है, और यह नियामक 'सीमा' अथवा 'मात्रा' ही यहां प्रकृष्टतम अर्थ स्वीकार किया गया है। 'मात्रा' या 'प्रमाण' द्वारा ही 'लक्षण' (= परिच्छिन्न सामान्य रूप) सम्पन्न होते हैं, एवं उनकी अनुरूपता से ही अर्थों में निर्दोषता (अन्यूनानतिरिक्तता), बुद्धिग्राह्यता और श्लाध्यता उत्पन्न होती है। 'प्रमाण' और 'प्रमाण-संमित' अर्थ ये दोनों ही कोटियां विषय-कोटियां हैं। इनके नीचे स्थान हैं ज्ञान, ज्ञान प्रयुक्त क्रिया एवं अविसंवादी ज्ञानाभास के। सुख में केवल वह विशुद्ध सात्विक सुख ही अर्थ रूप से ग्रहण किया गया है जो इच्छा-पूर्ति-रूप अथवा तृष्णा-मूलक न होकर कला एवं विद्या के अभ्यास का सत्वोद्रेक-रूप सहज सहचर है।

मूल्य-विषयक प्लेटो के सिद्धान्त की प्रमुख धारणाएं इस प्रकार सिद्ध होती हैं—(१) मूल्य बुद्धिग्राह्य अर्थ हैं, न कि इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ (२) मूल्य और 'सत्' का मौलिक अभेद (३) मूल्य निरपेक्ष, नित्य, स्वरूपसत् विषय हैं, मानस-धर्म अथवा मानस-धर्म-सापेक्ष नहीं (४) ज्ञान का परायण ज्ञेय और ज्ञेय में श्रेष्ठता का समर्पक आकार अथवा 'प्रमाण' (५) भौतिक और सामाजिक स्तर पर मूल्य का द्योतक वस्तु की नियतरूपता एवं उसके घटकों का परस्पर अविरोध। प्लेटो का दर्शन मूल्यों की चित्तविप्रयुक्तता (**ओब्जेक्टिविज्म**) और बुद्धिग्राह्यता (**रेश्नलिज्म**) के सिद्धान्तों का प्राचीनतम और प्रबलतम उदाहरण है, जिसका प्रभाव समूची पश्चिमी दार्शनिक परम्परा पर निरन्तर पड़ता रहा है।

अरस्तू ने प्लेटो के आकृतिवाद में आकृतियों (एइदॉस) की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का खण्डन किया है। अरस्तू के अनुसार 'हाइलोस' (=भौतिक तत्त्व) और 'एइदॉस' (=आकृति, रूप) के संयोग से वस्तुओं की निष्पत्ति होती है। 'हाइलॉस' का मुख्य अर्थ 'उपादान' है जोकि विभिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न होता है। अरस्तू सत्कार्यवाद के पक्षपाती थे और उनके अनुसार उपादान-कारण में कार्य की योग्यता अथवा शक्ति स्वीकार करना आवश्यक है। चार महाभूत समस्त भौतिक जगत् के मूल उपादान हैं और उनके पीछे सांख्यों की मूल प्रकृति के समान एक अविभक्त उपादान है जोकि परस्पर-विरोधी गुणों के द्वन्द्वों से विशेषित होकर महाभूतों में परिणत होता है। 'हाईलॉस' और 'एइदॉस' का भेद 'डाइनामिस' (=विक्रियाश्रय) और 'एनर्ग्रेइया' (=क्रिया, कारित्र) का भेद है। उपादान स्वतः नीरूप, अव्यक्त

विकार्य है, आकृति वस्तु-स्वरूप, कारित्र लक्षण (लोगोस), तथ्य है। यदि इनमें पहला विशेष और उपादान-हेतु है, तो दूसरा सामान्य और फलात्मक या चरम-हेतु। अरस्तू के अनुसार परिणाम की प्रक्रिया में वस्तु का चरम रूप, जिसे परिणाम का लक्ष्य कह सकते हैं, उसका 'चरम' कारण' होता है क्योंकि वही वस्तु का स्वरूप है और उसकी अभिव्यक्ति ही परिणाम-प्रक्रिया को सार्थकता प्रदान कर सकती है। अरस्तू वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक मानते हैं, जहां सामान्य वस्तु को स्वरूप प्रदान करता है, विशेष उसे कालिक-जगत् में व्यक्तित्व देता है। अरस्तू के अनुसार प्लेटो इन सामान्यों को स्वतन्त्र अस्तित्व देकर यह भूल जाते हैं कि वे भौतिक उपादानों पर आश्रित व्यक्ति-पदार्थों से उद्‌गृहीत उनके रूप (मार्फे) एवं संरचनाएं हैं, और अतएव बुद्धिनिर्माण पदार्थ हैं, न कि स्वतन्त्र वास्तविक पदार्थ। यह न केवल प्रत्यक्ष-ग्राह्य गुणों से उद्‌गृहीत सामान्यों के लिए सत्य है अपितु उन गणित-सिद्ध सामान्यों के लिए भी सत्य है जिन्हें प्लेटो विशेषरूप से स्वतन्त्र सत् मानते हैं। अरस्तू में ये गणित के पदार्थ 'बुद्धिगम्य भौतिक' पदार्थ बन जाते हैं।

यहां तक प्लेटो का विरोध करने पर भी अरस्तू शुद्ध एवं स्वतन्त्र 'एइदोस' की पारमार्थिकता को स्वीकार करते हैं। सामान्य-विशेषात्मक अनित्य-भौतिक जगत् के ऊपर उसके प्रेरक और चरम-कारण के रूप में ईश्वर का नित्यभाव है। ईश्वर को 'ज्ञान का ज्ञान' अथवा 'रूप का रूप' कहा जा सकता है।[1] ईश्वर जगत् के निमित्त कारण के रूप में प्रेरक नहीं हैं, वे केवल चरम-कारण के रूप में प्रेरक हैं। जिस प्रकार इष्ट वस्तु अथवा लक्ष्य प्रेरक होता है, उसी प्रकार ईश्वर स्वयं अपरिवर्तित रह कर समस्त परिवर्तन के पारमार्थिक कारण हैं। दूसरे ध्रुव पर अव्यक्त भूत विश्व-प्रक्रिया का मूल उपादान कारण है।

अव्यक्त में सदसत् की द्वन्द्वात्मक सम्भावना रहने के कारण उसे सत् अथवा असत् नहीं कहा जा सकता। ईश्वर शुद्ध और पूर्ण सत् हैं। दोनों के अन्तराल में विश्व-प्रक्रिया में सत् और असत् का वैचित्र्य प्राप्त होता है। भौतिक पदार्थ अपने लक्ष्यभूत स्वरूप की अभिव्यक्ति की ओर उद्दृष्ट होते हैं, अपनी शक्ति के अनुसार 'अमृतत्व के भागी' बनना चाहते हैं। उपादान के दोष अथवा संयोग से उनकी विकलता ही असत् अथवा अनर्थ है। अनर्थ कोई पृथक् या स्वतन्त्र तत्त्व न होते हुए भी एक दृष्टि से प्रकृति (हाइलॉस) को उसका मूल (काकोपोइयोन्) कहा जा सकता है।

अरस्तू में अनित्य अव्यक्त से नित्य व्यक्त तक पदार्थों की एक परावर

---

१ ईश्वर में ज्ञान और उसका विषय अभिन्न है (द्र० रौस, सं० अरिस्टोटल, सेलेक्शन्स, पृ० ११६)

श्रेणी उपलब्ध होती है जिसमें सबसे ऊपर अवस्थित दिव्य परमार्थ का आकर्षण शेष में क्रिया का आधान करता है। इस प्रकार एक दृष्टि से अरस्तू में भी प्लेटो के समान सत् में वस्तु और मूल्य का अविभाग अक्षत रहता है। उत्तमार्थ अथवा परमार्थ रूप ईश्वर के अप्रत्याख्येय सत्य को सिद्ध करने के लिए अरस्तू ने यह उक्ति ही दी है कि प्रशस्त पदार्थों में तारतम्य दीखने से एक निःश्रेयस अथवा श्रेष्ठ अर्थ का युक्ति संगत आक्षेप किया जा सकता है। किन्तु अरस्तू ने इस बात पर भी जोर दिया है कि मानव-निःश्रेयस अथवा पुरुषार्थ की और पदार्थमात्र अथवा सत् की निर्दोषता अथवा पूर्णता एक ही नहीं है। अतः प्रकारान्तर से अरस्तू में सत् के वस्तु-पक्ष और पुरुषार्थ-पक्ष का व्यावहारिक स्तर पर विवेक मिलता है और इसीलिए अरस्तू में आचार-शास्त्र की तत्त्वमीमांसा से पृथक् कल्पना मिल पाती है। विश्व का श्रेयस् उसकी फलाभिमुख व्यवस्था और चरम-फल (ईश्वर) में संगृहीत है। इस दृष्टि में श्रेयस् नानारूप है और उसकी एक ही मीमांसा सम्भव नहीं है।[1]

अरस्तू के आचार-शास्त्र का मुख्य प्रश्न है कि मनुष्य का श्रेयस् क्या है? 'प्रत्येक कला और अनुसन्धान, कर्म और निर्णय किसी अर्थ को लक्ष्य बनाते हैं, अतएव अर्थ का यह लक्षण—जिसको सब अपना लक्ष्य बनाएं—समीचीन है''।[2] मानव का श्रेयस् या पुरुषार्थ मानवीय प्रवृत्तियों का वास्तविक लक्ष्य है। किसी अभीष्ट के मानवीय हित अथवा ठीक-ठीक पुरुषार्थ बनने के लिए दो लक्षणों की उसमें विशेषरूप से आवश्यकता है। एक तो उसका मूल्य स्वरूपगत होना चाहिये, उसकी रमणीयता उसके अपने गुण के कारण होनी चाहिये। दूसरे, उसमें यह क्षमता होनी चाहिये कि वह स्वत: जीवन को सार्थक बना सके। मानवीय मूल्य के लिये सहज और स्वत: पर्याप्त होना आवश्यक है। इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि सुख अथवा बहुमान अथवा समृद्धि मानव के परम लक्ष्य नहीं हो सकते। सुख लक्ष्य न होकर सम्यक् क्रिया अथवा अनुसंधान का सहचर होता है, बहुमान दूसरों की अपेक्षा रखता है, धन किसी अन्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है। अरस्तू 'यूदाइमोनिया' (='सुदैव', देव-रक्षितता) को मानव श्रेयस् कहता है। सामान्य ग्रीक प्रयोग में इस शब्द का अर्थ 'सौभाग्य' होता था और आजकल का प्रायिक अनुवाद 'सुख' है किन्तु अरस्तू का अभिप्राय स्वस्ति या 'सुस्थिति' से प्रतीत होता है। यह 'सुस्थिति' एक निष्क्रिय अथवा स्थिर अवस्था न होकर क्रियात्मक ('एनर्ग्रेइया') अभिप्रेत है। क्रिया मनुष्य

---

१ द्र० रौस, सैलेक्शन्स, पृ० २२२-२४

२ एथिक्स, पृ० १

के अपने विशिष्ट धर्म अर्थात् बुद्धि की होनी चाहिए और उसके उत्कर्ष के अनुसार होनी चाहिए। सुस्थिति की चिरस्थायिता भी उसकी एक अपेक्षित विशेषता बताई गई है। संक्षेप में, उत्कृष्ट मानसिक क्रिया में ही मनुष्य का श्रेयस् है। यहां अरस्तू ने मनुष्य के लिए श्रेयस् और उसका सर्वोत्कृष्ट श्रेयस् अथवा निःश्रेयस इन दोनों में भेद न कर अस्पष्टता और असंगति को जन्म दिया है।[1] किन्तु साथ ही उन्होंने मानव-हित और चारित्रिक हित को स्पष्ट ही अलग किया है। सदाचार या नैतिक गुण केवल ज्ञान पर आधारित न होकर उसके अतिरिक्त चारित्रिक अभ्यास की अपेक्षा रखते हैं और 'मध्यम मार्ग' का अवलम्बन करते हैं। शील के उत्कर्ष से अरस्तू ने ज्ञान का उत्कर्ष अधिक माना है और मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट हित उनके लिए तत्वदर्शन है। दिव्य और परम तत्त्व के इस निरन्तर चिन्तन और साक्षात्कार को 'ईश्वर का ध्यान और उपासना' भी कहा गया है[2]

अरस्तू के दर्शन में मूल्य, मानव-मूल्य और नैतिक-मूल्य में विवेक मिलता है। मूल्य अथवा अर्थ स्वतन्त्र सत् है, उसका उत्कर्ष उसकी आत्म-विश्रान्तता, निर्दोषता, नित्यता और ऊर्जा में है, उसका मूल्यत्व या अर्थत्व उसके विश्व-प्रक्रिया के लिए परम-लक्ष्य (टीलौस) अथवा परमाकर्षण-पद होने में है। यह परमार्थ, अमृत-पद अथवा देव-पद 'कारक-ज्ञान' (नूस पोएतिकॉस) का नित्य विषय है। मनुष्य के अन्दर 'कारक-ज्ञान' के ही अमर तत्त्व होने के कारण इस परमार्थ का दर्शन (थेयोरिया) उसके लिए सम्भव है और प्लेटो एवं अरस्तू दोनों ही इस बौद्धिक परमार्थ-दर्शन को चरम-मानव पुरुषार्थ मानते हैं। किन्तु प्लेटो मनुष्य की आत्मा को अमर एवं उसके जन्मान्तर को मानता था अतः उसके लिए परमार्थ और पुरुषार्थ, मूल्य और मानव-मूल्य का अन्तर अनावश्यक था। मनुष्य धरा पर च्युत एक अमर आत्मा है जिसका अपना परमधाम 'सत्य-लोक' है जहां अमृत-दर्शन ही अमृत-जीवन है। अरस्तू मनुष्य को पार्थिव जीव-परम्परा में, भले ही उसके अग्रणी के रूप में, देखते हैं। उनके मत में आत्मा की अमरता सन्दिग्ध है, जन्मान्तर निरर्थक। मनुष्य की 'कार्य बुद्धि' (नूस पाथेतिकोस) में ज्ञान की निष्पत्ति कारक-ज्ञान की ऊर्जा से होती है, और अतः मनुष्य सत् के ज्ञान का अधिकारी बनता है, किन्तु कारक-ज्ञान की कोई व्यक्ति-सत्ता नहीं है, वह प्रकाशमय, नित्य और 'महत्' सत्ता है। मानव तत्त्व-दर्शन के लिए वह प्रकाश के समान है किन्तु मानव अस्तित्व केवल प्रकाशमय अथवा केवल प्रकाशार्थी नहीं है। अतएव अरस्तू के लिए परमार्थ और पुरुषार्थ का भेद आवश्यक हो जाता है।

---

१ मूर, फिलोसोफिकल स्टडीज, पृ० ३२४-२५।

२ रॉस, एरिस्टॉटल, पृ० २३४।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि पुरुषार्थ और परम पुरुषार्थ में स्पष्ट भेद होते हुए भी अरस्तू ने इस भेद को महत्त्व नहीं दिया है, बल्कि उनकी मीमांसा में ऐसा लगता है मानों वे समझते हों कि जिस अर्थ में पुरुषार्थ का लक्षण पूर्णतया घटता हो वह परम पुरुषार्थ ही होगा। इस तरह का मत प्लेटो में तो संगत है किन्तु अरस्तू में संस्कार-वश ही समझा जा सकता है। नैतिक मूल्यों का पृथक् विवेचन अरस्तू की विशेषता है किन्तु वे इस प्रसंग में चरित्र-निर्माण एवं शील-गुणों का मुख्यतः विवेचन करते हैं।

ज्ञान और गुण के सुकराती समीकरण के कारण प्लेटो ने ज्ञान-मीमांसा से ही गुण-मीमांसा को कृतार्थ-सा मान लिया था और नैतिक, सामाजिक एवं सौन्दर्यात्मक गुणों को एक ही परम सद्गुण के विशेष स्थापित कर दिया था। अरस्तू ने इन गुणों की अपने-अपने पृथक् सन्दर्भ में विवेचना की है और उनके विशेष लक्षण प्रतिपादित किए हैं। सामान्यतः 'गुण' मानव-व्यापार को विशेषित कर सकने वाले उत्कर्ष हैं। नैतिक गुण एक प्रकार का शील अथवा निसर्ग (अर्जित स्वभाव) है जो आचार का प्रायिक नियामक होता है। किसी आचरण के नैतिक क्षेत्र में प्रवेशार्ह होने के लिए, किसी काम के अच्छे या बुरे होने के लिए, यह आवश्यक है कि वह कार्य बोधपूर्वक हो, वरणपूर्वक हो, स्वगत विशेषता के लिए ही चुना गया हो, और स्थिर स्वभाव का परिणाम हो। इस विवेचन में अरस्तू ने पहली बार स्पष्टता से नैतिक क्षेत्र में संकल्प शक्ति का महत्त्व देखा और यह समझा कि जानने से ही मनुष्य अनुरूपकारी नहीं हो जाता। सामान्य जीवन का यह प्रसिद्ध द्वन्द्व है 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। सहज मानव-प्रवृत्तियों के उचित नियमन द्वारा, जो शिक्षा और अभ्यास से सम्पन्न होता है, चरित्र का निर्माण होता है। चरित्र अथवा शील सदाचार की आधार-पीठिका की तरह कार्य करता है। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियां और भाव न स्वतः अच्छे हैं, न बुरे। उनमें बुद्धि-गृहीत नियम के आरोप से ही अच्छाई उत्पन्न होती है। यह नियम मध्यम मार्ग का अवलम्बन करता है और दोनों अन्तों अथवा अतियों से निवारण कर प्रवृत्ति को मध्य में नियत करता है। इस प्रकार के विवेक के अनुसरण से ही प्रवृत्ति में अच्छाई और बुराई का भेद व्यवस्थित होता है। चरित्र की घटक प्रवृत्तियों और भावों का अरस्तू ने विशेष कुशलता और विस्तार से विवेचन किया है जिसमें तत्कालीन यूनानी समाज की स्वीकृत मान्यताएं बारीक दार्शनिक तूलिका से अंकित होकर सजीव रूप में प्रत्युपस्थित हो जाती हैं।

गुण के विशद विवेचन के बावजूद भी अरस्तू ने नैतिक कर्तव्य अथवा ऋत के स्वरूप या महत्त्व का विशेष विचार नहीं किया है। और न उन्होंने

अपने आदर्श जीवन में काम और कला के गवेष्य सौन्दर्य को कोई स्थान दिया है। यह स्मरणीय है कि यद्यपि प्लेटो ने प्रेमास्पद सौन्दर्य अथवा कमनीयता को अपने आदर्श-जगत् में स्थान दिया, उन्होंने भी कवियों को झूठा और कलाकारों को नकलची घोषित किया। वास्तव में यूनानी विचारधारा अत्यधिक ज्ञान-प्रधान थी और इसलिए उनकी मूल्य-मीमांसा भी अत्यधिक बुद्धिवादी थी। उसमें संकल्प-शक्ति, पुरुषकार, कर्तव्य, ऋण-मोक्ष आदि विषयों का अर्थात् मनुष्य की इच्छाशक्ति और वासनात्मक जीवन का गहरा प्रतिबेध नहीं उपलब्ध होता।

प्लेटो ने समाज को व्यक्ति का विराट् रूप बताया था और अरस्तू ने समाज को व्यक्ति से स्वरूपतः पूर्ववर्ती निर्धारित किया। उनके लिए व्यक्ति का हित समाज में और समाज के द्वारा ही संभव है और अतएव दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। प्लेटो और अरस्तू ने जिस सामाजिक संदर्भ में अपने नैतिक और मानव मूल्य निर्धारित किये थे वह सन्दर्भ ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम चरण में नगर-राज्यों के अभिभव के साथ बदलने लगा था। पहले मक़दूनिया और फिर रोम के उदय से एक नई प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न हुई जिसमें व्यक्ति एक जीवन-स्पन्दित किंतु छोटी इकाई का अंग होने के स्थान पर एक विराट् विश्वग्रासी साम्राज्य का अंग बन गया। पुराने नगर-राज्य में व्यक्ति का जीवन सब ओर से समाज के द्वारा छेका हुआ था, उसके लिए नागरिक-राजनीतिक जीवन में भाग ग्रहण करना स्वाभाविक और अनिवार्य था और उसी परिवेश में वह अपने जीवन में सार्थकता का अनुभव करता था। नवीन राज्य-व्यवस्था में राज्य-संचालन कुछ ही लोगों का कार्य रह गया और राज्य के विस्तृत होने के कारण राजनीतिक जीवन अन्योन्याभिमुख समाज की परिधि से बाहर चला गया। निजी जीवन और सार्वजनिक जीवन का अन्तर एक बड़ी खाई बन गया एवं नागरिक के लिए राज्य में भाग ग्रहण से जीवन में सार्थकता का सहज आभास लुप्त हो गया।[1] विचारशील व्यक्ति निजी जीवन में, भौतिक अथवा आध्यात्मिक सार्थकता के सूत्र खोजने और संजोने लगे। इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि एपिक्यूरस के अनुयायी एवं स्टोइक थे। यद्यपि एन्टिस्थनीज़ एवं एरिस्टिप्पस ने सिनिक एवं सिरेनेइक सम्प्रदायों की स्थापना सुकराती आदर्श की विभिन्न व्याख्याओं के रूप में पहले ही कर डाली थी तथापि जीनो और एपिक्यूरस ने इनका नवीन रूपान्तर ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के अन्त में प्रस्तुत किया।

एपिक्यूरस के अनुसार सुखी जीवन ही उत्तम जीवन है किन्तु सुख की खोज शांति अथवा स्वास्थ्य को खो कर नहीं करनी चाहिये। सुखी होने

१ राजनीतिक भाग-ग्रहण और सार्थकता की प्रतीति पर द्र० हैना आर्न्ट, बिटवीन पास्ट एण्ड फ्यूचर

के लिए मनुष्य को विमृश्यकारी और नीतिकोविद होना चाहिये। नाना सुखों में मौलिक गुण-भेद न होते हुए भी उनमें मात्रा-भेद होता है और उनकी प्राप्ति में न्यूनाधिक मात्रा में कष्ट सहना पड़ता है। यद्यपि सुखी होना ही मनुष्य का लक्ष्य है और सुखानुभूति के द्वारा ही मनुष्य सभी कर्मों और भोगों को आंकता है तथापि अल्पतम कष्ट के सहारे अधिकतम सुख को प्राप्त करने के लिए मनुष्य की सहज प्रवृत्ति पर्याप्त नहीं है। सुखी जीवन के लिए मनुष्य को जीने की कला आनी चाहिए और उसके दो मुख्य अंग हैं—मतिमत्ता और दर्शन का परिशीलन। मतिमान् मनुष्य सुखी जीवन के लिए संयम और सादगी के महत्त्व को समझता है और इस रहस्य को पहिचानता है कि शारीरिक और मानसिक आरोग्य, शान्ति, धैर्य और अनुपायास के बिना सुखी जीवन की आशा वृथा है। राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन से दूर और अलग-थलग शान्ति से रहना भी नीति के अनुकूल है। दर्शन का अध्ययन मनुष्य को जीवन और जगत् के वास्तविक स्वभाव से परिचित कराता है और उसे भ्रान्तिमूलक भयों से मुक्त करता है। इन भयों में देवताओं, मृत्यु और परलोक का भय मुख्य है।

एपिक्यूरस का दर्शन सुखवादी होते हुए भी सुखासक्ति का दर्शन नहीं है क्योंकि असुखी जीवन और तात्कालिक सुख-संवेदन का अन्तर इस दृष्टि में मतिमत्ता के साथ विचारा गया है। डेमोक्रिटस के परमाणुवाद पर आधारित होने के कारण वह मूलतः भौतिकवादी है और किसी प्रकार के पारलौकिक अथवा अमर जीवन में विश्वास नहीं करता। प्लेटो और अरस्तू के विपरीत इस विचारधारा में दर्शन जीवन का परमार्थ न होकर उसको सुखी बनाने का एक साधन है और सार्वजनिक जीवन एक झंझट है जिससे मनुष्य को बचना चाहिए।

स्टोइक सम्प्रदाय के अनुसार जीवन की चरम सार्थकता उसकी सुखिता में न होकर उसकी साधुता में है। सदाचार का मूल मन्त्र सहजता है। समस्त प्रकृति में ऋत के समान एक आन्तरिक नियम व्याप्त है जिसे एक विश्व-व्यापी दिव्य सत्ता की इच्छा भी माना जा सकता है। इस प्राकृतिक नियम के अनुरूप सादा, संयत, शान्त जीवन ही आदर्श जीवन है, जो कि चीनी ताओवाद की याद दिलाता है। समाज भी स्वरूपतः प्राकृतिक नियम पर आधारित एक विश्व समाज है। व्यक्ति इस प्रकार एक विश्वनागरिक बन जाता है और अपनी स्थिति के अनुरूप कर्तव्य-पालन उसका धर्म हो जाता है। इस सन्दर्भ में 'प्रकृति', 'प्राकृतिक-नियम', सहजता आदि सहज प्रवृत्तियों के द्योतक न होकर बुद्धिगम्य ज्ञानमूलक व्यवस्था और उसके स्वीकार के द्योतक हैं। विश्व एक आन्तरिक नियति से नियत है और मनुष्य की स्वतन्त्रता उसके ज्ञानमूलक स्वीकार अथवा अस्वीकार तक ही सीमित है। बौद्धिक ज्ञान के सहारे सहज प्रवृत्तियों के वशीकार के द्वारा मनुष्य

नैतिक जीवन में कृतार्थ होता है और अपने अन्दर ही वास्तविक सुख पाता है।

एपिक्यूरस और स्टोइक प्रस्थान हैलेनिस्टिक और रोमन युग की विचारधारा के दो रूप हैं। एक ओर व्यक्ति अपने निजी जीवन में सुखी होकर कृतार्थ होना चाहता था, दूसरी ओर वह विश्व-नागरिक बनना चाहता था। इनमें पहले की सफलता एक भौतिकवादी दार्शनिक समझ पर बहुत अधिक आधारित थी और उसमें एक प्रकार का पलायनवाद स्पष्ट था। दूसरे में (स्टोइक मत में) बुद्धिवाद एक प्रकार की श्रद्धा के निकट आ जाता है जो सारी प्रकृति में एक दिव्य नियम को व्याप्त मानती है। साथ ही, स्टोइक मत में एक विश्व मानववाद है जो मनुष्यों को उनके नाना समाजों को पृथक्-पृथक् और संकीर्ण व्यवस्थाओं के परे एक बुद्धिगम्य विश्व-नियम के सौभ्रात्र में सम्बन्धित देखता है। स्टोइक मत को रोम की राजकीय निष्ठा के रूप में देखा जा सकता है जोकि नाना जातियों और समाजों को एक व्यापक न्याय-व्यवस्था में बांधने के प्रयास में सहायक थी। किन्तु ये दोनों ही धाराएं बुद्धिवादी थीं और अब पुराने नगर-जीवन के अस्त-व्यस्त होने पर और उसके परम्परागत रूढ़ धर्म के अशक्त होने पर बुद्धिवाद के सहारे लोगों का सन्तुष्ट होना सम्भव नहीं था। नाना क्षुद्र धार्मिक सम्प्रदाय बहुतायत से प्रचलित होकर साधारण जनता को आश्वासन देने लगे थे किन्तु उन्हें स्टोइक शासक वर्ग और बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त न होता था। ईसाई धर्म के क्रमशः विस्तार और अन्ततः साम्राज्य के द्वारा स्वीकार ने दार्शनिक परम्परा को एक सर्वथा नया मोड़ दिया।

प्राचीन ग्रीक और रोमन मूल्यान्वेषण और मूल्य विचिन्तन बौद्धिकता और सामाजिकता की परिधि के भीतर सीमित है। उसमें मानव मन के उस इच्छा और अभिसंस्कार-पक्ष की उपेक्षा है जो बौद्धिक ज्ञानमात्र के अंकुश से अदम्य है और मानव-हृदय की अमर जीवन के लिए चिरन्तन आकांक्षा को तृप्त करने का कोई साधन नहीं है। अनादि वासना अथवा जन्मसिद्ध पाप के आवरण से मानव-मन को मुक्त कर उसे विवेक के अनुरूप कर्म की स्वतन्त्रता प्रदान करने में शुष्क बौद्धिक ज्ञान समर्थ नहीं है और न वह सूक्ष्मवेदी हृदय को जीवन के दुःख प्रवाह में शान्ति-द्वीप पहुँचाने में ही समर्थ है। प्राकृतिक और सामाजिक जीवन मृत्यु के दंश से डसे हुए हैं और उनका अतिक्रमण करने की मनुष्य में एक दुर्दम प्रेरणा, एक दुर्दम लोक-तितीर्षा है जोकि इतिहास के प्रारम्भ से ही धर्म के रूप में व्यक्त होती रही है। ग्रीक और रोमन विचारक धर्म को प्रायः सामाजिक उत्सव-परम्परा, राजकीय कर्तव्य एवं अन्ध विश्वास भर मानते थे। यह सही है कि सुकरात का चरित्र एक जीवन्मुक्त सन्त का-सा प्रतीत होता है और उनके सिद्धान्त में भी आत्मा की अमरता का विशेष स्थान है किन्तु उनके शिष्यों ने उनसे

अपने नैतिक सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल जीवन का आदर्श एवं ज्ञान-विषयक दार्शनिक सिद्धान्त ही सीखे, उनके जीवन की आध्यात्मिक धारा में अवगाहन नहीं किया और न उन्होंने सुकरात के समान प्रचलित धर्म के विरोध में खड़े होकर राजदण्ड से अकाल मृत्यु का आह्वान ही किया। यह साहस फिर से ईसा के शिष्यों ने किया। तीन शताब्दियों तक उन्होंने रोमन साम्राज्य में अवज्ञा एवं उत्पीड़न सहा और प्राणों की बलि देकर अपनी निष्ठा की शहादत की।

ईसाई धर्म लोक-जीवन की तुच्छता और अमर जीवन की सम्भावना का सार्वभौमिक सन्देश लेकर आया। उसका आधार हृदय की श्रद्धा थी, न कि बौद्धिक तर्क, और वह समाज में अब तक उपेक्षित दरिद्र, पीड़ित और दास वर्ग की ओर उद्दिष्ट था। जहां अरस्तू ने दासता को प्रकृति-सिद्ध माना, ईसाईयों ने सबको बराबर मानकर अपनाया। बौद्धिक ज्ञान और उससे निर्धारित नैतिकता के स्थान पर ईसाई धर्म ने ईश्वर-प्रोक्त सन्देश में श्रद्धा के आधार पर लौकिक भोगों के त्याग, ईश्वर-भक्ति और विश्व-प्रेम को व्यक्ति और समाज के लिए प्रधान मूल्यों के रूप में प्रस्तुत किया।

मनुष्य सहज रूप से सुख चाहता है; किसी भी विषय को अपनी प्रवृत्ति का लक्ष्य बनाने में वह उस विषय की प्राप्ति से सुख की आशा करता है। दुख से मुक्त, नित्य और निरतिशय सुख की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है और इस पुरुषार्थ की सिद्धि भगवद्रूप परमार्थ के दर्शन से ही संभव है। मनुष्य पापी और प्राकृत प्राणी है और उसके लिए स्वयं अपने उद्योग से इस लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। श्रद्धा, दीक्षा, सदाचार, भक्ति और ईश्वरानुग्रह के द्वारा ही मनुष्य मृत्यु के अनन्तर ईश्वर का दर्शन प्राप्त कर सकता है।

इस दृष्टि में अर्थ अथवा मूल्य के परस्पर जुड़े हुए दो अर्थ हो जाते हैं - सत्रूप अर्थ अथवा परमार्थ और इष्टरूप अर्थ अथवा पुरुषार्थ। परमार्थ ईश्वररूप है जिसमें वास्तविकता और अच्छाई अपने चरम उत्कर्ष में नित्य विद्यमान रहते हैं (**एन्स रेअलिस्सिमुम और सम्मुम बोनुम**)। पुरुषार्थ सुखरूप है और सुख मनुष्य की सहज प्रवृत्ति या सम्भावना की चरितार्थता का सहचर है।[1] मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के विषय को समझने में भ्रान्ति कर सकता है और अपने पुरुषकार को मिथ्या प्रयुक्त कर सकता है, अपनी स्वच्छन्दता से असत्संकल्प कर सकता है। फलतः उसकी संकल्पित इच्छा के विषय उसे सदा कृतार्थता की ओर नहीं ले जाते। उसके हृदय में ईश्वर-प्रदत्त विवेक है जिसके सहारे सत् और असत् को छांटकर वह नैतिक

---

१ ऐक्विनास सुख के लिए 'बीऐटिटूडो' (**beatitudo**) शब्द का प्रयोग करते हैं, जो अरस्तू के 'यूडाइमोनिया' से तुलनीय है—तु० कौपल्सटन, **ऐक्विनास**, पृ० १८०।

जीवन जी सकता है। किन्तु विवेक के साथ ही उसमें इच्छा-शक्ति की स्वच्छन्दता है जो विवेक का सदा अथवा पूरा अनुसरण नहीं करती। यदि इच्छा पूरी तरह से विवेक की अनुचर बन भी जाय तो भी मनुष्य केवल प्राकृतिक सुख तक ही सीमित रह जाएगा और अपनी अनन्त और अमर जीवन की अभीप्सा की पूर्ति से वंचित रह जाएगा। मानव ज्ञान के परे लोकोत्तर दिव्य सत्य की ओर मनुष्य की इच्छा और हृदय का झुकाव भक्ति है और ईश्वर-प्रोक्त सन्देश में विश्वास श्रद्धा। श्रद्धा और भक्ति ही ईश्वरानुग्रह का अधिकार अर्जित करते हैं और उससे मनुष्य को दिव्य-दर्शन का सुख प्राप्त होता है। (ईश्वरानुग्रह से मनुष्य में अतिमानवीय ज्ञान की शक्ति आरोपित हो जाती है)।

इस प्रकार न केवल मूल्य के दो रूप हैं—ईश्वर रूप पारमार्थिक सत् और सुखात्मक मानव हित–मानव हित के भी दो रूप हैं—प्राकृत और अप्राकृत। प्राकृत मानव-हित बुद्धि-संगत जीवन की नैतिकता और दार्शनिकता के द्वारा इस जीवन में प्राप्य सुख में चरितार्थ होता है, अप्राकृत मानव-हित स्वर्ग में। ईश्वर अपने आप में प्रशस्ततम हैं और उन्होंने मनुष्य की सृष्टि इस प्रकार की है कि उसके हृदय की प्यास ईश्वर-दर्शन से ही बुझ सकती है किन्तु साथ ही मनुष्य की प्राकृत बुद्धि ईश्वर का अनुमान ही कर सकती है, उसका स्वरूप ज्ञान अथवा साक्षात्कार नहीं। जैसे 'अभिनद्धाक्ष' पुरुष पूछ-पूछ कर गन्धार की ओर प्रयाण करता है, ऐसे ही मसीहाई सन्देश पर विश्वास रखकर मनुष्य अपने हृदय की वास्तविक शांति-सुख की दिशा में पग धरता है। प्रकृति-राज्य में विसृष्ट होने पर भी स्वर्गच्युत ईश्वर-पुत्र होने के कारण मनुष्य ईश्वर में ही अपनी सार्थकता पा सकता है।

ईश्वर के परम सदर्थ होने पर अनर्थ की सत्ता कैसे सम्भव है, यह प्रश्न स्वाभाविक है। प्लेटो एवं मनि के अनुसार सत् के विपरीत एक असदर्थ भी है जिसे भूत अथवा काल कहा जा सकता है। किन्तु इस मत में भौतिक सत्ता शाश्वत और अनादि हो जाती है। इस प्रकार का द्वैतवाद ईसाइयों को स्वीकार्य नहीं था।[1] उनके अनुसार भौतिक सत्ता और समस्त प्रकृति ईश्वर-सृष्ट है। अतएव उसमें स्वतः अनर्थ नहीं हो सकता। सन्त अगस्तिन् ने प्लोटिनस का अनुसरण करते हुए अनर्थ अभावात्मक बताया। सृष्टि सीमित स्वभावों की होती है और यही अनर्थ को आपेक्षिक एवं अभावात्मक विषयता प्रदान करती है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति अल्पज्ञता और स्वच्छदता के कारण ईश्वर के विमुख होकर पाप में पड़ती है। स्वच्छन्दता मानव नियति के लिए आवश्यक है क्योंकि उसके बिना न नैतिक जीवन

१. यह स्मरणीय है कि सन्त अगस्तिन् स्वयं प्रारम्भ में मनि के अनुयायियों में थे, द्र० कनफैशन्स, तृतीय अध्याय।

सम्भव है न प्रेम। पाप में पड़कर मनुष्य का पतन अवश्य होता है किन्तु यही ईश्वर की अहैतुक कृपा का निमित्त बनता है और मनुष्य अपने आदिम अलौकिक जीवन को खोकर अन्तिम लोकोत्तर जीवन का सौभाग्य पाता है। सन्त् टॉमस ने अरस्तू का अनुसरण कर प्रकृति को ईश्वर के शाश्वत नियम के प्रतिबिम्बभूत 'सहज धर्म' को विधारक माना है। बौद्धिक प्राणी होने के नाते मनुष्य 'प्राकृतिक धर्म' को पहचान कर उसका पालन कर सकता है और इस प्रकार नैतिक जीवन का सुख प्राप्त कर सकता है। किन्तु यह उसके लिए अन्ततः अपर्याप्त है। इस व्याख्या में अनर्थ बुद्धि-विसंगत प्रवृत्ति में और प्राकृत अर्थ की अपारमार्थिकता बुद्धि की परिच्छिन्नता में है।

जहां पैस्ट्रिस्टिक व्याख्या में सामाजिक जीवन पापमूलक है और ईश्वरेच्छामूलक धार्मिक-नैतिक कानून मनुष्य को उससे परे एकाकी आध्यात्मिक जीवन में प्रवृत्त करता है, टामिस्ट व्याख्या के अनुसार प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था बुद्धिगम्य और ईश्वरेच्छामूलक है और अतएव बुद्धि संगत जीवन, नैतिक और सामाजिक, आध्यात्मिक जीवन का विरोधी न होकर उसकी भूमिका सिद्ध होता है। इस व्याख्या में विरोधी अन्तों का समन्वय मिलता है—लौकिक और लोकोत्तर लक्ष्य का, बुद्धि और श्रद्धा का, ज्ञान और इच्छा का ऐहिक और पारत्रिक जीवन का।

प्राचीन और मध्यकालीन विचारधारा में एक परम मूल्य का स्वीकार मिलता है जो स्वरूपत. स्वतन्त्र सत् है और मनुष्य के लिए उसके चरम ज्ञान में व्यक्त होता है। मनुष्य का यह चरम ज्ञान ही उसके जीवन को परम सुखी बनाता है। चरम मानव-मूल्य चरम मूल्य की मानवीय अभिमुखता और अनकूलता में है। प्राचीनों के अनुसार यह चरम मूल्य सब सत्ताओं के लिए आदर्शभूत अतीन्द्रिय, ज्ञानगम्य और सदात्मक है। मध्यकाल ने इसे भक्तिलभ्य पुरुषोत्तम के रूप में अवधारित किया है। प्राचीनों के अनुसार मानव जीवन की सार्थकता यहीं और समाज के अन्दर ही है। उनका आदर्श मानव दार्शनिक और नागरिक है। मध्यकाल में मानव-सार्थकता परलोक में है और उसका आदर्श मानव भिक्षु, सन्त और भक्त है। प्राचीन काल में धैर्य, न्याय और बुद्धिमानी मुख्य सद्गुण माने जाते थे। मध्यकाल में त्याग, निस्वार्थता, श्रद्धा और भक्ति पर जोर था।

मध्यकाल का अन्त चर्च के प्रभाव के ह्रास और एक नई ऐहिकता और बौद्धिकता के विकास के साथ हुआ। रिनेसांस् के युग से आधुनिक पाश्चात्य मानव ने अपने प्राकृत जीवन के विकास को ही मुख्य सार्थकता के रूप में अपनाया है। धार्मिक श्रद्धा के ह्रास से परलोक और उसके साधन भक्ति की ओर उपेक्षा उपजी है, साथ ही बुद्धि और इन्द्रियों के प्राचीन विरोध को और बुद्धि के स्वतन्त्र प्रतिभात्मक रूप को छोड़कर बुद्धि का

प्रत्यक्षाश्रित अथवा कल्पनाश्रित तर्क के रूप में अर्थ ग्रहण किया गया है। आधुनिक दृष्टि को संक्षेप में 'वैज्ञानिक मानववाद' कहा जा सकता है जिसमें मूल्यों के लिए भी तार्किक परीक्षा में संगति एवं मानवीय अपेक्षा एक कसौटी के रूप में प्रायः उपस्थित की गई हैं। धर्म और दर्शन के स्थान पर विज्ञान की एवं ईश्वर के स्थान पर मानव और मानव समाज की प्रतिष्ठा हुई है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और भावी समाज की ओर प्रगति प्रधान मूल्यों के रूप में उदित हुए हैं। सहज ज्ञान और शास्त्र, दोनों की ही प्रामाणिकता के सन्दिग्ध होने पर मूल्य-निर्धारण की ओर प्रयोगात्मकता का आविर्भाव भी अनायास हुआ है।

प्राचीन एवं मध्यकाल में मूल्य का स्वरूप उत्कर्ष, प्रवृत्तिविषयता, आदर्शरूपता अथवा अतिक्रान्ति माना गया था और उसका निर्देश किया गया था ज्ञान-दर्शन, सद्गुण, सुख अथवा स्वर्ग में। एक नित्य और मनुष्योत्तर परम मूल्य को स्वीकार कर उसे अतीन्द्रिय एवं कूटस्थ-हेतु-मूलक अथवा ईश्वर–मूलक ज्ञान का विषय माना जाता था। आधुनिक युग में मूल्यों को मानवीय रामकहानी के स्वतन्त्र, सृजनात्मक विकासोन्मुख उद्योग की उपलब्धि के रूप में सोचने समझने की एक नई प्रवृत्ति मिलती है जिसके अनुसार वे नित्य-पद से उतर कर जैव-विकास अथवा सामाजिक विकास के अंग बन जाते हैं। हेगेल और मार्क्स, कोंत और स्पेन्सर, नीत्शे, बर्गसों, व्हाइटहैड, सभी में मूल्यों को विभिन्न रूपों में विकास अथवा सृजन की प्रक्रिया के अन्तर्गत माना गया है और उनके सहज या अंतस्थ नानात्व को इस प्रक्रिया के आन्तरिक क्रम से आँका गया है। जागतिक, जैविक अथवा सामाजिक विकास की यह धारणा 'स्वभाव' को नित्य और कूटस्थ तथा केवल अभिव्यंजन न मानकर एक उत्कर्षपरक किन्तु अतर्क्य सृजनात्मक व्यापार का अंग मानती है। इस दृष्टि के फलस्वरूप सामाजिक प्रगति स्वयं एक प्रधान मूल्य हो जाता है, और यह स्मरणीय है कि इस प्रगति का केन्द्रवर्ती विज्ञान स्वयं 'ज्ञान' का स्वातिशायी विकस्वर रूप है जो 'प्रेक्षकवत्' अवस्थित न होकर मनुष्य के भौतिक वातावरण एवं आनुवंशिक और जातीय गुणों को ही परिवर्तित करने में सतत प्रयुक्त है। वैल्स, जेरल्ड-हर्ड, न्यूए, हक्सले आदि ने इस स्थिति की सम्भावनाओं पर विचार किया है। वैज्ञानिक, प्राविधिक और आर्थिक प्रगति ने जनता के कल्याण को, उसके हित-सुख को एक नया आयाम प्रदान किया है। भौतिक-सामाजिक जीवन के स्तर (स्टैन्डर्ड ऑफ लिविंग) का निरन्तर उत्कर्ष सर्व-स्वीकृत मुख्य मूल्य के रूप में मुद्रित हुआ है। मार्क्सवादी प्रगतिशील वर्ग-स्वार्थ को निर्णायक मूल्य बताते हैं। समता और सौभ्रात्र के नए सामाजिक और राजनीतिक अर्थ प्रस्तुत हुए हैं और मूल्य-पद पर इन्होंने भी स्थान पाया है।

सामाजिक प्रगति के साथ व्यक्ति स्वयं एक परम मूल्य के रूप में

विचिन्तित हुआ है। लौक, जानस्ट्यूअर्ट मिल और नीत्से इस पक्ष के विभिन्न रूपों के उदाहरण हैं। रूमानी काव्य और कला में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति प्रधान मूल्य बन जाती है। लिबरल विचारधारा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा और व्यक्ति की सहमति सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को आँकने की कसौटी के रूप में प्रस्तुत की गई है।

परम्परा-सिद्ध बुद्धितत्व (=नूस, राश्यो, रीजन) आधुनिक विचारकों के लिए क्रमशः संदिग्ध और अस्वीकार्य हो गया और उसका स्थान प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान एवं सोपाधिक अथवा अभ्युगमपूर्वक तर्क ने ले लिया। फलतः केवल बुद्धि सत् के दर्शन का साधन नहीं रह गई। इसी प्रकार ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान में लोक-श्रद्धा शिथिल हो गई। अनुभव-निरपेक्ष अनुमान और आगम के अप्रमाण होने पर इस प्रश्न का समाधान आवश्यक था कि मूल्य-ज्ञान का साधन क्या है ? सामान्य आधुनिक प्रवृत्ति मूल्य-परिज्ञान के उत्स को परिस्थिति गत मानव मानस की ही विशेषता और संस्कारों में खोजती है। अनेक विचारकों ने मूल्य-बोध को मनोवैज्ञानिक पद्धति से समझने का प्रयास किया है। हॉब्स, स्पिनोजा और बटलर, ह्यूम, बैन्थम, मिल (पिता और पुत्र) और सिजविक ने मनुष्य के मूल्य-बोध एवं मूल्य-व्यवहार को निश्चित मनोवैज्ञानिक हेतुओं से निर्णीत माना है। हॉब्स और स्पिनोजा ने अभिनिवेशात्मक जैव स्वार्थ और उससे प्रस्तुत राग-द्वेष एवं शक्ति संग्रह की इच्छा को मानव-व्यवहार की नियामिका बताकर मूल्यों को स्वार्थ-रूप अवधारित किया है। बटलर, ह्यूम और सिजविक ने मनुष्य में स्वार्थ और परार्थ, दोनों को ही सहज बोध माना है और मनुष्य के नैतिक जीवन को इन द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों का विलास निरूपित किया है। बैन्थम और उसके अनुयायियों ने सुख-प्राप्ति और दुःख-परिहार को मानव-हित मानकर सामाजिक सन्दर्भ में उनके परिमाणात्मक उत्कर्ष को चरम मानव-हित समझा। बटलर, रूसो और कान्ट मानव हित को सहज विवेक का विषय समझते हैं। रूसो इस विवेक को स्वतन्त्र और न्यायशील समाज के संगठन का आधार मानते हैं और कान्ट इसके विषय को नैतिक आदेश मानते हैं।[1] हेगेल तत्त्वों को विशुद्ध तार्किक अवधारण और 'आत्मबोध' के तत्त्व को उनमें परम मानते हैं। इन तत्त्वों को अस्तित्व का समुचित लाभ मानवीय विकास में ही होता है जिसमें व्यक्ति, समाज एवं उच्चतर संस्कृति चेतना की खोज एवं चरितार्थता की तीन सीढ़ियां हैं। हेगेल के दर्शन में तार्किक और तात्विक, ऐतिहासिक और मूल्य-गत विकास में सारूप्य और अनिवार्य पारस्परिक समवाय है। फलतः उन्होंने आत्मज्ञान को परम

१ यह स्मरणीय है कि रूसो ने कान्ट को विशेष रूप से प्रभावित किया था। रूसो की अनेका व्याख्याओं में कासीरर का संक्षिप्त निबन्ध सर्वोत्तम है।

पुरुषार्थ और इतिहास-साध्य माना है और उनके अनुसार सामाजिक संस्थाएं और सांस्कृतिक रूप आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-ज्ञान की मूर्त उपलब्धियां और उत्तरोत्तर मूल्य-स्वरूप हैं। नीत्शे ने तेजस्वी दर्प के आधार पर 'मूल्यों के पुनर्मूल्यापन' का नारा लगाया। मार्क्स ने मूल्यों की विशुद्ध वर्गेतिहासिक व्याख्या की, स्पेन्सर ने जीवेतिहासिक।[1]

ह्यूम ने तथ्य, हेतु और मूल्य के पार्थक्य का सूक्ष्म विवेचन किया था जिसे प्रकारान्तर से कान्ट ने स्वीकार किया और जो आधुनिक वस्तुवादी विचारधारा का मूल बना। इस विचारधारा के अनुसार जिसने समाज-विज्ञान और कतिपय नवीन दार्शनिक समुदायों को प्रेरणा दी, वस्तु और विज्ञान दोनों ही मूल्य-निरपेक्ष हैं। फलतः मूल्य वस्तु–समाश्रित न होकर मानव इच्छा, भाव, कल्पना और संस्कार पर ही आश्रित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में वस्तुवादी मूल्योपेक्षा और भोगवादी मूल्यावमूल्यन के विपरीत जहाँ एक ओर जर्मनी, इटली और इंग्लैण्ड में हेगेलीय आदर्शवाद का अभ्युत्थान हुआ वहाँ डेनमार्क,जर्मनी और फ्रान्स में दूसरी ओर अस्तित्ववादी धारा प्रवाहित हुई जिसमें किर्केगार्ड ने आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य के लिए मूल्य को प्रकृति के बाहर और तर्क के परे उसके अपने मृत्युसंविग्न वरणशील अस्तित्व में खोजा। किर्केगार्ड के अनुसार कलावादी और बुद्धिवादी गण रूप के 'हिरण्मय पात्र' में आसक्त रह कर अपने सच्चे अस्तित्व को नहीं पहुँचते, जहां पहुँचने के लिए उन्हें 'इस ओर या उस ओर' के अन्तिम निश्चय और अपने वरे हुए विकल्प में निष्ठा की आवश्यकता है। नैतिकता का सार तर्क निर्धार्य, पूर्व निश्चित सद्गुणों में नहीं है अपितु अंदर की गहराई, सच्चाई और आकुलता में है। यहां 'नैतिकता' वस्तुतः आध्यात्मिकता है जो भोग और तर्क के परे श्रद्धा के सहारे आत्मिक स्वीकार से उपजती है। नीत्शे में अस्तित्ववाद का आधार अहंवादी पौरुष बन जाता है और सार्त्र में अचेतन सत् में निक्षिप्त मानव चेतना का अपरिहार्य दुःख और स्वतन्त्र वरण।

आधुनिक मूल्य-मीमांसा के जन्मदाताओं में लॉत्से का उल्लेख किया जा सकता है। ह्यूम ने तर्कसिद्ध पदार्थ, व्यवहारसिद्ध यथार्थ और प्रवृत्तिसिद्ध पुरुषार्थ का पार्थक्य प्रतिपादित किया था। लॉत्से ने इन तीनों के भेद को तर्कसिद्ध किन्तु उनके परस्पर अभिसम्बन्ध को अनुभूति-सिद्ध एवं चेतन-परम पुरुषार्थ-जगत् को—सत्य, सुन्दर और शिव को—दार्शनिक बोध का मुख्य विषय माना और प्लेटो का अनुसरण करते हुए मूल्य-जगत को ही

---

१ इन मतों के विवेचन के लिए नीचे यथायोग्य द्रष्टव्य।

वस्तु जगत् का आधार निश्चित किया।[1] मूल्य-मीमांसा के विकास पर ब्रेन्टानों का प्रभाव लाँत्से से कम नहीं रहा है। ब्रेन्टानों ने मानसिक व्यापारों को आकृति-ग्रहण, अध्यवसाय और राग-द्वेष के रूप में त्रिविध बता कर उन सभी में विषयापेक्षा का प्रतिपादन किया और इस प्रकार ज्ञान के समान प्रवृत्ति (राग-द्वेष) में भी सत् और असत् का विवेक विषयाश्रित कहा।[2] ज्ञान के विषयभूत स्वत: सिद्ध सत्यों की भाँति मूल्य भी राग-द्वेष के स्वतः सिद्ध विषय हैं। ब्रेन्टानों के अनुयायियों में ऐरेन्फेल्स ने मूल्यों को इच्छा-मूलक मानकर उनके विकास, संघर्ष और तारतम्य का विश्लेषण किया।[3] माइनौंग ने चेतनापेक्षित विषयों में 'द्रव्यसत्' (ज़ाइन) और 'प्रज्ञप्तिसत्' (आउज़र-ज़ाइन) का भेद प्रतिष्ठित किया और मूल्यों को ऐसे अस्ति-नास्ति रहित विषय बताया जिनका बोध भावात्मक होता है।[4] शेलेर और निको-लाई हार्टमान पर कान्ट का और ब्रेन्टानों का भी दूर का प्रभाव था किन्तु इन विचारकों ने मूल्य-मीमांसा को विस्तृत शास्त्रीय रूप से प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। शेलेर के लिए मूल्य भाव-ग्राह्य, प्राक्सिद्ध विषय हैं, हार्टमान के लिए प्राक्सिद्ध पर बुद्धिग्राह्य विषय हैं। दोनों ने ही मूल्यों की तारतम्य-व्यवस्था और उसके आधारों के प्रतिपादन की चेष्टा की है।[5]

आंग्लभाषी क्षेत्र में अर्बन ने इसी जर्मन धारा के अनुकूल मूल्य को 'भव्य'–जिसे होना चाहिए–बताया है। किसी विषय की भव्यता का सम्भवत्व अथवा अस्तित्व से कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। अतएव भव्य विषयों का ज्ञान आदर्श रूप में मनुष्य को प्रभावित करता है। 'भव्यत्व' एक मौलिक गुण है जो अन्य वस्तुगत गुणों में विश्लेष्य नहीं है।[6] लेयर्ड ने इस पर जोर दिया कि चारित्रिक अच्छाई अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य अन्य वस्तुगत प्रत्यक्ष गुणों के समानान्तर हैं और उन्हें वस्तुगत ही मानना चाहिए।[7] मूर ने 'अच्छाई' को 'पीत' के समान ही एक मौलिक और विषयगत धर्म माना है जोकि विषय के प्राकृतिक धर्मों पर निर्भर नहीं करता। मूल्य की प्राकृतिक गुणों अथवा अवस्थाओं के द्वारा परिभाषा को उन्होंने 'प्रकृतिवादी हेत्वा-भास' (नैचरलिस्टिक फैलेसी) कहा है।[8] पैरि ने अमरीकी नव्य यथार्थ-

---

१ तु० मर्त्स जि० ३, पृ० ४०८ प्र०, जि० ४, पृ० ६७ प्र०।

२ तु० फ़िन्डले, माइनौंग्स थियरी ऑफ ऑब्जैक्टस एण्ड वैल्यूज़, पृ० ३ प्र०।

३ फ्रौन्डिजी, व्हाट इज़ वैल्यू, पृ० ३३ प्र०।

४ द्र० फ़िन्डले, पूर्वोद्धृत, पृ० ४२ प्र०; पृ० २६४ प्र०।

५ फ्रौन्डिजी, पूर्वोद्धृत, पृ० ७० प्र०; हार्टमान, ऐथिक्स, जि० १, पृ० २१७ प्र०।

६ अर्बन, वैल्यूएसन-इट्स नेचर एण्ड लौज, १६०६।

७ लेयर्ड, ए स्टडी इन रीयलिज्म, १६५०।

८ मूर, प्रिन्सिपिया ऐथिका।

वाद के अनुसार मूल्य का अनुभव-मूलक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है जिसमें मूल्य रुचि लेने पर आधारित है और रुचि मनुष्य को सकाम कर्म में प्रयुक्त करती है।[1] कुछ अतिनवीन लेखक जैसे हेअर और स्टीवेन्सन मनोविज्ञान से भी आगे बढ़कर भाषा-विश्लेषण के द्वारा मूल्यों को समझ लेना चाहते हैं।[2]

यदि वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात किया जाय तो एक ओर मूल्य की तत्त्व-दर्शन-मूलक व्याख्याएँ हैं, दूसरी ओर मनोविज्ञान-मूलक। पहले वर्ग में पुरानी आदर्शवादी परम्परा के प्रभेद हैं जो मूल्य को 'सत्' और बुद्धि-गम्य मानते हैं और नवीन यथार्थवादी भी हैं जो मूल्य को एक प्रकार का 'विषय' अथवा प्रकृति-विलक्षण धर्म मानते है जिन्हें पहिचानने की मनुष्य में सहज शक्ति है। दूसरे वर्ग में मुख्यतः वस्तुवादी एवं भौतिकवादी मत हैं जो मूल्य को अन्ततः अभीष्ट से अलग नहीं मानते।[3] इस ऐतिहासिक सर्वेक्षण से मूल्य के तीन मौलिक लक्षण प्रकट होते हैं—

सद्गत पूर्णत्व अथवा सत्यत्व, मूल्यत्व-विशिष्ट विषयत्व, और इष्टत्व अथवा विवेकसंगत इष्टत्व।

---

१ पैरि, जनरल थियरी ऑव वैल्यू, १९२६।

२ हेयर, लैंग्वेज आव मोरल्स, १९५२; स्टीवेन्सन, एथिक्स एण्ड लैंग्वेज, १९४४।

३ तु० क्लिबान्स्की, सं० फिलॉसफ़ी इन दि मिड सैन्चुरी, जि० ३, पृ० ७, जहां साम्प्रतिक मूल्यवादों को नौ विभागों में बाँटने का प्रस्ताव है। इस विभाजन की युक्तता चिन्त्य है, एक उदाहरण—एयर को 'अनुभववादी अज्ञेयवादी' कहा गया है जबकि वस्तुतः एयर आदि वस्तुवादी अभीष्ट से अतिरिक्त मूल्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। यह भी स्मरणीय है कि दर्शन की संरचना में बुद्धि सभी प्रकार के संकरों की अनुमति नहीं देती और उन सभी संकर-प्राप्त मतों का संग्रह रुचि की 'सतृणाभ्यवहारिता' सूचित करता है।

२

मूल्यबोध का उद्गम : पर्येषणा

पशु जीवन के समान मानव-जीवन एक सहज और नियत प्रवृत्ति-चक्र में बंधा हुआ नहीं है। आत्मबोध के विकास के साथ मनुष्य में अपनी प्रवृत्तियों की ओर एक सजग भाव उदित होता है जो उनके सहज रूप को पूरी तरह से स्वीकार नहीं करता। अज्ञातविषयक प्रवृत्तियों से बरबस संचालित न होकर मनुष्य विवेक के द्वारा अनुमोदित विषयों के अनुसंधान में अपनी स्वतन्त्रता पाता है। आत्मबोध, विवेक और स्वतन्त्रता के न्यूनाधिक अवभास नियत प्राकृतिक प्रवृत्ति-चक्र को मानवीय पर्येषणा के अनन्त ऋजु-पथ में रूपान्तरित करने की ओर उद्दिष्ट रहते हैं। यथाप्राप्त विषयों के अन्तराल से आदर्श विषयों की खोज, यही मनुष्य का मनुष्योचित जीवन है और यही मूल्यान्वेषणा अथवा पर्येषणा है। पर्येषणा में न केवल विषयों का इच्छा के अनुरूप अपितु इच्छाओं का आत्मबोध के अनुरूप विवेचन अन्तर्निहित है। यह विवेचन अनुभूति-सापेक्ष होता है और अनुभव के प्रत्येक स्तर और दिशा को परिभाषित करने वाले उसके विशिष्ट विषय-विषयिभाव के सहारे जो एक विशिष्ट खोज जन्म लेती है, उसके विकास का सहचर होता है। जहां एक दिये हुए स्वभाव को भोगना ही प्रवृत्ति-जीवन की नियति है, मूल्य मनुष्य के विकासशील जीवन के लक्ष्य और उसकी उपलब्धि हैं। प्रवृत्ति एक नियत स्वभाव की पौनःपुनिक क्षतिपूर्ति मात्र करती है, उस स्वभाव के अन्तर्निहित अभाव को पूरा करने की दिशा में उद्दिष्ट नहीं होती। मूल्यार्थी पुरुष स्वगत और विषयगत अभाव से असन्तुष्ट होकर भूमा का अनुसन्धान करता है। वही मूल्य का स्वरूप है, उसी में मनुष्य की चरितार्थता, उसके जीवन का सुखिता है। 'भूमा वै सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति'।

पर्येषणीयता और मूल्य :

भूत-सत्ता की यन्त्रवत्ता से जीव-सत्ता का भेद उसकी प्रवृत्ति-प्रधानता के कारण किया जाता है। जहां नियत-गत्यात्मक जड़ सत्ता के अवधारण के लिए कार्य-कारण-भाव और उसमें अन्तर्भूत तटस्थ प्रमेय-प्रकार पर्याप्त

हैं, जैव सत्ता का अवधारण प्रवृत्ति के गर्भ में विद्यमान सप्रयोजनता के बिना नहीं हो सकता। मानव-जीवन में जैव प्रयोजनों की अनिवार्यता समाप्त प्राय हो जाती है और मानव विवेक सहज अथवा संस्कारज प्रयोजनों को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने के लिए अपने को स्वतन्त्र मानता है। विवेक के अनुसार अर्थ-गवेषणा ही पर्येषणा है जोकि अपने उदात्त रूप में आर्य-पर्येषणा (= आर्योचित पर्येषणा, आर्य = दुःख-सत्य का जानकार) कही गई है।[1] यदि विवेक-गर्भ पर्येषणा को मानव-विकास एवं संस्कृति का मूल माना जाय तो पर्येषणीयता को मूल्य का लक्षण कहा जा सकता है। पर्येषणीय का अर्थ है पर्येषणार्ह। अर्हता योग्यता अथवा औचित्य या प्रशस्यता को कहते हैं। योग्यता सामर्थ्य अथवा शक्ति-सम्भावना से अभिन्न है। औचित्य या प्रशस्यता में योग्यता का आक्षेप होता है क्योंकि जो पर्येषणा का विषय ही नहीं बन सकता वह उसका उचित अथवा प्रशस्य विषय नहीं बन सकता। औचित्य विवेकानुकूलता है और प्रशस्यता विवेकियों के द्वारा अनुमोदन की योग्यता। फलतः जिस विषय को खोज का विषय होने पर विवेक का समर्थन प्राप्त होता हो, वही मूल्य है।

मूल्यप्रत्यय :

मूल्य के प्रत्यय में तीन घटकों का समावेश देखा जा सकता है—एषणा, विवेक और स्वतन्त्रता। यह ठीक है कि एषणा और विवेक स्पष्ट ही सविषयक हैं और स्वतन्त्रता कर्तृत्वधर्म होने के कारण कृति द्वारा विषय का आक्षेप करती हैं। किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया, तीनों ही चेतना के आयाम न केवल विषय का आक्षेप करते हैं बल्कि विषयी का और दोनों के मध्य सम्बन्ध का भी उतना ही आक्षेप करते हैं। मूल्यानुभूति में ज्ञान-निरूपित विषयता का प्रकार ही इष्टता का अवच्छेदक होता है और इस तरह इच्छा और ज्ञान, दोनों की विषयताएं एक ही विषय में समान प्रकार से वृत्तित्व लाभ करती हैं। दूसरी ओर इच्छा और ज्ञान दोनों की ही विषयिताएँ एक ही स्वतन्त्र विषयी में आश्रय पाती हैं और उसके कर्तृत्व को प्रेरित करती हैं। एक ओर है एषणात्मक और ज्ञानात्मक वृत्तियों को समन्वित विषयता और दूसरी ओर उसकी निरूपित स्वतन्त्र विषयिता जोकि अपने को कर्तृत्व में व्यक्त करना चाहती है। ज्ञानावधृतरूपेण अर्थात् स्वरूपेण जो विषय इष्ट हो और स्वतन्त्र विषयी के लिए साध्य हो वही मूल्य संज्ञा का अधिकारी होगा। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि मूल्य-प्रत्यय एक ऐसे विषय-विषयि-भाव का संकेत करता है जिसमें विषय अपने तात्विक रूप में इष्ट, विषयी स्वतन्त्र और दोनों का सम्बन्ध साध्य-साधक सम्बन्ध होता है।

---

१ द्र० मज्झिमनिकाय, अरियपरियेसन सुत्त।

इच्छा और ज्ञान के सामरस्य के अनुरूप साधना यथास्थित विषय को आदर्श के मान से सुधारती है और आदर्श को यथार्थ रूप में गढ़ती है। चेतना का मूल रूप स्वातन्त्र्य है और अपने स्वभाव से विच्युतवत् 'स्वाधिकारात्प्रमत्ता' वह सीमित विषयों में बन्धन और अभाव का अनुभव करती है और उसकी पूर्ति के लिए एक 'पूर्ण, पर्याप्त और परायण'[1] पद को खोजती है। मानों एक अन्तर्निहित अव्यक्त स्मृति से उपस्थित विषयों में अनुपस्थित मान का संकेत पाकर वह अंधेरी गुफा से सूर्य की ओर मुड़ती और उठती है। मूल्यज्ञान, मूल्यान्वेषण और मूल्यसाधन मानव चेतना का स्वभाव है। आत्मानुरूप विषय को खोजती हुई चेतना की यात्रा अपने स्वरूप की ओर ही उद्दिष्ट है क्योंकि जैसा कहा गया है आत्मबोध ही पूर्णतया समञ्जस और प्राञ्जल बोध है, और पदार्थधारणा के सब प्रकारों में उच्चतम है। सभी मूल्य चेतना की इस अपने से अपने तक, अव्यक्त भाव से प्रबुद्ध और मुक्त भाव तक की यात्रा के पड़ाव हैं और स्वानुभूति की नाना उपाधियां या संकेत-मात्र हैं।

व्यवहार और साधना :

प्रमाता, प्रमा और प्रमेय, एषिता, एषणा और एष्य, कर्त्ता, कर्म और कार्य, ये तीनों त्रिपुटियां आत्मानुसन्धान की प्रक्रिया में समरस होकर साधक, साधन और साध्य की महात्रिपुटी में पर्यवसित होती हैं। व्यवहार के स्तर पर ये त्रिपुटियां पृथक्-पृथक् आयाम बनाती हैं, साधना के स्तर पर ये समन्वित होकर मूल्य का सन्धान अर्पित करती हैं। साधारण जीवन में प्रमेय-परिच्छेद कार्य-कारण-भाव पर आधृत और लोक-व्यवहार के सन्दर्भ में होता है, एषणा अन्धी स्वार्थ प्रवृत्ति अथवा सामाजिक अन्धानुकरण होती है, कर्म प्रवृत्ति अथवा रूढ़ि से अपना लक्ष्य और प्रमा से अपना साधन ग्रहण करता है। लोकसिद्ध प्रयोजन और पर्यावरण के वैषम्य को दूर करने के लिए लोक-व्यवहार प्रवृत्त होता है जिसमें कर्म इच्छा-पूर्ति के लिये ज्ञान का सहारा लेता है। आन्तरिक प्रत्याशा और अनुभूति की असंगति वस्तु और कल्पना प्रमा और भ्रम के भेद को जन्म देती है। कर्म की सफलता के लिए साधक-बाधक का ज्ञान आवश्यक है और उसी सन्दर्भ में ज्ञान का विकास सम्पन्न होता है। फलतः व्यवहार में प्रयोजन-बोध और वस्तु-बोध नितान्त भिन्न रूप से उद्‌भूत होते हैं। प्रयोजन-बोध साध्य का अन्तः साक्षात्कार होता है जबकि वस्तुबोध साधन का विकल्पात्मक ज्ञान। लोकव्यवहार में प्रयोजन प्रायः यथोपस्थित रूप में गृहीत होते हैं जबकि घट-पट के संसार का बोध हेतु-पर्यालोचन के द्वारा परिमार्जित होकर विकासशील प्रमा और विज्ञान का रूप धारण करता है। इस प्रकार इच्छा

---

१ द्र० प्लेटो, फिलेबस

की दिशा संस्काराधीन, कर्म की इच्छाधीन और ज्ञान की कर्माधीन हो जाती है, जबकि स्वभावतः इच्छा आत्मगत प्रवृत्ति, कर्म आत्मोद्‌गत बाह्य-कार्यक कारण-व्यापार और ज्ञान कारित्र-व्यवस्थापन बने रहते हैं। फलतः व्यवहार के सन्दर्भ में इच्छा, ज्ञान और कर्म के बीच पारतन्त्र्यात्मक संबंध आरोपित होते हुए भी वे स्वरूपतः पृथक् पदार्थ रहते हैं इच्छा भाव के स्तर में और कर्म एवं ज्ञान बाह्य क्रिया के स्तर में। इस पार्थक्य को देखते हुए अनेक विचारक यह मानते हैं कि चेतना के विभिन्न आयामों के मूल्य भी सर्वथा पृथक् हैं यथा सौन्दर्य, साधुत्व और सत्य।

इसके विपरीत कुछ विचारक मूल्य को एषणात्मक मान कर वस्तु और ज्ञान से पृथक् एवं अन्य विचारक मूल्य को वास्तविक मानकर एषणा और ज्ञान से पृथक् प्रतिपादित करते हैं। वस्तुतः इन सभी मतों में जीवन के व्यावहारिक और साधनात्मक पक्षों का अविवेक है। मानवीय एषणा ज्ञान को दास्य में नियुक्त कर व्यवहार के सैकतार्णव में अर्थ-काम की मरीचिका का अनुधावन बन सकती है अथवा साधना-प्रवाह में अवर से पर मूल्य-तीर्थों का अनुसन्धान बन सकती है। व्यवहार और साधना का भेद ही यथार्थतः वस्तु और मूल्य के भेद का आधार है और साधना की दिशाएं ही मूल्य-भेद का आधार हैं। साधक-भाव के विकास से कर्तृत्व अहंकार-रूप पारतन्त्र्य-दोष से,प्रमातृत्व ताटस्थ्य दोष से, और एषितृत्व विषयासक्ति-रूप पारतन्त्र्य से मुक्ति की दिशा में रूपान्तरित होते हैं। साथ ही कर्म भावलीला की ओर, विषय तत्त्व, लक्षण, धर्मता और प्रज्ञा के क्रम से जाड्य को छोड़कर चिदात्मकता की ओर, एवं प्रयोजन भावालम्बन की दिशा में परिवर्तित होते हैं। जैसे जीवन साधन बनता है मनुष्य एक तटस्थ वस्तुजगत् में जिजीविषा और राग से प्रेरित संघर्ष के स्थान पर अनन्त अर्थ के वाहक संकेतों के विश्व में लीला के छन्द का परिचय पाता है। किस प्रकार उपाधि-भेद और भूमि-भेद से विभक्त किन्तु पर्येषणा के अन्तः सूत्र से पिरोया हुआ मूल्यों का नानात्व तारतम्य के क्रम से एक पारमार्थिक मूल्य में विलीन होता है, इसका विस्तृत विवरण आगे प्रस्तुत किया जाएगा।

मूल्य एवं मूल्यबोध का अन्तर्गत द्वैत :

ऊपर के विवरण में मूल्य को मानवोचित लक्ष्य अथवा पुरुषार्थ के रूप में परिभाषित किया गया है। मूल्य न वस्तुमात्र है, न इष्टता–मात्र। मल्य बोध भी न शुष्क ज्ञान है, न मात्र संवेदन। मूल्य विषय का स्वरूपोल्लेखी होते हुए भी आत्मसम्बद्ध होता है, स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति होते हुए भी निरंकुशता से असंपृक्त होता है। उसकी वास्तविकता प्राकृतिक परतन्त्रता अथवा कारित्र (अर्थक्रियाकारिता) नहीं है। उसकी वास्तविकता उसके स्वरूप की अनिवार्यता, उसकी बुद्धिगोचर युक्तियुक्तता और उसके समूचे-

पन की अविश्लेष्य रहस्यमयता है। उसको इष्टता उसकी आदर्शरूपता है जोकि प्रत्येक अपूर्ण विषय के लिए उस पूर्णता में पाई जाती है जिसका वह स्वरूपतः आक्षेप करता है और जो उसके तारतम्य निर्धारण एवं परिष्कार के लिए मान प्रस्तुत करती है। मूल्य-बोध ज्ञानात्मक है किन्तु यह ज्ञान मूलतः आत्मज्ञान है जोकि आलोचित विषयों के विवेक में समर्थ, एवं विश्लेषणात्मक खण्ड-ज्ञान के परे भेदान्वयिनी दृष्टि का समर्थक है। भेदान्वयी होते हुए भी मूल्य सामान्य नहीं हैं क्योंकि उनके बोध का आदर्श विशेषार्थक प्रज्ञा अथवा प्रतिभा है। उनके बोध को प्रज्ञारूपता या साक्षात्-कारिता ही उसे संवेदन के सदृश बनाती है किंतु मूल्यबोध की विवेचना-पूर्वक अपरोक्षता संवेदन की अविचारित और अनवधारित अपरोक्षता से भिन्न है।[1]

प्रवृत्ति और विवेक के द्वन्द्व में कर्म और भोग के अन्तराल से मनुष्य अपने आदर्शोन्मुख एवं आत्म-जागरूक साधकभाव के द्वारा मूल्य विश्व का आभास पाता है। जिजीविषा और सिसृक्षा, लिप्सा और जिज्ञासा, राग द्वेष, जिज्ञासा और मुमुक्षा, इन सभी में मनुष्य को विभिन्न प्रकार और स्तर के अनालोचित अथवा अर्ध-पर्यालोचित प्रयोजनों की परीक्षा के माध्यम से मूल्यसंपृक्त बोध होता है। एक ओर तो यह मूल्य-स्फूर्ति घट-पट आदि का तटस्थ ज्ञान नहीं है अपितु भावसंपृक्त, इष्टगर्भित बोध है,

---

१ यह स्मरणीय है कि हेगल और उसके अनुयायी वास्तविक सामान्य को अन्त-र्गभित-विशेष कहते हैं। यह'मूर्त सामान्य' बुद्धि (Vernunft) का आत्मावधारण या शुद्ध सम्प्रत्यय है और विकल्पना (Verstand) के विषय प्रज्ञप्तिमात्र से भिन्न है। प्रतिभास के अन्तराल से यथेष्ट सादृश्य के उद्ग्रहण के द्वारा प्रज्ञ-प्तियां विकल्पित होती हैं, और वे प्रतिभासोपदर्शित यथार्थ से न्यून होती हैं। बुद्धिसम्प्रतीत 'मूर्त सामान्य' तात्त्विक, और प्रत्यक्ष-गोचर के आदर्शमान होने के कारण उससे अधिक वास्तविक होते हैं। हेगल में ज्ञान और सत् के अद्वैत के कारण प्लेटो के विषयाकारिक आदर्श भाव और कान्ट के ज्ञानप्रकारिक मूल-विकल्प एक हो जाते हैं और 'मूर्त-सामान्य' या 'शुद्ध सम्प्रत्यय' को जन्म देते है। ये एक साथ ही ज्ञान और सत् के तत्त्व हैं। हेगल के मत से सत्य होने की दो शर्तें हैं—बुद्धिज्ञान में स्फुटता का होना, और व्यावृत्ति अथवा निषेध का सर्वथा अतिक्रम। ये शर्तें वास्तविक अनन्त आत्मज्ञान में ही पूरी हो सकती हैं, किन्तु चूँकि प्रत्यय व्यावृत्यात्मक होते हैं, इस प्रकार का ज्ञान प्रत्ययात्मक न होकर साक्षात्कारात्मक ही हो सकता है। तथापि हेगल का 'आत्म ज्ञान' अमूर्त दार्शनिक ज्ञान है, न वेदान्तोक्त सधन निर्विकल्पकज्ञान है, न योगोक्त स्फुट प्रज्ञालोक।

दूसरी ओर यह केवल भावसघनता अथवा इच्छोद्वेलन न होकर व्यक्त अथवा अव्यक्त विवेक से आलोकित है। मूल्य बोध न कोरा तर्क है, न कोरी भावना। उसमें अनुभूति की जीवन्त सघनता और लगाव के साथ ज्ञान की स्वच्छता और अलगाव उल्लिखित मिलते हैं।

मूल्यबोध के इस अन्तर्गत द्वन्द्व के कारण मूल्य के स्वरूप के विषय में भी दो विरुद्ध पक्षों का प्रतिपादन मिलता है। मूल्य-बोध को प्रधानतया अथवा सर्वथा ज्ञानात्मक मानने पर मूल्य तात्विक विषय सिद्ध होते हैं। दूसरी ओर मूल्य-बोध को इच्छाभावात्मक मानने से मूल्य किसी प्रकार की अपेक्षापूर्ति अथवा अर्थपूर्ति एवं उसके साधनमात्र बन जाते हैं। पहली दृष्टि में मूल्य सिद्ध अथवा परिनिष्पन्न पदार्थ हैं जो साक्षात्कार्य, पर्यालोच्य एवं अनुसन्धेय हैं। वे ऐसे तत्त्व हैं जिनका ज्ञान मनुष्य को स्वतन्त्रतापूर्वक बाध्य करता है। उनके स्वरूप के ज्ञानमात्र से मनुष्य की अन्तःसत्ता अभिप्रेरित होती है और इस प्रेरणा की अनिवार्यता मनुष्य के सच्चे स्वातन्त्र्य को समर्थित करती है। दूसरी दृष्टि में मूल्य साध्य-साधन रूप हैं। उनका कोई निजी तात्विक रूप न होकर वे मनुष्य की अभीष्ट कल्पनाएं है। उनका आपात रूप कोई निगूढ रहस्य न होकर सर्वजन विदित इष्टता मात्र है किन्तु इष्टता का विश्लेषण मानव-स्वभाव के विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार मूल्य भोगमात्र रह जाते हैं और उनका ज्ञान मनोविज्ञान या समाजविज्ञान का अंग बन जाता है।

मूल्य-विषयक दृष्टि-भेद :

मूल्यों की तात्विकता का अर्थ है उनकी स्वरूपगत अकल्पितता अथवा अनाहार्यता। यथास्थित,अकृतक अनारोपित स्वरूप सम्यग् ज्ञान अथवा प्रमिति का विषय होता है। यह विषयता या प्रमेयता स्वरूपसत्ता भी हो सकती है, वस्तुसत्ता भी। स्वरूपसत्ता देश, काल और कारित्र से रहित, बुद्धि-गोचर लक्षणविशिष्ट भाव अथवा आकारमात्र कही गई है। इस प्रकार का अस्तित्वनिरपेक्ष बुद्धिलक्ष्य पदार्थत्व अथवा स्वभावविशिष्ट भावत्व विशुद्ध अवधारणात्मक ज्ञान के प्रविभक्त प्रकारों का सामान्य अवधारण या प्रकारता है। स्वरूपसत्ता आकारमयी है या प्रकारमयी, स्वरूपसत्ता द्वारा परिभाषित विषयता विषयरूप है अथवा ज्ञानरूप, बुद्धिविषय बुद्धिसापेक्ष हैं अथवा बुद्धि-निरपेक्ष, इस प्रश्न के यथार्थवाद एवं विज्ञानवाद के अनुसार द्विधा उत्तर प्राप्त होते हैं। यथार्थवाद के अपनाने पर स्वरूप-सत्ता बुद्धिनिरपेक्ष भाव हो जाती है और वस्तुसत्ता बुद्धिनिरपेक्ष अस्तित्व। सत्ता के इन दो प्रविभागों में एक बुद्धिगम्य, अप्रच्युत, ध्रुव विषयों का भाव है, दूसरा उत्पाद-व्यय-शील अध्रुव विषयों का कालिक अस्तित्व। भाव को प्राचीन आचार्य 'ऊसिया' और अस्तित्व को 'गेनेसिस' कहते थे, नवीन आचार्य उन्हें क्रमशः 'सबसिस्टेन्स'

और 'एग्जिस्टेन्स' कहते हैं ।[1]

ज्ञान के विषयभूत तत्त्व को ज्ञाननिरपेक्ष मानना ज्ञान-मीमांसेय यथार्थवाद का मूल सूत्र है। मूल्य को ज्ञान-विषय मानने पर और यथार्थवादी सूत्र के प्रयुक्त करने पर मूल्य भी ज्ञान-निरपेक्ष भाव सिद्ध हो जाते हैं, जोकि मूल्य-विषयक आदर्शवाद का एक प्रकार है। इस तरह स्वरूप-सत्तावादी यथार्थवाद मूल्य-विषयक अचैतसिक आदर्शवाद को जन्म देता है ।[2] जो यथार्थवादी स्वरूपसत्ता को स्वीकार नहीं करते और सामान्य को केवल वस्तुसापेक्ष उद्‌गृहीत निमित्त की प्रज्ञप्तिमात्र अथवा अभिधानमात्र मानते हैं, वे विज्ञान-गोचर वस्तुसत्ता में कहीं भी निरपेक्ष मूल्यत्व का आभास न पाकर उसे सुखादि विशिष्ट वस्तुओं में रहने वाला एक सापेक्ष धर्म मानते हैं ।[3] ज्ञान के विषयभूत तत्त्व को ज्ञान का ही आत्मपरामर्श अथवा आत्मावधारण मानने वाले ज्ञान-मीमांसेय आदर्शवादी (= विज्ञानवादी) मूल्य को भी तात्त्विक किन्तु ज्ञानापेक्ष मानते हैं । उनकी दृष्टि से जैसे-जैसे ज्ञान का आत्मपरामर्श पूर्णतर होता जाता है वैसे-वैसे सत्ता के पूर्णतर रूप और उनकी पूर्णता के रूप में मूल्य का उत्तरोत्तर प्रकाश होता है ।[4] कुछ यथार्थवादी भी ज्ञान, सत्ता और मूल्य के उस सहज-संबद्ध तारतम्य को स्वीकार करते हैं जिसमें पूर्णतारूप मूल्य सत्तागत होते हैं किन्तु यह न्यूनाधिक मूल्यान्वित सत्ता ज्ञान-निरपेक्ष होती है । ज्ञान मानों सत्ता का यथास्थित निरूपक दर्पण है ।[5] तार्किक विज्ञानवादियों एवं पारमार्थिक यथार्थवादियों से भिन्न आध्यात्मिक ज्ञानवादी ज्ञान के विषयभूत तत्त्वों में अन्ततः एक अनन्त आत्मतत्व के सीमित अवधारण देखते हैं ।[6] इस दृष्टि से मूल्य अध्यात्मसाधना

---

१ यह भेद अनेकधा व्याख्यात हुआ है । रसल के लिए "भाव हर चीज़ का सामान्य धर्म है और किसी चीज़ का उल्लेख करना ही उसे दिखाना है इसके विपरीत सत्ता भावों में कुछ का ही विशेषाधिकार है ।" (**प्रिन्सिपल्स ऑव मैथेमैटिक्स,** पृ० ४४९) । माइनौंग के अनुसार विषयता सत् और असत् के बहिर्भूत (आउस्सरजाइन) प्रत्येय विषयस्वरूप है (फिन्डले, **पूर्वोद्धृत**, पृ० ४९ प्र०) । विषय (गेगेनश्तान्द) प्रतिभास (फ़ोरश्तेलुंग) में दिये होते हैं । विषयों में स्थितियाँ (ऑब्जेक्टिव) निहित होती हैं । वस्तुस्थितियों में बेश्तान्द (Bestand) या 'सबसिस्टैन्स' होती हैं (वही, पृ०७२-७४) ।

२ उदा० प्लेटो अथवा मूअर ।

३ उदा० बैन्थम अथवा पैरि । इस वर्ग के कुछ विरल विचारक जैसे लेयर्ड, इन विशिष्ट वस्तुओं में अमानवीय वस्तु भी शामिल कर मूल्य को उनका निरपेक्ष धर्म कहते है ।

४ उदा० हेगेल

५ उदा० टौमिस्ट परम्परा

६ उदा० अद्वैत वेदान्त, अद्वैत शैव और शाक्त दर्शन ।

के अन्तर्गत सोपाधिक अथवा निरूपाधिक स्वानुभूतिमात्र है। फलतः वस्तुओं और आकारों में मूल्यान्वय सांकेतिक बन जाता है।

उपर्युक्त मत मूल्य को क्रमशः ज्ञानबाह्य आकार, अपेक्षित वस्तुधर्म, ज्ञानाकार, पूर्णास्तित्व और स्वानुभूति प्रतिपादित करते हैं। मूल्य को ज्ञान-बाह्य आकार मानें चाहे ज्ञानगत आकार, दोनों ही विकल्पों में मूल्य-मीमांसा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मूल्य प्रामाणिक ज्ञान के निरूपक तात्विक विषय ठहरते हैं। उनका रूप कल्पनाधीन अथवा आरोपसिद्ध नहीं होता बल्कि वे स्वविषयक ज्ञान के लिए अनिवार्य स्वरूप होते हैं। ये दोनों मत बुद्धिवादी हैं। मूल्य को अपेक्षामूलक मानने पर वह इष्ट 'अर्थ' हो जाता है जोकि 'स्वार्थ' भी हो सकता है 'परार्थ' भी किन्तु 'सुखवादियों' के बावजूद परमार्थ नहीं हो सकता। इस मत को भोगवादी कह सकते हैं। उपर्युक्त मतों में अन्तिम दोनों मत परमार्थवादी, अनुभूतिवादी अथवा मुक्ति-वादी हैं।

दृष्टि-भेद और मूल्य भेद :

मूल्य की ओर ये विभिन्न दृष्टियां—बुद्धिवाद, भोगवाद, मुक्तिवाद—मूल्य-बोध के विभिन्न रूपों और आयामों को प्राधान्य देने से उत्पन्न होती हैं। बुद्धिवादी दृष्टि मूल्यबोध के विवेचनात्मक पक्ष को महत्व देती है और मूल्यों को मानव-जीवन के लिये बुद्धि-प्रदर्शित मानक विषय मानती है जो कि एक ध्रुव ज्योतिर्लोक के समान विवेकी मनुष्य का पथ आलोकित करते हैं। भोगवादी दृष्टि ज्ञान को साधन और इच्छापूर्ति को लक्ष्य मानकर भोग्य पदार्थों के युक्त उत्पादन, संग्रह और वितरण पर जोर देती है। जहां वैज्ञानिक और दार्शनिक क्षेत्र में पूर्णतः और नैतिक एवं कलात्मक क्षेत्र में अंशतः बुद्धिवादी दृष्टि विशेष प्रामाणिक सिद्ध होती है, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों को सयुक्तिक भोगवाद के प्रयोग का क्षेत्र माना जा सकता है। सत्यात्मक मूल्य की खोज बुद्धिवादी दृष्टि को अपनाए बिना उतनी ही कठिन है जितनी सुखात्मक मूल्य की खोज युक्तियुक्त भोगवाद के बिना। अनुभूतिवाद नैतिक, कलात्मक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के क्षेत्र में सहज दृष्टि है। विभिन्न मूल्य-विभाग अपनी-अपनी साधना के अनुकूल दृष्टियों को समर्थित करते हैं।

इस प्रकार की विभाग-दृष्टि किसी भी विभाग के उत्साही साधकों को सन्तोष नहीं देती और वे स्वविभागीय मूल्यबोध के आधार पर समग्र-वादी मूल्य-सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि हम उन युक्तियों पर विचार करें जिनके सहारे बुद्धिवाद और भोगवाद के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का समर्थन किया गया है।

बुद्धिवादी-दृष्टि :

ज्ञान के दो सुविदित प्रभेद हैं—संवेदनात्मक और बुद्ध्यात्मक।

संवेदन विषय का आलोचनशून्य ग्रहणमात्र होता है और उसके अन्दर यथार्थ और अयथार्थ ग्रहण के विवेक की जागरूकता नही रहती है। प्रामाणिक होने पर भी वह अपने प्रामाण्य का स्वतः उपपादन नहीं करता, अप्रामाणिक होने पर वह अपने भ्रम को पहचान कर उसका निरास नहीं करता। संवेदन का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य हेतुसाध्य होता है। हेतु-मूलक ज्ञान ही बुद्ध्यात्मक ज्ञान होने के कारण बुद्ध्यात्मक ज्ञान ही फलतः ठीक अर्थ में ज्ञान कहलाने के योग्य है। बुद्धि अर्थ का सहेतुक परिच्छेद करती है। वह विषय को उसके वैशिष्ट्य के द्वारा विषयान्तर से अवधारित करती है और अपने निर्णयों को युक्ति-विन्यास के द्वारा उपपादित करती है। बुद्ध्यात्मक ज्ञान केवल प्रकाशात्मक न होकर विमर्शात्मक होता है, वह विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही एवं प्रामाण्यावगाही होता है। इस बुद्ध्यात्मक ज्ञान को बुद्धिवादी गण ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान का सार विवेचना है— सत् और असत् को, प्रमाण और अप्रमाण की, गुण और दोष की। यह स्मरणीय है कि सत् और असत् प्रामाणिक और अप्रामाणिक से अलग नहीं किये जा सकते। प्रामाण्य और अप्रामाण्य भी ज्ञान के गुण और दोष ही माने जा सकते हैं।[1]

मूल्य बोध का अन्तर्भूत विवेचन अपने विषय के गुण-दोष निरुपित कर एक आदर्श के अनुसार उसका उत्कर्षापकर्ष निर्धारित करता है। इससे यह प्रतीत होता है कि मूल्य एक विषय-गत विशेषता या सौष्ठव है और उसमें विचारणीयता सम्भव है। विवेचन बौद्धिक ज्ञान की प्रक्रिया है और उसमें ज्ञान की सहज विशेषता— वस्तु-तन्त्र होना—विद्यमान रहती है।[2] विवेचन भावना, इच्छा क्रिया आदि से मूलतः भिन्न है क्योंकि वे सब व्यापार कर्तृ-तन्त्र हैं। और उनमें 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्' का स्वातन्त्र्य निहित रहता है। विवेचन न विषयी को व्यक्त करता है, न विषय को बनाना या बदलना चाहता है, वह यथास्थित तत्व को आत्म-निरपेक्ष रूप से खोजना और उसके सार को प्रस्तुत करना चाहता है। विवेचन तत्वावगाही और विमर्शात्मक होता है, वह आपात या प्रतीयमान रूप से अनायास सन्तुष्ट न होकर वस्तु में गहरे पैठना चाहता है और उसके सर्वाङ्गसौष्ठव को आंकता है। स्पष्ट ही यदि कोई कोई विषय अद्वितीय या अखण्ड हो तो वह विवेचन का विषय नहीं बन सकता किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी विषय के विवेचन से उसके अद्वितीय या अखण्ड स्वरूप का पता नहीं चल सकता। एक यथार्थतः अद्वितीय वस्तु अनेक अन्य वस्तुओं के सदृश प्रतीत हो सकती है और विवेचन उसकी वास्तविक अद्वितीयता को प्रतिष्ठापित कर सकता है।

१ तु० **सर्वदर्शन संग्रह** में स्वप्रामाण्यवाद पर विचार।
२ तु० 'वस्तुतंत्रं भवेज्ज्ञानं कर्तृतन्त्रमुपासनम्' (**पञ्चदशी**)।

मूल्य बोध की ज्ञानात्मकता का पक्ष :

एक ओर सुकरात आदि प्राचीन और हेगेल आदि आधुनिक 'आदर्शवादी', दूसरी ओर सन्त टॉमस आदि पुराने और मूर आदि आधुनिक 'यथार्थवादी', सभी मूल्यबोध को ज्ञानात्मक प्रतिपादित करते हैं और इस स्थापना के आधार पर मूल्यों को वस्तु-स्वरूप पर निर्भर और तद्-विषयक किसी विशेष मानवीय इच्छा आदि से स्वतन्त्र सिद्ध करते हैं। क्या सुकृत है, क्या दुष्कृत, कौन सा अर्थ सत् है, कौन असत्, इस प्रकार के संशय विचारशील व्यक्ति के मन में सहज रूप से उदित होते हैं एवं नाना विकल्पों के मध्य में कुछ को चुनने के लिये अथवा अपने वरण के सम्यक्त्व-निधारण के लिये वह एक कसौटी खोजता है जिसके आधार पर वह न सिर्फ अपने अपितु अन्यों के भी समक्ष अपने निर्णय को युक्तियुक्त प्रतिपादित कर सके। संशय, जिज्ञासा और युक्तिप्रतिपादन यह सूचित करते हैं कि किसी कार्य का सम्यक्त्व अथवा किसी वस्तु की मूल्यवत्ता को हम नितान्त निजी पसन्द न मानकर एक सर्वगम्य और विचार्य विषय मानते हैं जिसमें न केवल विप्रतिपत्ति सम्भव है अपितु उसका युक्ति द्वारा निरास सम्भव है। यदि निर्णय वस्तु-स्वरूप पर आधारित न होकर पसंद, भावना, प्रवृत्ति आदि पर आधारित हो तो पृथक्-पृथक् मत सभी समान रूप से 'ठीक' होंगे और उनमें 'विरोध', नहीं माना जा सकेगा। 'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्'। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'। पसन्द की बात में वैमत्य सहज है और आपत्तिजनक भी नहीं माना जा सकता। जहां विमति आपत्तिजनक है, वहां बात पसन्द की नहीं, जानकारी की होनी चाहिये। तात्विक बात का ही ज्ञान सम्भव है और ज्ञान के प्रयास में ही भ्रम और बाध का कोई अर्थ होता है। कर्तव्य-निर्धारण और मूल्यांकन के विषय में मत-भेद अभीष्ट नहीं होता और विरुद्ध मतों के विरोध का परिहार युक्ति-विन्यास-पूर्वक तत्व-ज्ञान के द्वारा सम्भव माना जाता है। इस विवेचन में सब समान रूप से कुशल या प्रामाणिक नहीं समझे जाते हैं। धार्मिक विवेक, कला की परख, सत्य को पहिचान, आध्यात्मिक बोध, इनमें सभी समान नहीं होते और उनकी असमानता उनमें मूल्यविषयक ज्ञान की न्यूनाधिक मात्रा के कारण समझी जाती है। तत्वज्ञानात्मक होने के कारण ही मूल्य-बोध शास्त्र का विषय बन सकता है और योग्य शिक्षा के द्वारा उसमें निपुणता का लाभ सम्भव हो सकता है।

उपर्युक्त विचार-सरणि में मूल्य बोध के विश्लेषण से मूल्य-स्वरूप का अनुमान किया गया है—मूल्य-बोध ज्ञानात्मक है इसलिए मूल्य तात्विक विषय है। मूल्य-बोध की ज्ञानात्मकता के भी विवादस्पद होने के कारण उसकी सिद्धि के लिये अन्यथानुपपत्ति रूप तर्क प्रस्तुत किया गया है—यदि मूल्य बोध ज्ञानात्मक न होता तो उसमें संशय, जिज्ञासा, बाध, भ्रम, परि-

ष्कार, वाद और शास्त्र न होते। यह ध्यान देने के योग्य है कि सामान्यतः ज्ञान के द्वारा ज्ञेय का स्वरूप-निर्धारण किया जाता है, ज्ञान के स्वरूप-विश्लेषण के द्वारा नहीं। ज्ञान-निष्ठ आकार-प्रकार विषयनिष्ठ विशेषता को निरुपित करते हैं, ज्ञानत्व-निष्ठ विशेषता नहीं। किन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है यहां ज्ञानत्व-निष्ठ विशेषता किसी विषय के स्वरूप के ज्ञान के रूप में नहीं ली जा रही है। यहां ज्ञानत्व का ज्ञान ज्ञानत्व-निष्ठ-विशेषता के द्वारा निरुपित विषयता के ज्ञान का हेतु है। ज्ञान और विषय-विषयि भाव में समव्याप्ति होती है, अतएव जो बोध ज्ञान हो उसमें विषय-निरुप्यता का अनुमान किया जा सकता है। फलतः यहां ज्ञान का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण वस्तु-निरूपण का आधार नहीं है परन्तु ज्ञानत्व और विषयत्व का सम्बन्ध स्वभावानुमान का आधार है। मूल्य-बोध-निष्ठ ज्ञानत्व हेतु है और मूल्य-बोध की सविषयता साध्य है। मूल्य-बोध में मूल्य प्रकार होने से विषय की मूल्याकारता का आक्षेप होता है। 'विषय की मूल्याकारता' मूल्य को विषय-गत विशिष्टता बना देती है।

पक्षधर्मता की सिद्धि के लिए ऊपर जो तर्क प्रस्तुत किया गया है उसमें यह अभ्युपगत है कि संशयपूर्वकता आदि व्याप्य है और ज्ञान व्यापक। सशय यह मानकर प्रवृत्त होता है कि उसकी कोटियों में कोई एक तात्विक है। संशय के उपपन्न होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके विषय में कहीं तात्विकता विद्यमान है। यह तात्विकता संशय के विषय में निष्ठ विशेष्य का अवगाहन करती है जबकि उसी विषय की प्रकारता विरुद्ध धर्मों से अवच्छिन्न प्रतीत होने के कारण संशय को जन्म देती है। 'यह ठूँठ है अथवा पुरुष ?' इस संशय में 'यह' विशेष्य है और उसकी तात्विकता संशयित नहीं है, किन्तु 'यह' के आकार 'ठूँठ' एवं 'पुरुष' परस्पर विरोधी हैं, फलतः संशय का पूर्वभाग अनवधारित या निर्विकल्पक ज्ञान कहा जा सकता है और उत्तरभाग को दो तुल्यबल विरोधी विकल्प। इस कारण संशय एक अस्पष्ट ज्ञान से उत्पन्न होकर संगत और स्पष्ट ज्ञान की खोज प्रस्तुत करता है।

संशय को इस प्रकार समझने से जिज्ञासा की सम्भावना स्पष्ट हो जाती है और इस शंका का उत्तर मिल जाता है कि जिज्ञासा न ज्ञात की सम्भव है, न अज्ञात की। जिज्ञासा ज्ञापकभूत धर्म-विशेष से अवच्छिन्न धर्मी के स्वरूप की होती है। संशय में उपस्थित विषयता की दृश्यता, कारणता आदि से अवच्छिन्न विशेष्य का पुरुषत्व आदि प्रकारतावच्छेदक धर्म जिज्ञासा का विषय होता है। उपर्युक्त संशय के उदाहरण में विषय दृश्य रूप है और उसका ठीक ठीक प्रकार क्या है, यह जिज्ञास्य बन जाता है। ज्ञान और अज्ञान, विरोध और उसके परिहार की इच्छा, ये सभी जिज्ञासा में सम्पिण्डित हो जाते हैं।

अबाधित और सविकल्पक ज्ञान के पूर्वाङ्ग के रूप में संशय और जिज्ञासा मूल्य-विषयक ज्ञान के समर्पक माने जाने चाहिए। मूल्य-विषयक नाना मतों में परस्पर प्रतिबन्धकता देखने से उनकी ज्ञानरूपता अथवा तदाभासता सिद्ध होती है।[1] यदि इस वैमत्य को केवल रुचि-वैचित्र्य, वासना-भेद या नियोग-भेद माना जाय तो एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध मूल्य एक साथ मानने पड़ेंगे। किन्तु इस प्रकार का अभ्युपगम मूल्य-बोध के अनुकूल नहीं है। मूल्यों के विषय में युक्त्याश्रयी वाद और उसके द्वारा मत-परिष्कार एवं उनके सिखाने के लिये शास्त्र-रचना तो स्पष्ट ही तभी सम्भव है जब मूल्य-बोध ज्ञानात्मक हो।

मूल्य-बोध की ज्ञानात्मकता सिद्ध करने के लिये उपर्युक्त युक्तिकलाप वस्तुतः अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त है क्योंकि मूल्य-विषयक वैमत्य में बोध, भ्रम आदि तभी उपलब्ध होंगे जब मूल्य-विषयक मत ज्ञान हो। अन्यथा मूल्य विषयक संशय को व्यामोह, जिज्ञासा को दिग्भ्रान्त, बोध की प्रतीति को मनोवैज्ञानिक विचलन एवं सामाजिक वैमत्य का द्योतक, भ्रम की प्रतीति को मत-परिवर्तन, वाद और शास्त्र को भ्रान्त प्रयत्न मानना होगा। मूल्य के विषय में हमारी प्रवृत्ति इस प्रकार की हो सकती है जैसे तब होती जब कि मूल्य तात्विक और ज्ञानगम्य विषय होते। किन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति भ्रान्त हो सकती है। मूल्यों के अतात्विक और उनके बोध के ज्ञानभिन्न होते हुए भी वस्तुस्थिति के विपरीत मूल्य-बोध के विषय में भ्रम हो सकता है। अचेतन मन की, अथवा समाज की प्रेरणाएं अपौरुषेय नियोगों के रूप में, सामाजिक एवं वैयक्तिक रुचि सौंदर्य के रूप में प्रकट हो सकती है। हमारे प्रचलित दृष्टिकोण मूल्य-बोध का ठीक विश्लेषण ही नहीं करते हों तो वे इस विश्लेषण के आधार पर मूल्य के स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न कर विशेष कल्पना का परिचय देंगे। यह भी स्मरणीय है कि 'विषयता' सिर्फ ज्ञान में ही नहीं होती अपितु इच्छा और कृति, राग और द्वेष में भी होती है। इन ज्ञान-भिन्न मानसिक वृत्तियों को न ज्ञानशून्य कहा जा सकता है, न निर्विषय। इनमें विद्यमान ज्ञानलेश के द्वारा इनकी सविषयता व्याख्यात हो सकती है और मनुष्य के स्वहृदय-कल्पित विषयों के सत्यत्व के आग्रह के निगूढ व्यापार द्वारा काम्य और अभिमत अर्थों का तात्विकवत् प्रतिपादन समझा जा सकता है। यह ठीक है कि इच्छा आदि के विषय ज्ञान के विषयों के सदृश नहीं है क्योंकि जहां ज्ञान के विषय तात्विकतया ज्ञेय होते हैं, इच्छा आदि के विषय साध्यतया और अतएव कल्पिततया।

---

१ तु० मूअर, ऐथिक्स, पृ० ५० प्र० १।

मूल्यों की विषयात्मकता का पक्ष :

वास्तव में मूल्यों की वैषयिकता का आधुनिक पक्ष उनकी वैषयिकता को पुरस्कृत कर उनकी तात्विकता को अनुक्त रूप से प्रतिपादित करना चाहता है। प्राचीन ग्रीक विचार-धारा अधिक स्पष्ट थी, उसमें मूल्यों की तात्विकता को उनकी प्रमिति-विषयता के समानाधिकरण मानकर ही तर्क प्रस्तुत होता है। चूंकि प्रमा को अकाट्य हेतु पर आश्रित बौद्धिक अध्यवसाय माना जाता था, उसका विषय इन्द्रियातीत और प्रत्यक्षातीत मानना होता था। इस प्रकार मूल्यों को हेतु-प्रतिपाद्य शास्त्रविषय मानने से ही सुकरात ने उन्हें बुद्धिगम्य और तात्विक विषय सिद्ध किया है। जर्मनी में इस तात्विक विषयता की अस्तित्वशून्यता का विशेष रूप से सामना किया गया। "मूल्य है नहीं, किन्तु मूल्यवत्ता सार्थक है" इस नवीन विचार-धारा ने ब्रेन्टानों के द्वारा पुनरुज्जीवित मध्यकालीन 'संविषयता' के सिद्धान्त का सहारा लिया। ज्ञान अपने से भिन्न 'विषय' का आक्षेप करता है और उसके द्वारा ही परिभाषित होता है। 'विषय'-गत तात्विकता अस्तित्वशून्य भी हो सकती है क्योंकि वह देश-कालादि निरपेक्ष विशुद्ध भावमयी हो सकती है।[१] 'भाव' और 'अस्तित्व' का यह भेद प्राचीन 'भाव' (उसिया) और 'भव' (गेनेसिस) के सदृश है। इसी प्रकार मूर के मत में मूल्य तात्विक और प्रमेय विषय होते हुए भी अस्तित्वशाली प्राकृतिक विषय नहीं हैं। वे स्व-विषयक ज्ञान पर अनाश्रित किन्तु वस्तु-स्वभाव पर आश्रित हैं। वस्तु-स्वभाव पर आश्रित होते हुए भी वे वस्तु-स्वभाव के अंग नहीं हैं, स्व-विषयक-ज्ञान-निरपेक्ष होते हुए भी वे ज्ञान-निरपेक्ष नहीं हैं।[२] मूर के इस मत में स्पष्ट ही गौरव है और स्वतन्त्र प्रमाण का अभाव भी। मूल्य-प्रतिपादक वाक्यों की ज्ञान-प्रतिपादक वाक्यों के साथ समानाकारता के आधार पर मूल्य-प्रतिपत्ति को ज्ञान, और मूल्यों को तत्वाश्रित विषय कहना समानाकारता से तादात्म्य सिद्ध करने के बराबर है और यह भी भूल जाना कि हम अपने बोध को भ्रान्ति से ज्ञान मानकर उसे ज्ञान वाक्य सदृश वाक्यों में व्यक्त कर सकते हैं।

ऐसा लगता है कि मूर मूल्यत्व को एक अनिर्वचनीय जाति-विशेष मानते हैं जो मूल्यात्मक गुण में रहती है। मूल्यात्मक गुण पीतवत् ज्ञान-बाह्य तारतम्य-युक्त और वस्तु-परतन्त्र हैं। किन्तु 'पीत' से इस बात में

---

१ मूल्य में इस प्रकार की विषयता का प्रतिनिधित्व माइनौंग (पिछले दिनों में), हुसर्ल, शेलर, ऑर्तेगा यि गैसे आदि करते हैं—द्र० फ्रौंडिजी, पूर्वोद्धृत, पृ० ३६ प्र०।

२ मूअर, फिलोसौफिकल स्टडीज, पृ० २५३ प्र०; तु०, मूअर, प्रिन्सिपिया ऐथिका, पृ० ३४–३५।

भिन्न है कि वह स्वयं वस्तु-स्वभाव का अंग नहीं है। मूल्य और वस्तुस्वभाव का सम्बन्ध इस विवरण में स्पष्ट नहीं हो पाता। उनमें न तादात्म्य है, न कार्य-कारण-भाव है, न आधाराधेय-भाव, न अंगागिभाव है। मूल्य वस्तु का स्वरूपापेक्ष नित्य गुण है, किन्तु स्वरुप का अंग नहीं है, इन दो बातों में अपरिहार्य विरोध प्रतीत होता है क्योंकि साधारणतया स्वरुपगत गुण ही वस्तु के नित्य गुण माने जाते हैं और शेष नैमित्तिक और अनित्य। सम्भवतः मूल्य को वस्तु का गुण न मानकर उसके स्वरूप का स्तरान्तरीय 'गुण' मानना चाहिये। किन्तु यहां भी मूल्य को वस्तुगत गुणों की विशेषता नहीं समझना चाहिये क्योंकि गुणों की विशेषता गुणों के अन्तर्गत ही होती है और उन्हें वस्तु-स्वरुप के बाहर नहीं माना जा सकता। प्रस्तुत मत में मूल्यवान् वस्तु के ज्ञान की प्रकारता के दो अवच्छेदक हो जाते हैं जिनमें एक तो पीतत्वादि धर्म वस्तु-समानाधिकरण है, दूसरा मूल्यत्व रूप धर्म वस्तुव्यधिकरण है। इस प्रकार मुल्यवान् वस्तु का एक अवच्छेदक व्यधिकरण धर्म हो जाता है। शायद यह कहना ठीक होगा कि मूल्यवान् वस्तु स्वभावतः अपने स्वभाव से अतिरिक्त मूल्य-रूप अन्य धर्म की ज्ञापक होती है। किन्तु इस ज्ञापकता को एक सहजसिद्ध अपर्यनुयोज्य धर्म मानने में भी निश्चित रूप से गौरव होगा।

इन कठिनाइयों से बचने के लिये लेयर्ड आदि विचारकों ने मूल्यों को वस्तु-गत धर्म ही मान लिया है।[1] जैसे पीतादि धर्म वस्तु को विशेषित करते हैं, ऐसे ही सौन्दर्य आदि भी। लौक ने पीतादि को मौलिक धर्मों पर आश्रित किन्तु अनुभव के साक्षाद्विषयभूत धर्म कहा था। लेयर्ड सौन्दर्य आदि को 'तृतीय' धर्म कहते हैं। इसके विपरीत इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'प्राथमिक' और 'द्वितीय' गुणों के कारण और प्रमाण स्पष्टतः विदित हैं, जबकि 'तृतीय गुणों' के विवादस्पद हैं।

मूल्य और सत्ता :

यदि मूल्य-विषयक बुद्धिवाद ठीक दृष्टि है और मूल्य परिज्ञेय-स्वरूप पदार्थ हैं तो यह भी समझा जा सकना चाहिए कि उनकी प्रमेयता किस प्रकार की है और किन प्रमाणों के द्वारा उनकी उपलब्धि होती है। ऊपर मूल्यों की 'शुद्ध विषयता' या 'आदर्श भाव' पर विचार किया गया था ह्यूम और कान्ट के बाद से मूल्य सत्ता-रहित और दुर्ज्ञेय हो उठे हैं।[2] कुछ ने मूल्यों के अनस्तित्व को विज्ञान से बचाव का साधन और कुछ ने मूल्यों की तुच्छता' का प्रमाण समझा इसके विपरीत मध्यकालीन बुद्धिवादी परम्परा मूल्यों को परिनिष्ठित या परिपूर्ण सत्ता मानती थी। सत्ता का सामान्य अर्थ द्रव्यसत्ता होता है। स्पष्ट ही मूल्य को द्रव्य नहीं कहा

१ लेयर्ड, एस्टडी इन रीयलिज्म, अध्याय ७।

२ तु० सैबाइन, ए हिस्टरी ऑव पोलीटिकल थियरी, पृ० ५९८-६०१; क्लिबान्स्की पूर्वोद्धृत, पृ० ४।

जा सकता क्योंकि द्रव्यत्व समवायि-कारणतावच्छेदक होता है और इस प्रकार की सत्ता का मूल्य स्वतः न होकर स्वाश्रित-धर्म अथवा स्वकार्य द्वारा ही हो सकता है क्योंकि उसका ज्ञान ही तद्द्वारा होता है। अरस्तू ने उपादानीय सत्ता को असत् के समकक्ष रख दिया था क्योंकि शक्तिरूप होने से उसका स्वरूप अव्यक्त सम्भावना मात्र रहता है। उपादान का मूल्य उस रूप में होता है जिसके लिये उसे गढा जाता है और जिसका निष्पादन किसी प्रयोजन की सिद्धि करता है। निष्पाद्य रूप अथवा तद्‌त-सौष्ठव स्वविषयक मानसबोध के रूप में साध्यतावच्छिन्नतया प्रयोजक हेतु बनता है। कारण तथा अनुमित उपादान स्वयं अरूप और अप्रत्यक्ष रहता है, केवल उसके सामर्थ्य का ज्ञान होता है। फलतः उपादान की इष्टता केवल साधनरूप में ही हो सकती है। अतएव स्वतोवरणीयत्व अथवा स्वरूपेण इष्टत्व-रूप मूल्य का लक्षण उसमें अव्याप्त रहता है।

इसके विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि जो साध्यतया इष्ट होता है वह स्वरूपतया इष्ट नहीं कहा जा सकता क्योंकि साध्यत्वबोध में इष्ट-वस्तु के अभाव का बोध होता है। अस्तित्व-निरपेक्ष होने पर स्वरूपसत् मूल्य की चिन्तनमात्र से प्राप्ति हो जानी चाहिये, उसमें निष्पाद्यता अथवा प्रयोज-नीयता का बोध न होना चाहिये। निष्पाद्यता का बोध मूल्य-स्वरूप की अस्तित्वापेक्षा सिद्ध करता है। सभी मूल्य किसी न किसी प्रकार की साधना की अपेक्षा करते हैं। अतएव उनकी सत्ता स्वरूप-विश्रान्त न होकर अपने स्वरूप में वस्तुभाव की अपेक्षा लिये रहती है। अपेक्षित मूल्यों की स्वरूपसत्ता सम्भावनामात्र सिद्ध होती है जोकि औपादानिक वस्तु-सत्ता की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार उपादान और रूप, वस्तु और स्वभाव, सत्ता और तत्त्व, कारित्र और लक्षण को परस्परापेक्षी ही समझा जा सकता है। विभक्त-तया वे यथार्थता अथवा द्रव्यसत्ता से च्युत होकर सम्भावना मात्र बन जाते हैं।[1]

यह आपत्ति की जा सकती है कि सत्ता एक सर्वव्यापक प्रत्यय है और सम्भावना उसका मूल एवं विराट् रूप।[2] कारित्रयुक्त वस्तुत्व सत्ता की केवल

---

१ यह स्मरणीय है कि आदर्श-सत्तावादियों की दृष्टि से मूल्य न यथार्थ पदार्थ हैं, न साध्य पदार्थ। ये बुद्धिगम्य स्वरूपसत्ताएँ हैं जो व्यवहार की दृष्टि से सम्भावनाएं हैं, न कि स्वरूप की दृष्टि से।

२ कान्ट ने कहा था कि "सत्ता स्पष्ट ही कोई वास्तविक विधेय नहीं है····वह किसी अर्थ की विकल्पनामात्र है, उद्देश्य और विधेय का संयोजनमात्र है' ····यदि सत्ता को शुद्ध विकल्पों से ही अध्यवसित किया जाए तो इसमें कोई विस्मय नहीं है कि हम सत्ता को सम्भावना मात्र से अलग कर सकने की कोई कसौटी न प्रस्तुत कर पाएँ (**ए क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न,** पृ० ३५०-५१) रसैल ने भी सत्ता को विषय का तथात्व - अवधारणमात्र कहा है (**प्रिन्सिपिया मैथेमैटिका** जि० १, पृ० १७४)। अद्वैत में सत् के प्रतिभास को सर्वविषयक किन्तु सत् को सर्वाधिष्ठान या सर्व विकल्पास्पद कहा गया है। न्याय में न सत्ता सर्वविषयक है, न भाव।

कालिक आयाम में अभिव्यक्ति है। मूल्य-स्वरूप में कारित्र किसी प्रकार का योग अथवा अतिशय नही देता, यह बात दूसरी है कि यदि कारित्रविशेष ही मूल्यत्वेन अभिमत हो, तब तो कारित्र के अभाव में मूल्य का अवश्य ही अभाव हो जाएगा। किन्तु वस्तुतः कारित्र भोगार्थक भले ही हो सकता है, मूल्यात्मक तो तद्गत सौष्ठव ही पहिचाना जाता है। फलतः मूल्य की विशेष्यभूत सत्ता पुनः देश-कालमुक्त सम्भाव्य-मात्र विशुद्ध आकारिक सत्ता सिद्ध होती है, न कि द्रव्यात्मक।

इसके उत्तर में यह कहना युक्त होगा कि कारित्र को सत्ता का औपाधिक रूप मानना ही उपपन्न नहीं हैं क्योंकि सत् का असत् से भेद ही अपनी सामर्थ्य के कारण होता है। सम्भावना के विषय में अस्ति और नास्ति, विधि और प्रतिषेध, दोनों का ही संयोग हो सकता है। फलतः सम्भावना को कल्पनात्मक अर्थात् विकल्पविषयात्मक मानना होगा। और चूँकि सत्ता का अभाव न केवल कल्पनीय अपितु प्रसिद्ध है, सत्ता को सर्वव्यापक प्रत्यय नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः प्रत्ययमात्र एक अपोहात्मक कल्पना है जो व्यावहारिक सार्थकता की दृष्टि से वस्तु-विभाजन के द्वारा अर्थ-विश्व का उद्दीपन करती है। इस प्रकार प्रत्ययत्व केवल विकल्पत्व और प्रत्येयत्व केवल विकल्प-विषयत्व अथवा शब्दार्थत्व ठहरते हैं। प्रत्यय, विकल्पना, सम्भावना, परिच्छेद, अध्यवसाय, शब्दत, अभिधान, ये सब समान क्षेत्र में व्याप्त और एक ही व्यापार के पक्ष हैं। इस प्रकार यदि मूल्य सम्भाव्य आकार हैं तो वे किसी प्रयोजन-सन्दर्भ के अन्तर्गत विकल्प होंगे और इस प्रकार परम्परया अस्तित्व से सम्बद्ध।

विचार और व्यवहार में उनकी स्पष्ट प्रतीति होने के कारण मूल्य न असत्कोटिक हो सकते हैं, न अव्यक्ततया अनिर्वाच्यकोटिक। उन्हें सत्कोटिक अथवा विशिष्ट सत्तात्मक होने के लिए तत्व और कारित्र का संयोग होना होगा क्योंकि ऊपर निर्दिष्ट युक्ति से यही तात्विक प्रमेयता है। यथार्थ ज्ञान की स्थिति में न केवल यह आवश्यक है कि विषयता का प्रकार विषयनिष्ठ हो प्रत्युत यह कि उसकी उद्देश्यता सत्ता से अवच्छिन्न हो। बोध के ज्ञानात्मक होने के लिए यह आवश्यक है कि वह वस्तुतन्त्र हो, जो तभी सम्भव है जब वस्तु सदात्मक होगी अर्थात् स्वरूपविशिष्ट और कारित्र-विशिष्ट होगी। ज्ञान के यथार्थ होने के लिये उसके द्वारा निरुपित प्रकार का विषयनिष्ठ होना आवश्यक है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान का अर्थ हुआ सदात्मक-वस्तु-निष्ठ-प्रकारताशाली ज्ञान। उसके विषय में भी सत्ता और प्रकारता का तादात्म्य आवश्यक है।

पूर्णता का प्रत्यय :

एक मत है कि विभिन्न प्रकार सत्ता के ही विभिन्न आत्मलाभ अथवा आत्मप्रकाश हैं और उन्हें सत्ता की पूर्णता अथवा स्वरूप के प्रकाश की तारतम्य में अवस्थित स्थितियां कहा जा सकता है। सत्ता की पूर्णता का प्रत्यय उसके प्रकार की पूर्णता अथवा अनन्तता का आक्षेप करता है और प्रकार की आदर्शता अथवा पूर्णता सत्ता का आक्षेप करती है। परिच्छिन्न-प्रकारक सत्ता और सत्ताहीन प्रकारता दोनों ही अपूर्णता से ग्रस्त एवं परममूल्यत्व पद के अनर्ह होंगी। पूर्णता को सत्ता की 'मात्रा' अथवा सत्ता को पूर्णता का अंग मानने पर पूर्ण सत् अथवा सत् पूर्ण ही मूल्य ठहरता है। फलतः मूल्य को परिच्छिन्न द्रव्य भले ही न कहें, उसे स्वतः सिद्ध अर्थात् स्वहेतुक एवं स्वलक्षण वस्तु अवश्य ही कहना होगा जोकि मध्यकालीन योरोप में 'द्रव्य' का लक्षण था। इस प्रकार का लक्षण केवल ईश्वर में घटता है। वही अपनी सत्ता और ज्ञान का स्वयं हेतु होने के कारण पूर्ण स्वतन्त्र है।

वस्तुतः पूर्णता के प्रत्यय में सत्ता के प्रत्यय का अन्तर्भाव इतना ही सिद्ध करता है कि यदि कोई वस्तु पूर्ण होगी तो वह सत्ताशाली भी होगी, वह यह सिद्ध नहीं करता कि कोई वस्तु पूर्ण है ही या होगी ही।[1] पूर्णता के प्रत्यय के विषय में प्रकारता के वृत्तित्व से युक्त उद्देश्य कम से कम लोकप्रसिद्ध तो नहीं है। तथ्य यह है कि पूर्णता का प्रत्यय निर्दोष-गुणवत्ता का आदर्श अथवा पर्यन्त-प्रत्यय है। 'सत्ता' शब्द भी इस सन्दर्भ में द्व्यर्थक हो जाता है—जब हम किसी प्रमाणसिद्ध वस्तु को अपूर्ण ठहराते हैं तो उसकी सत्ता पूर्णत्व से भिन्न उसकी विद्यमानता अथवा कारित्र होती है; पर हम जब अपूर्ण वस्तु को असत् अथवा 'अधूरा' सत् कहते हैं तो सत्ता आदर्शानुरूपता हो जाती है। उदाहरण के लिए पहला अर्थ लेने पर मनुष्य में अज्ञान की सत्ता निर्विवाद है, दूसरे अर्थ में असत्य अथवा अनिर्वचनीय। सत्ता का दूसरा अर्थ उसे एक आदर्श प्रत्यय बना देता है जिसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—'जिस रूप से वस्तु को होना चाहिए उसी रूप से उसकी विद्यमानता अथवा कारित्र।' इस आदर्शरूपभाविता के स्थान पर कुछ लोग स्वरूपभाविता भी कहते हैं। किन्तु चाहे स्वरूप ही आदर्श हो अथवा आदर्श ही स्वरूप हो, दोनों विकल्पों में स्वरूपभाविता आदर्शरूपभाविता ही हो जाती है।

यदि पूर्णता एक आदर्श प्रत्यय है तो उसके प्रतियोगी अपूर्ण पदार्थ को भी स्वीकार करना होगा। ऐसे ही सत्ता को 'आदर्श के अनुरूप भाव'

---

१ तु० कान्ट, पूर्वोद्धृत, पृ० ३४६-५२, जहां 'औन्टोलोजिकल प्रूफ' (ईश्वर-सत्ता की पूर्णताहेतुक सिद्धि) का खंडन किया गया है।

मानने पर 'आदर्श के अननुरूप भाव' को भी स्वीकार करना होगा। फलतः यहां आदर्श और यथार्थ, सत्ता और भाव का द्वैत अनिवार्यतया उपस्थित हो जाता है। 'पूर्णता' और 'पूर्णसत्ता' दोनों ही आदर्श प्रत्यय हैं और उनकी सार्थकता अपूर्ण पदार्थों के भाव को आंकने में है। आदर्श और यथार्थ के इस प्रकार दो पृथक् कोटियों में बंट जाने पर मूल्य को स्पष्ट ही आदर्श कोटि में रखना पड़ेगा और उसे प्रसिद्ध अर्थ में सत्तात्मक नहीं कहा जा सकेगा। प्रसिद्धतया सत्ता का प्रत्यय वस्तुओं का स्वरूप-निरपेक्ष, कारित्र-मात्रावस्थित सामान्य या संग्राहक प्रत्यय है जबकि मूल्य का प्रत्यय उनका स्वरूपसापेक्ष, अतिशयावस्थित, विशेषक या व्यवस्थापक प्रत्यय है।

पूर्णता का ऊपर अर्थ निर्दोष-गुणवत्ता किया गया था। इसके भी दो विकल्प हैं--एक में पूर्णता खण्ड प्रत्यय होगी, दूसरे में अखण्ड प्रत्यय। प्रत्येक द्रव्यसत् पदार्थ में जाति, आकृति और व्यक्ति का समावेश होता है और पूर्णता जातीय, आकृतिक एवं व्यक्तिगत गुणों की हो सकती है। इस प्रकार की पूर्णता पदार्थ की व्यवच्छेदक और निर्मापक सीमाओं या अवधारणाओं का अतिलंघन नहीं करती। इसे खण्ड पूर्णता कह सकते हैं और यह प्रत्येक पदार्थ की अपनी अपनी होगी। प्लेटो के 'सामान्य' इन्हीं खण्ड पूर्णताओं के मान हैं। दूसरी ओर खण्ड पदार्थों में कुछ लक्षणों का भाव अन्य के अभाव के साथ होता है। यदि अभावमात्र को दोष माना जाय, तो पूर्णता अखण्ड और अनन्त भावमयी होगी। खण्ड पूर्णता अथवा खण्ड पदार्थ के स्वाभाविक उत्कर्ष को सर्वत्र मूल्य कहने पर वर्तुल वृत्त, कठोर पाषाण, और गोबी के मरुस्थल को स्वतः मूल्यवान् कहना होगा। खण्ड पदार्थ के आत्मा अथवा स्वतन्त्र चेतना होने पर उसकी पूर्णता, जोकि व्यक्तिगत होती है, अवश्य ही मूल्य की कोटि में आती है। मनुष्य की पूर्णता मानवीय गुणों के उत्कर्ष में निहित मानी जा सकती है। इस प्रकार की पूर्णता के लिये बौद्ध शब्द 'पारमिता' उपयुक्त होगा जो कि इस पूर्णता के साधन-लब्ध एवं स्वातन्त्र्य विकासापेक्षी रूप पर जोर देता है। मानवीय पूर्णता सहज-सिद्ध न होकर साध्य होती है। जहां मानवीय पूर्णता के आदर्श में न सिर्फ मूल्य के लक्षण घटते हैं अपितु उसकी मूल्यता निर्विवाद है, मनुष्य में असम्बद्ध विश्व की पूर्णता एक तटस्थ तथ्यमात्र हो सकती है। यह बात दूसरी है कि द्रष्टा के रूप में मनुष्य इस प्रकार के विश्व की पूर्णता से चमत्कार का अनुभव कर सकता है, जैसे क्रिस्टलोग्राफी में। किन्तु यहां भी ज्ञान और जिज्ञासा के द्वारा मानव-सम्बद्धता और एषणाविषयता का आभास होता है। फलतः यह कहना उचित होगा कि मानवीय पूर्णता उन विषयों में होने के कारण मूल्य है जो मानवीय पर्येषणा के साध्य हैं। इस प्रकार पूर्णता मूल्य का लक्षण नहीं है प्रत्युत एक विशेष प्रकार की पूर्णता मूल्य कोटि के अन्तर्गत है।

अखण्ड पूर्णता को यदि केवल भावमयी कहा जाय तो वह निर्विशेष

होगी। हेगेल की प्रसिद्ध आपत्ति है कि निर्विशेष भाव को निर्विशेष अभाव से ही विशेषित नहीं किया जा सकता।[1] उसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि अभाव एक प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है और स्वतन्त्र नहीं होता जबकि भाव इस प्रकार की अपेक्षा नहीं रखता। वस्तुतः अनुपलब्धि एक प्रकार का अनुमान है जो कि प्रत्युपस्थित भाव को बुद्धिस्थ भाव से व्यावर्तित करता है। यह व्यावर्तन विकल्पात्मक बुद्धिव्यापार है जो अन्ततः भावनानात्व पर आश्रित है। इस प्रकार भाव और अभाव समकोटिक अथवा समान पदार्थ नहीं हैं। परस्पर प्रतियोगी होने के कारण उनका तादात्म्य असंगत है और उसके लिए निर्विशेषता रूप हेतु अपर्याप्त है। हेगेल का वास्तविक तात्पर्य यह है कि भाव और अभाव सविशेष रूप से खण्ड वस्तुओं में मिलते हैं, उनसे भावमात्र अथवा अभाव मात्र का उद्ग्रहण कर उसका तात्विकीकरण न्याययुक्त नहीं है क्योंकि यह प्राचीन एलियाटिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध असंगतियों एवं प्रसंगों को जन्म देता है।[2] उदाहरण के लिये 'भाव अभाव नहीं है', यह वाक्य ही असंगत हो जाएगा क्योंकि इसमें भाव को एक प्रकार के अभाव का (अभाव के अभाव का) अधिकरण बताया गया है। प्रतियोगिता एवं अधिकरणता के द्वारा अभाव भाव की अपेक्षा करते हुए भाव का अन्तर्गत विशेष अथवा उसका स्वगत भेद सिद्ध होता है। फलतः अखण्ड भावमयी सत्ता निर्विशेष न होकर स्वगत अनन्त विशेष से विभूषित होगी और भावमात्रता को पूर्णता न कह कर भावसम्पदा को पूर्णता कहना होगा। इस अर्थ में पूर्णता फिर से उपर्युक्त आदर्श प्रत्यय बन जाती है।

भाव की अभावापेक्षा नित्य हो अथवा अनित्य, केवल भावमयी सत्ता निरंकुश कल्पनासिद्ध हो अथवा सत्ता का अखण्ड, नित्य, अनन्त सत्तारूपी आदर्श, प्रत्येक स्थिति में इसे मूल्यत्व से पृथक् रखना पड़ेगा क्योंकि हम मूल्यवान् की सत्ता को मूल्यवान् मानते हैं, केवल सत्तावान् को मूल्यवान् नहीं मानते। और केवल 'भावमयी (=अभावमुक्त) सत्ता' अथवा सत्तासामान्य कल्पनासिद्ध प्रत्यय भी है और मूल्यत्व का स्वतः अनधिकरण भी।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल्यत्व को सत्ता या सत्ताश्रित लक्षण-द्रव्यत्व, पूर्णत्व, परमसामान्यत्व अथवा भावघनत्व-नहीं कहा जा सकता। द्रव्य कारणत्व से परिभाषित होता है और परतन्त्र हो अथवा स्वतन्त्र, वह क्रिया के सामर्थ्य को इंगित करता है न कि क्रिया के उद्देश्य को जो कि मूल्यान्वयी होता है। कारित्र रूप होने के कारण सत्ता भी द्रव्यकोटिक ठहरती है और भाव समानावस्थ। अपोहात्मक होने से बुद्धि के कल्पनात्मक व्यापार पर आश्रित सामान्य और आदर्श प्रत्यय होने के कारण पूर्णता दोनों ही वस्तु-स्वभाव का बुद्धिस्थ मान ठहरते हैं। इनमें

१ हेगेल, एनसाइक्लोपेदी, पृ० १०७।
२ द्र० प्लेटो, पारमेनिडीज़ (प्लेटो, जि० २, पृ० ६७ प्र०; १२५ प्र०)

से किसी भी विकल्प के सहारे मूल्य बुद्धि-व्यतिरिक्त स्वतन्त्र विषय नहीं बन पाते।

मूल्यों की आत्मसंबद्धता :

यही स्थिति पीतादि गुणों की है जो वस्तुगत, कारण-परतन्त्र और आपातग्राह्य होते हैं। ऊपर मूल्य में स्वीकृत विशिष्ट मानवीय गुण इसके विपरीत हैं। शौर्य आदि अथवा ओज आदि गुण पुरुष अथवा उसके काव्यादि कृतित्व के स्वतन्त्र अथवा स्वतन्त्रवत् गुण प्रतीत होते हैं और उनका ग्रहण विचारपूर्वक होता है। उनके ग्रहण में ग्रहीता आपात विषयों के द्वारा व्यंग्य वस्तुपरिप्लावी ऐसे 'गुण' का साक्षात्कार करता है जो कि उसके अन्तस्थ मान का प्रतिफलन प्रतीत होता है। सामान्य श्रोता संगीत-प्रवाह में स्वर-संस्पर्श की सामान्य रंजकता का अनुभव करता है जबकि गुणी उसमें रागादि के विशिष्ट निर्वाह को परखता है। पीतादि प्रकृति-परिणाम के अंग हैं, उनका ग्रहण सहज रूप से होता है और उनका निरूपण 'अभिधान' अथवा अनुकृति के द्वारा किया जाता है। मूल्यान्वयी गुण स्वातन्त्र्य के उन्मेष होते हैं और उनका ग्रहण एक संस्कारवान् विवेक की परख पर निर्भर करता है। उनका निरूपण सांकेतिक अभिव्यक्ति के सहारे होता है और उनकी चेतना दर्पणायमान आलम्बन के माध्यम से आत्मोन्मुखी होती है। इसी लिए मूल्यबोध अनिवार्यतया आत्मसम्बद्धता से युक्त होता है। वह चेतना का तटस्थ ज्ञान के आयाम से भिन्न आयाम है जिसमें चेतना एक अन्तर्बाह्य दशा में होती है और जिसमें खोज और उपलब्धि, लगाव और परख, का द्वन्द्व सक्रिय होता है।

यद्यपि जड़ प्रकृति अथवा उसमें अन्तर्निहित तत्व अपने विदित रूप में चैतन्य-निरपेक्ष नहीं कहे जा सकते, तथापि ज्ञेयतया चैतन्याक्षेपी होते हुए भी वे स्वयं आत्मबोध आक्षेप नहीं करते जबकि मूल्यबोध में एक अनिवार्य आत्मसम्बद्धता रहती है। जहां विषय केवल बोध का आक्षेप करते हैं, बोध उभयाक्षेपी होता है, विषयाक्षेपी भी और आत्माक्षेपी भी। अतएव मूल्य की नित्य आत्मसम्बद्धता उसे बोध-कोटि में डाल देती है। जहां मूल्य-बोध की ज्ञानात्मकता और ज्ञानात्मक बोध की स्वनियामकविषयाक्षेपिता पर आग्रह मूल्य को एक चेतना-निरपेक्ष बाह्य विषय बनाकर एक मरीचिका का अनुसन्धान प्रवर्तित करता है, मूल्यों की आत्माक्षेपिता उन्हें बोध के रूप सिद्ध करती है।[1]

१ 'इन्टैन्शनैलिटी' या ज्ञान की विषयिता (=सविषयता) विषय की प्रतीयमान ज्ञानभिन्नता को तात्विक नहीं सिद्ध करती। स्वप्न में चित्त के ही अभिप्राय बाह्य पदार्थ के रूप में सृष्ट होते हैं। वस्तुतः विषय-विषयि-भाव एकरूप न होकर भूमियों में अनेकधा व्यवस्थित है जिनमें जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय का भेद सुविदित है।

मूल्य और प्रत्ययवाद :

ऊपर के विचार से यद्यपि यह सिद्ध होता है कि मूल्य स्वतन्त्र विषय अथवा द्रव्यसत् पदार्थ नहीं हो सकते, तो भी बुद्धिवाद का एक पक्ष शेष रहता है कि मूल्य बुद्धि-कल्पित प्रत्यय माने जा सकते हैं—वस्तुओं के आकार अथवा स्वरूप के आदर्श-प्रत्यय अथवा उनके सारग्राही सामस्त्य-प्रत्यय। ये प्रत्यय उन मानों को प्रस्तुत करते हैं जिनमे वस्तुओं का मूल्यांकन होता है। इस मत में वस्तु-ज्ञान के दो स्तर अभिप्रेत हैं—एक प्रत्यक्ष, ग्रहणात्मक, खण्ड आभास, दूसरा बौद्धिक अध्यवसाय के द्वारा एकान्वयी प्रत्यय। पहले में अधूरापन और अनिश्चितता रहती है और उनका दूसरे में सुधार होता है। दूसरे स्तर का प्रत्यय मानों पहले स्तर के बोध के विषय के लिये मान प्रस्तुत करता है। आदर्श, मान अथवा मूल्य ऐसा बौद्धिक प्रत्यय है जो वस्तु के प्रतीयमान रूप में अन्तर्निहित उसके सत्य को प्रकाशित करता है। किन्तु इसके विपरीत यह स्मरणीय है कि विकल्प-प्रत्यय को प्रत्यक्ष का व्यवहारोपयोगी संस्करण भले ही मान लिया जाय, उसे वस्तु के अन्तःसत्य का ग्राहक किस प्रकार माना जा सकता है? वस्तु का अभ्रान्त प्रत्यक्ष के साथ नियत सम्बन्ध होता है, न कि शब्द-संकीर्ण बौद्धिक प्रत्ययों के साथ, जिनकी उत्पत्ति में संस्कारजन्य कल्पना का भी हाथ रहता है। ये प्रत्यय वस्तु-तत्व उपस्थित करने के स्थान पर उसके प्रविभाग-संविभाग उपस्थित करते हैं और उनका प्रामाण्य उनकी व्यवहारोपयोगिता ही है। बौद्धिक प्रत्यय व्यावहारिक विषयों के संकेत हैं, न कि वस्तुओं के शुद्ध अथवा मूल स्वरूप। प्रत्यय और वस्तु में यदि किसी को मान कहा जाय तो वस्तु को ही प्रत्यय का मान कहना चाहिये क्योंकि वस्तु स्वतन्त्र है जबकि प्रत्यय वस्तु-तन्त्र है। ऐसी स्थिति में यदि मूल्य वस्तुगत नहीं है तो वह प्रत्ययगत कैसे हो सकता है? और यदि वह तथापि प्रत्ययगत है तो स्पष्ट ही वह बुद्धि के ज्ञानातिरिक्त कल्पनात्मक व्यापार की प्रसूति होगा। कल्पनात्मक आदर्श अथवा मूल्य वस्तु को आदेश नहीं दे सकते, वे केवल मानव-कर्म को निर्देश दे सकते हैं। वस्तु को क्या होना चाहिए, इसका कोई अर्थ नहीं है क्योंकि वस्तु जो होती है हेतु-नियत रूप से अनिवार्यतया होती है। मनुष्य को क्या करना चाहिए, यह अवश्य सार्थक है। फलतः आदर्श मानवीय लक्ष्यों की कल्पनाएं सिद्ध होती हैं। ये लक्ष्य वैज्ञानिक अध्यवसाय अथवा अनुमान के विषय न होकर विवेकात्मक ज्ञान के विषय हैं किन्तु ये ज्ञानमात्र के विषय नहीं है अपितु इनमें इच्छा, कृति एवं प्रयत्न की विषयता आवश्यक रूप से है। इस प्रकार मूल्यों को बौद्धिक प्रत्यय न कह कर साध्य-कल्पनाएं एवं बुद्धि-गम्य तत्व न कह कर विवेक-सम्मत लक्ष्य कहना समीचीन होगा।

वस्तुतः बुद्धिवादीगण बुद्धि शब्द का अनेकार्थक प्रयोग करते हैं। मानस-प्रत्यक्ष, अध्यवसाय, अनुमान, शाब्द-बोध, प्रतिभा या विवेक सभी विभिन्न प्रसंगों में बुद्धि-संगृहीत हुए हैं । इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में विषय प्रदत्त, असंस्कार्य और तात्कालिक होता है, एवं विषय का बोध होते हुए भी बोध का प्रामाण्य अथवा विषय का वैशिष्ट्य अनालोचित और अनवगाहित रहता है। बौद्धिक ज्ञान के विचारपूर्वक होने के कारण उसका विषय विश्लेषण-संश्लेषण आदि से संस्कार्य होता है और उसका ज्ञान विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही और प्रामाण्यावगाही होता है। प्रत्यक्ष में ज्ञान और उसका विषय दोनों ही आणविक या क्षणिक होते हैं जबकि बौद्धिक ज्ञान और उसका विषय सम्बन्धोपचित होते हैं। बुद्धिवादी दृष्टि की यह उपलब्धि है कि मूल्यबोध नीलादिबोध के सदृश अविचारित और अपर्यनुयोज्य, 'पारमाणविक' बोध नहीं है प्रत्युत विचारपूर्वक वैशिष्ट्यावगाही, प्रामाण्यावगाही एवं सम्बन्धावगाही बोध है। किन्तु बुद्धिवाद का यह अभ्युपगम कि बौद्धिक ज्ञान स्वतन्त्र है अथवा उसका विषय स्वतन्त्र है, भ्रान्तिमूलक प्रतीत होता है। अध्यवसाय, अनुमान आदि तार्किक व्यापार के रूप में बुद्धि प्रत्यक्षगृहीत विषय का 'विकल्पन' ही कर सकती है, न कि स्वतन्त्र रूप से विषय का ग्रहण या उद्भासन। इस 'विकल्पन' में न्यूनाधिक मात्रा में 'विषय'–सृष्टि अवश्य होती है किन्तु ये विषय अर्थ-क्रिया-समर्थ तात्विक विषय नहीं होते और न दृष्ट-विपर्यास-रूप भ्रामक विषय होते हैं. ये वस्तुतः एकार्थसमवायी काल्पनिक विभागों के अपोहात्मक संकेत होते हैं।

मूल्यबोध के विचारपूर्वक होने के कारण मूल्यों को बुद्धिगम्य मानने पर उन्हें सम्बन्धात्मक मानना पड़ेगा। मूल्यों के शुद्ध विकल्प अथवा तार्किक संकेत मात्र न होने के कारण मूल्यबोध में बुद्धि-व्यापार स्वयं अनुभूति-पुरस्सर होता है। फलतः अनुभूत विषय पर बौद्धिक विचार के द्वारा मूल्यबोध का जन्म मानना चाहिए। मूल्यबोध में अनुभूति और बुद्धि दोनों का संयुक्त व्यापार अन्तर्निहित है। अतः मूल्य का स्वरूप तत्वाश्रित अथवा तत्वारोपित किन्तु व्यवहाराविसंवादी सम्बन्धों से रचित होना चाहिए। मूल्यों की तत्वाश्रितता का उपर विस्तार से निरास किया गया है। शेषतः मूल्य-निर्णय व्यवहारोपयोगी सम्बन्धों का निर्णय प्रतीत होता।

मूल्य और अभीष्टता :

इस बिन्दु से कुछ विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मूल्यों को इष्टभोग अथवा प्रेयोरूप मानना चाहिए। तभी उनके विषय में असमाधेय मतभेद समन्जस हो सकेंगे। कोई कहते हैं कि इष्टता विषयभेद के अनुरूप भिन्न होती है और संस्काराधीनतया उसके विषय भी अनियत होते हैं। कोई प्राणरक्षा को ही प्रधान इष्ट मानते हैं, अन्य दुःखपरिहारपूर्वक सुखप्राप्ति

को अथवा दुःखपरिहारमात्र को। कोई सुखप्राप्ति की चरमता क्रममूलक मानते हैं, कोई संग्रहमूलक और कोई विवेचनमूलक।

ऊपर मूल्यों को विवेकसम्मत लक्ष्य कहा गया था। व्यवहारोपयोगी सम्बन्ध साध्य-साधक-भाव से परिगृहीत होते हैं। चेष्टा, इच्छा, कृति, प्रयत्न, अपेक्षा आदि एषणात्मक वृत्तियों के विषय को लक्ष्य कहते हैं। लक्ष्यता या एषणाविषयता के विश्लेषण से साधक, साध्य, साधन एवं सिद्धि रूप चतुर्वर्ग की सृष्टि होती है। इस क्षेत्र में बुद्धि का व्यापार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आश्रित वस्तु-विकल्प नहीं होता परन्तु मानस-प्रत्यक्ष, शब्दबोध, अथवा प्रातिभबोध में उपलब्ध आत्मस्पर्शी प्रतिभासों का साध्यादि रूप में विवेचन होता है। यदि बुद्धि के प्रथमोक्त व्यापार को तत्वान्वेषी अथवा तर्क कहा जाय तो उसके अनन्तरोक्त व्यापार को मूल्यान्वेषी अथवा विवेक कहा जा सकता है। तत्व और मूल्य दोनों के ही बोध में अनुभूति और बुद्धि का संयुक्त व्यापार होता है किन्तु विभिन्न दिशाओं में। तत्वज्ञान में आत्मनिरपेक्ष विषयता का प्राधान्य होता है, विषयी ज्ञान में और ज्ञान मानो विषय में लय प्राप्त करता है और परिणामतः ज्ञान स्वरूपशून्य साक्षिता हो जाता है और जड़ विषय प्रकाशित होकर स्वरूप-व्यक्ति लाभ करता है। इसलिये तर्क-बुद्धि विषय-जगत् का प्रकार-व्यवस्थापन मात्र रह जाती है। इसके विपरीत मूल्य ज्ञान में विषय एषणावृत्ति के द्वारा विषयी से सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं और इस सम्बन्ध की योग्यता से ही मूल्यवान् बनते हैं। इस सम्बन्ध के बाहर विषय मूल्यालोक से आलोकित नहीं होते। किसी भी विषय के मूल्यवान् होने की प्रतीति उस विषय में चेतना के लगाव से सहचरित होती है। इच्छा, राग आदि एषणात्मक वृत्तियों में चेतना अपने विषय की ओर तटस्थ नहीं होती, वह अपने और विषय के 'अन्तर' को कम करना चाहती है। यही चेतना का लगाव है। इसके विपरीत विशुद्ध ज्ञानात्मक वृत्ति में चेतना अपने विषय को यथास्थित आकारित करती हुई दर्पणवत् असंग या बेलाग रहती है। मूल्य-बोध उसके विषय और विषयी के बीच एषणात्मक सम्बन्ध से व्याप्त है। जहां विषय में मूल्य का बोध होता है, वहां विषय अभीष्ट होता है। कुछ लोग यहां समव्याप्ति मानते हैं, कुछ व्याप्ति का विपरीत कथन करते हैं और अभीष्टता को ही मूल्य-बोध से अथवा मूल्य से ही व्याप्त मानते हैं। व्याप्ति कारणता अथवा तादात्म्य पर आश्रित होती है,[1] अतएव प्रश्न यह है कि क्या विषय की अभीष्टता उसके मूल्य अथवा मूल्य-बोध का कारण है, अथवा अभीष्टता और मूल्य, दोनों का तादात्म्य है, अथवा क्या मूल्य या मूल्यबोध अभीष्टता का कारण है, ? इनमें मूल्य-स्वरूप की कारणात्मिकता का तृतीय विकल्प यथोक्त रूप में निरस्त हो चुका है। यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि विद्यमान अथवा संभाव्य इष्टता के बाहर मूल्यबोध नहीं होता, किन्तु इस विकल्प को प्रकारान्तर से प्रतिपा-

१ न्यायबिन्दु स्वार्थानुमान।

दित किया जा सकता है—क्या विषयगत विशिष्टता उसकी इष्टता का कारण है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। इष्टता एक सम्बन्ध या सापेक्ष धर्म है, वह विषयमात्र की विशेषता नहीं है। विशिष्ट विषयी के लिये विषय अपनी विशिष्टता के कारण अभीष्ट होता है। अब प्रश्न यही रहता है कि क्या अभीष्टता निरवच्छिन्नतया मूल्य है अथवा सावच्छिन्नतया ? क्या इष्ट होने से ही कोई विषय मूल्यवान् होता है ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि इच्छा के विषय में मूल्य का आभास होता है, किन्तु जहां इच्छा का अस्तित्व मानस प्रत्यक्ष के द्वारा प्राय: निःसंशयतया सिद्ध होता है, उसके भी आलम्बन का अवधारण परिष्कार्य होता है क्योंकि हम जो चाहते हैं उसको सदा ठीक से नहीं समझते, और जैसा समझ कर विषय को चाहते है विषय सदा वैसा नहीं होता। इच्छा के विषय का बोध एक मानसिक कल्पना या प्रत्यय के रूप में होता है जिसे हम अपेक्षापूर्ति में समर्थ और प्रस्तुत अथवा कार्य यथार्थ में वृत्तित्वशाली मान लेते हैं। कल्पित रूप और सामर्थ्य के यथार्थ के साथ अन्योन्य-समारोप से अभीष्टबोध पुष्ट होता है और उसके साथ मूल्य का आभास होता है। "काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।" इच्छा का मुख्य विषय कल्पित होता है, न कि वास्तविक। इस इष्ट-कल्पना के आक्षेप से ही वस्तु अभीष्ट होती है। उदाहरण के लिए मैं चाय चाहता हूँ और मांगता हूँ किन्तु जो चाय मुझे मिलती है वह मुझे पसन्द नहीं आती क्योंकि वह मेरी चाय की कल्पना से मेल नहीं खाती। मुझे खिज़ां के लाल पीले रंगों का एक चित्र बहुत अच्छा लगता है क्योंकि वह मुझे मास्को में देखे दृश्यों की याद दिलाता है। यहां प्रस्तुत चित्र कल्पना को साकार बनाता है। जिस समय आंखों के सामने खिज़ां के रंग अच्छे लगते हैं उस समय भी खिजां या जंगल, या पत्तों की कार्यकारणात्मक जड़ वास्तविकता अभीष्ट विषय नहीं होती बल्कि रूप-रंगमय एक दृश्य या 'निमित्त' या बिम्बमात्र जो कि द्रष्टा के लिये एक चित्रवत् प्रस्तुत होता हैं और जिसमें बाह्य विषय का प्रत्यक्ष कल्पित विषय के साक्षात्कार के तुल्य होता हैं। जिस समय प्रकृति सुन्दर लगती है, उस समय प्रकृति-बोध कला-विषय के बोध से भिन्न नहीं होता।

जैसा अनेक आचार्यों ने विस्तार से प्रतिपादित किया है, प्रत्यक्ष का व्यापार भी सहज एवं आभ्यासिक कल्पना के अनुप्रवेश के बिना पूरा नहीं होता। सामान्यत: जब हम प्रत्यक्ष की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य सविकल्पक प्रत्यक्ष से ही होता है। जैसा नैयायिक आचार्यगण मानते हैं, यह सविकल्पक प्रत्यक्ष ही हेय, उपादेय अथवा उपेक्ष्य रूप विषय के ज्ञान को जन्म देता है। स्थविरवादी बौद्ध आचार्य भी मानते हैं कि प्रत्यक्ष की जवनाख्य सक्रिय अवस्था में ही हेयोपादेयता का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय प्रत्यक्ष विषय में इष्टता अथवा अनिष्टता का बोध होता है उस समय प्रत्यक्ष कल्पना, स्मृति एवं संस्कारों से अछूता नहीं होता।

प्रत्यक्ष का पूरक यह विकल्पांश विषयि-गत संस्कारों से उत्पन्न होने के कारण विषय-स्वरूप की अपेक्षा से अनियत होता है और यही कारण है कि प्रत्यक्ष का विषय, आपाततः समान होने पर भी उसमें विषयिभेद से इष्टानिष्ट बोध विभिन्न होता है। प्रत्यक्ष-विषय का तात्विक स्वरूप, जो सब विषयि-गण के लिये समान बाह्य वस्तु का स्वरूप समझा जाता है, सविकल्पक प्रत्यक्ष के नियतांश से निरुपित स्वरूप है। यह स्मरणीय है कि प्रत्यक्ष का न सब विकल्पांश अनियत होता है, न सब निर्विकल्पांश नियत क्योंकि देश-कालादि विकल्प पारमार्थिक विषयापेक्षया अनियत होते हुए भी सर्व-विषयि-साधारण होने के कारण व्यावहारिक विषयापेक्षया अनियत नहीं होते और दूसरी ओर निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी इन्द्रियादि दोष से भ्रान्ति सम्भव होती है। फलतः जहां इष्टानिष्ट बोध अनियत कल्पना से विकल्पित और **विशिष्ट विषयि**-सापेक्ष होता है, वस्तुबोध नियत कल्पना से विकल्पित और **विषयि मात्र**-सापेक्ष होता है। वस्तु-विकल्प नियत और विषय-प्रधान होता है, इष्ट-विकल्प अनियत और विषयिप्रधान होता है। वस्तु-विकल्प में चेतना विषय के प्रति साक्षिभाव में तटस्थ रहती है जबकि इष्टविकल्प में चेतना विषय को अपने अनुकूल चाहती है। इच्छा में एक विषय कल्पना के स्तर पर एषिता के संस्कारों के अनुकूल गढ़ा होता है और इस कल्पित विषय के अनुसार वस्तु-विकल्प के द्वारा दिये हुए विषयों को बदलने की प्रेरणा होती है। जहां ज्ञान अपने को एक बाह्य या नियत मान के अनुसार ढालना चाहता है, इच्छा अपने अन्तस्थ या स्वच्छंद मान के अनुसार विषय को गढना चाहती है।

इच्छा अपनें विषय की अनुकूलतया कल्पना करती है। किसकी अनुकूलता? एक उत्तर है—प्राण की अनुकूलता। जड़ वस्तुओं में क्रिया और प्रतिक्रिया नियत और समान होती हैं, जीवों में सहज क्रिया और प्रतिक्रिया एक प्रयोजन से संचालित होती है और यह प्रयोजन होता है प्राण-रक्षा। प्राणि-जीवन में प्रत्युत्पन्न क्रियाएं आत्म-रक्षा रूप एक अन्तस्थ साध्य के साधन के रूप में गृहीत होती हैं और इस प्रकार प्राणिक चेष्टाओं में एक अव्यक्त साध्य-साधन-विवेक अन्तर्निहित होता है। इस प्राण-चेष्टा को ही मूल इच्छा और प्राण-रक्षा को मूल प्रयोजन कहा गया है। किन्तु प्रथमोन्मिषित होने के कारण ही उन्हें अन्तिम न मान लेना चाहिये। प्राण-रक्षा आदिम साध्य है, विकसितम अन्तिम साध्य नहीं। यही स्थिति सुख-संवेदन की है। बौद्धिक ज्ञान के विकास के पूर्व प्राणी को अपनी प्राण के अनुकूल अथवा प्रतिकूल अवस्था का बोध संवेदनात्मक ही होता था, प्राणानुकूल्य का का सुख-संवेदनात्मक और प्रातिकूल्य का दुःख-संवेदनात्मक। इस दृष्टि से से सुख-संवेदन प्राणी के यथार्थ साध्य का अपरोक्ष संकेत था, स्वयं चरम साध्य नहीं। पशु-जीवन में सामान्यतया सुखात्मक और दुःखात्मक संवेदनों

की एक प्रकृति-सिद्ध व्यवस्था नियत रहती है और उन्हें सुखानुशयी राग एवं दुःखानुशयी द्वेष के द्वारा प्राण-रक्षा (वैयक्तिक और जातीय) की ओर प्रवृत्त एवं विघ्नों से निवृत्त करती है। इस स्थिति में संरक्षण और सुख, दोनों को ही अविरोधेन पशु-जीवन के साध्य कहा जा सकता है। यह स्मरणीय है कि प्राण एक अपरोक्ष चेष्टा है और सुख उसकी संविदित निराबाधता या स्वच्छन्दता।

पशु-जीवन की व्यवस्था मानव-जीवन में यथावत् संक्रान्त नहीं होती। मनुष्य प्राणी होने के अतिरिक्त बुद्धिजीवी है और अपने आप को स्वयं परिभाषित करता है और बनाता है। विवेकानुकूल संकल्प में मनुष्य की स्वतन्त्रता है और स्वतन्त्रता का उन्मेष—अथवा शब्द-संकीर्ण स्मृतियों की अनियत संसृष्टियों के संस्कार—उसे नियत प्राकृतिक व्यवस्थाओं की अधीनता से अंशतः मुक्त करता है। फलतः मनुष्य में विवेक-शक्ति उसकी जिजीविषा और सुखैषरणा को जीवनमात्र अथवा सुखमात्र की एषणा से आत्मबोध के के अनुकूल जीवन और सुख की ओर प्रेरित करती है। मनुष्य के पुराने पशु-जीवन के दैहिक संस्कार और उसके सांस्कृतिक विवेक के संस्कारों में संघर्ष अनिवार्य रूप से उत्पन्न होता है और उसके परिणाम स्वरूप मानवीय जीवन में इच्छाओं, प्रयोजनों और साधनों के कोई व्यवस्थित नियम नहीं दीखते। उसी विषय के प्रति मनुष्य में राग, द्वेष और उपेक्षा का साहचर्य देखा जा सकता है। ये सहचरित इच्छाएं चेतना के विभिन्न स्तरों में व्यक्त एवं अव्यक्त रह सकती हैं। उनमें मात्राभेद भी सम्भव है। फलतः एक ही वस्तु में विभिन्न स्तरों और मात्राओं की इच्छाओं की विषयता विद्यमान देखी जा सकती है और इसलिए मनुष्य-जीवन में 'इष्टता' कोई सीधा-सादा धर्म नहीं है। किसी विषय की इष्टता तभी समझ में आ सकती है जब उसे विवेक, आत्मबोध, संस्कार और साधन-ज्ञान के जटिल सन्दर्भ में रखा जाय। वैसी स्थिति में इष्टता अथवा प्रेयस्त्व अपनी अनेकायामिक सापेक्षता से अंकित होकर एक परावर मूल्य श्रेणी में स्थान लाभ करता है। व्यक्तित्व के समग्र सन्दर्भ में विवेचित इष्टता और मूल्य एक ही बात हैं किन्तु वह सापेक्ष धर्म ही हैं। उनकी सार्थकता साध्य एवं साधन के वरण के प्रसंग में होती है। जहां कुछ भी साध्य न हो अथवा एकमात्र साध्य अथवा साधन हो, वहां मूल्य अथवा आपेक्षिक वरणीयता निरवकाश हो जाती है।

चेतना के जितने आयाम हैं, सभी के साथ विवेक और इच्छा जुड़े रहते हैं : ज्ञान के साथ न्यायात्मक (=तार्किक) विवेक एवं जिज्ञासा, कर्म के साथ धर्मात्मक (=नैतिक) विवेक एवं चिकीर्षा, संवेदन के साथ सहृदयता और रसेच्छा। सभी दिशाओं में इच्छा एक अन्तस्थ प्रयोजन—बुद्धिस्थ प्रत्यय, मानसिक कल्पना, उपचेतन अथवा अचेतन संस्कार—को सिद्ध करने की होती है। प्रयोजन-सिद्धि अनुभूति-विशेष के लाभ में होती है। यह अनु-

भूति भोगात्मक, कर्मात्मक अथवा ज्ञानात्मक हो सकती है। अनुभूति की साध्यता अथवा इष्टता के अवच्छेदक (= मूल्यत्व के घटक) तत्व हैं—प्राणानुकूलता, सुखात्मकता एवं आत्मानुकूलता। पशु-जीवन में प्रथम तत्व ही प्रधान है, द्वितीय प्रवृत्ति-नियत होने से साध्य का अंग नहीं होता। मनुष्य-जीवन में तृतीय मुख्य है और पहले दो उसके विशेष या लक्षण के रूप में ही विवेक से अनुमोदित होते हैं। एषणात्मक वृत्तियां मूल्य के आभास उसी प्रकार प्रस्तुत करती हैं जिस प्रकार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान के। इन अवभासों के विवेचन के द्वारा एषणात्मक वृत्तियों और उनके विषयों का रूपान्तरण सम्पन्न होता है और मूल्यावभास से मूल्य-निर्णय की ओर प्रगति होती है। एषणा और विवेक, ये विरोधी तत्व नहीं हैं क्योंकि एषणा के अन्तराल में एक प्रकार का अपरोक्ष और अव्यक्त विवेक रहता है—एषणा यत्किन्चिद्विषयक नहीं होती—और एषणा में अवभासित अर्थ ही विवेक के पूर्वाभ्युपगम होते हैं।

एषणा और मूल्य के सम्बन्ध के चार विकल्प उपस्थित किये गये हैं—मूल्य एषणा-निरपेक्ष हो सकते हैं, एषणा के विशिष्ट विषय हो सकते हैं, विशिष्ट एषणा के विषय हो सकते हैं, अथवा एषणामात्र के विषय हो सकते हैं।[१] पहले विकल्प में मूल्य चेतना-निरपेक्ष हो जाते हैं क्योंकि उन्हें ज्ञान-विषय माना जाय तो भी ज्ञान के वस्तु-तन्त्र होने के कारण उनके स्व-रूप-नियामक हेतु को ज्ञान के अतिरिक्त स्वीकार करना होगा। दूसरे विकल्प में विषय की इष्टता और विशिष्टता में कोई नियत सम्बन्ध नहीं है और मूल्य के दो परस्पर असम्बद्ध घटक हो जाते हैं। तीसरे और चौथे विकल्पों को अलग-अलग रखना अनावश्यक है क्योंकि मूल्य-निर्धारण में आपेक्षिक मूल्य-निर्धारण भी अन्तर्निहित है और यदि एषणामात्र मूल्योपस्थापक है तो एषणागत विशिष्टता मूल्यों की आपेक्षिक विशिष्टता की नियामक होगी। एषणा को मूल्य का प्रथमोन्मेष कहना ठीक है किन्तु उसका विषयी के आत्म-बोध के साथ सम्बन्ध और उसके विषय का कल्पना के साथ सम्बन्ध उपेक्षित नहीं होना चाहिए।

इच्छा के यथार्थ और आदर्श विषय के भेद को लेकर, इष्ट और एषणीय के भेद को लेकर, प्रेयस् और श्रेयस् का भेद कल्पित किया गया है। यदि इच्छा को उसके विषय से परिभाषित किया जाय, तो यह भेद इच्छाओं का भेद हो जाता है, विवेक से अनुमोदित और अननुमोदित इच्छाओं का। इस अवस्था में श्रेयस् भी विशिष्ट प्रेयस् हो जाता है। यदि यह माना जाय कि विवेक इच्छा-निरपेक्षतया साध्यनिर्देश करता है

१, पैरि, जनरल थियरी ऑव वैल्यू पृ० २७–७८

तब अवश्य प्रेयस् और श्रेयस् की दो विभिन्न जातियां हो जायेंगी—एक इच्छा-निरूपित विषयों की, दूसरी विवेक-निरूपित विषयों की। किन्तु जैसा ऊपर निर्देश किया गया है, इच्छा मात्र में साध्यबोध के रूप में एक प्रकार का विवेक गर्भित होता है, और साध्यबोध मात्र में, चाहे वह विवेक-निर्दिष्ट ही हो, सम्भाव्य इष्टबोध होने से इच्छा गर्भित होती है। भेद इतना ही होता है कि कहीं इच्छा पहले व्यक्त होती है और विवेचन पीछे, कभी-कभी इच्छा पूर्ति की चेष्टा के अथवा इच्छापूर्ति के भी पीछे, कभी इच्छा के यथार्थतः व्यक्त होने के पहले कल्पित इच्छाओं के आधार पर विवेचन पहले व्यक्त होता है और इच्छा पीछे, कभी-कभी संकल्प या कृति या अनुभूति के भी पीछे। उदाहरण के लिये राजसिक सुख की इच्छाओं में विवेक प्रायः परिणामदुःखता की अनुभूति के पश्चात् उपजता है जबकि सात्विक सुख की इच्छा विषयाभ्यास के अनन्तर उपजती है। अभिव्यक्ति का क्रम अनेकधा विभक्त होते हुए भी यह मानना ठीक न होगा कि इच्छा और विवेक दो मूलतः अथवा सर्वथा पृथक् बोध-प्रकार हैं। उसी एक अभिन्न चेतन पुरुष के स्वभाव के अनेक आयाम हैं जो नाना व्यापारों में आनुपातिक या प्राधान्य भेद से लक्षित होते हैं। जो चाहता है वही अपनी अनुभूति पर विचार करता है, जो विचार से साध्य-निर्धारण करता है वही एषिता, कर्ता और भोक्ता है। एषितृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं प्रमातृत्व, सभी मूलतः एक आत्मबोध में सम्पुटित रहते हैं और एक समग्र आत्मबोध के परस्पर–सम्बद्ध विकासशील अंग हैं। एषणात्मक वृत्तियां उसका भविष्योन्मुख पक्ष हैं और विवेक उनके और अनुभूतियों के वैषम्य को आंक कर दिग्-निर्देशन करता है।

इच्छा में सविषयता और प्रेरणा के दो पक्ष जुड़े रहते हैं। प्रेरणा एक अव्यक्त कारण के द्वारा प्रवर्तन है जबकि सविषयता इस सन्दर्भ में ऐसे विषय का बोध है जो अपने विषयी को प्रयोजित करता है। प्रवर्तना में एक दबाव, एक बन्धन का अनुभव होता है, प्रयोजना में स्वानुमोदन या स्वच्छन्दता का। एक ओर इच्छात्मक बोध अपने बहिर्भूत कारण से नियन्त्रित क्रियान्वयी जीव का आत्मबोध होता है, दूसरी ओर वह अपने आलम्बनभूत स्वनिरूपक विषय की उपादेयता का साधनोन्मुख बोध होता है। स्वारसिक प्रवृत्ति में सहज संस्कार मात्र कारण होता है जबकि इच्छा में सहज अथवा अर्जित संस्कार से उत्पन्न प्रेरणा के अतिरिक्त उपादेयता का बोध कारण होता है। इच्छा में ज्ञान का समवाय रहता है और तद्गत उपादेयता का बोध न केवल संस्काराश्रित होता है, न केवल विवेकाश्रित। सहज प्रवृत्ति का बोध अपेक्षा के रूप में

होता है और अपेक्षा अनुभव के आधार पर उपयुक्त विषय का आक्षेप करती है, उदाहरणार्थ बुभुक्षा भोजन का। अभ्यासमूलक अपेक्षा भी समान रूप में उपस्थित होती है यथा सायंकाल चाय पीने की इच्छा। इस प्रकार अपेक्षाक्षिप्त विषय दैहिक अथवा मानसिक संस्कार मूलक होते हैं। अपेक्षाश्रय विषयी ज्ञान का भी आश्रय होता है, और अपेक्षा-कृत अनुभूति के क्षेत्र में विवेक का कार्य होता है नाना एषणाओं और उनके विषयों का परस्पर विरोध-परिहार एवं अभीष्ट विषयों और विषयी के समग्र आत्मबोध एवं आदर्श का विरोध-परिहार। यदि व्यक्तित्व केवल एषणा समूह-मात्र होता, तो भी उसको अन्तःसंघर्ष और विघटन से बचाने के लिये एषणाओं का विवेक-सम्पाद्य नियमन और व्यवस्थापन आवश्यक होता। वस्तुतः व्यक्तित्व केवल संस्कार-स्कन्ध नहीं है अपितु पारमितागवेषी विवेकगर्भ विज्ञान-प्रवाह भी है। फलतः एषणाक्षिप्त विषयों का बुद्धि के द्वारा द्विधा विवेचन होता है—यथार्थतः और आदर्शतः—और उसके परिणामस्वरूप उनका व्यवस्थापन उनमें सामन्जस्य और तारतम्य के आपादन के द्वारा होता है। यह स्मरणीय है कि उपयोगितावादी एषणा-प्राधान्य से प्रारम्भ करके भी जॉन स्टुअर्ट मिल को एषणाओं में विवेकसम्मत तारतम्य की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी और अंशतः आदर्शवादियों के सदृश ही व्यक्तित्व के विकास को तत्तत् एषणापूर्ति से उच्चतर स्थान देना पड़ा।

अभीष्टबोध में मूल्य का आभास होता है किन्तु साथ ही यह भी बोध होता है कि मूल्य का निर्णय विवेचन द्वारा ही हो सकता है। एषणा मूल्य को आभासित करती है किन्तु यह आभास विवेक-शोध्य होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि एषणामात्र मूल्य की जननी नहीं है। इसलिये अभीष्ट होने से ही कोई विषय मूल्यवान् नहीं हो जाता, उसे विवेक के द्वारा अनुमोदन भी प्राप्त होना चाहिये। किन्तु विवेक के द्वारा शोधित और रूपान्तरित एषणा निश्चित रूप से मूल्य प्रस्तुत करती है। ऊपर मूल्य को एक प्रकार का आत्म-सम्बद्ध बोध कहा गया था। अतः यह कहा जा सकता है कि यह बोध एषणा और विवेक का संहित रूप है। विवेक-संहित एषणा ही पर्येषणा है और उसका क्रमिक विकास ही मूल्य-विश्व को प्रस्तुत करता है। मूल्य-बोध में आत्मांश और विषयांश दोनों का सामरस्य होता है, आत्मबोध विषयोपाधिक होता है और विषय आत्मबोध के अनुरूप। यह उसी अंश तक सम्भव है जिस अंश तक विषय आत्मा का प्रतिबिम्ब अथवा संकेत बन कर आत्मबोध को जन्म देता है। इष्टता के बोध में आभासित मूल्य के अन्वेषण को विवेक आत्मदर्शन की ओर ले जाता है। अन्ततोगत्वा मूल्य का स्वरूप आत्मसंकेत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।"

परिशिष्ट :

मूल्य के स्वरूप पर कुछ प्रसिद्ध संदर्भ

भोगवाद और बुद्धिवाद :

प्लेटो :

"फिलेबस के अनुसार भोग, सुख और आनन्द और उनके सजातीय संवेदन, सब प्राणियों के लिये प्रशस्य हैं जबकि मैं इस बात के लिये तर्क करता हूं कि ये नहीं प्रत्युत ज्ञान, बुद्धि, स्मृति और उनके सजातीय, ठीक मत और सही विचार, उन सबके लिये श्रेयस् एवं सुख से अधिक एषणीय हैं जो उनके भागी बन सकते हैं। उनके लिये ये परमलाभ है।"

(सुकरात, **फिलेबस** में=**प्लेटो**, जि० २, पृ० ३४३)

"अधिकांश लोग मानव-हित को सुखात्मक बताते हैं किन्तु श्रेष्ठ बुद्धि के लोग उसे ज्ञानात्मक बताते हैं। किन्तु (ज्ञानवादी) ज्ञान को हित-ज्ञान कहते हैं, जो असंगत है, और जो सुखवादी हैं वे भी सुखों में 'अच्छा', 'बुरा' स्वीकार करते हैं, जो उतना ही असंगत है।"

(**रिपब्लिक**, **प्लेटो**, जि० १, पृ० ७६६)

उपनिषद् :

"श्रेयस् और प्रेयस् विविक्त हैं। बुद्धिमान पुरुष उनमें विवेकपूर्वक वरण करता है।" (**कठोपनिषद्** १. २. १–२)

श्रेयस्, परमार्थ, पुरुषार्थ, परम-पुरुषार्थ :

श्रेयस्[1] = जिसकी अच्छाई स्वतः सिद्ध है, परमार्थ[2] = जो सर्वोत्तम

---

१ इन्ट्रिन्जिक गुड

२ एब्सोल्यूट गुड

प्रत्येय है, पुरुषार्थ[3] =जिसकी अच्छाई मानव जीवन में सम्भव है, परम-पुरुषार्थ[4] =मानव जीवन की सम्भव अच्छाईयों में श्रेष्ठ ।

(मूअर, **प्रिन्सिपिया एथिका**, परिच्छेद-६, **फिलोसोफिकल स्टडीज**, पृ० ३२५)

श्रेयोलक्षण :

श्रेयस् के तीन लक्षण—स्वात्मसम्पूर्णता (तो तेलेग्रोन्), पर्याप्तता (तो इकानॉन्), परमसाध्यता (तो पासिन् आइरतॉन्) ।

(**फिलेबस** २० = **प्लेटो**, जि० २, पृ० ३५२–५३)

मानव-श्रेयस् :

ये लक्षण ज्ञानमात्र में अथवा भोगमात्र में नहीं मिलते प्रत्युत उनके मिश्रण में मिलते हैं ।　　(**वही**, ६०–६१; **वही**, पृ० ३९५–९६)

श्रयस् को ठीक ही परम साध्य कहा गया है....यदि हम जो कुछ करते है उसका कोई लक्ष्य होता है, तो जिस लक्ष्य को हम स्वयं उसके लिए चाहते हैं वही श्रेयस् है ।

"....श्रेयस् किसी एक आकार के अनुरूप कोई समान तत्त्व नहीं है ।....यदि कोई ऐसा श्रेयस् हो भी जो सब हितों में व्याप्त हो अथवा एक पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता के योग्य हो तो भी वह स्पष्टतः मनुष्य के लिए प्राप्य न होगा ।"　　(अरस्तू, रौस, सं० **सैलेक्शन्स**, पृ० २१८–२२४)

नैतिक सत् परम-पुरुषार्थ है किन्तु सम्पूर्ण पुरुषार्थ में गौण रूप से सुख भी अन्तर्गत है ।

(कान्ट, **क्रिटीक आव प्रैक्टिकल रीजन**, पृ०२१५)

---

३ ह्यूमन गुड
४ दि बेस्ट फॉर मैन

मूल्य एक विशिष्ट विषय या स्वलक्षण धर्म :

(१) **मूल्य = प्राकृतिक विशेषण**

"प्रकृति अनन्त सौन्दर्यशालिनी है और वह अपने सौन्दर्य को ऐसे ही धारण करती है जैसे रूप अथवा रंग को।"

(लेयर्ड—**ए स्टडी इन रीयलिज्म**, १९२०, परिच्छेद ७, पृ० १२९)

"सान्ध्य मेघमाला अथवा पतझड़ के रंगों का सौन्दर्य अथवा मानव-शील का गुण वैसे ही दृश्यगत है, न कि प्रेक्षकगत, जैसे "चैरी का लाल रंग" (वही, पृ० १४४)

(२) **मूल्य : अप्राकृतिक विशेषण**

"श्रेयस् एक अनन्य-संसृष्ट प्रत्यय है जैसे 'पीत'। जो पहले से ही यह नहीं जानता कि 'पीत' क्या है, उसे पीत का स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता। ऐसी ही स्थिति 'श्रेयस्' की है" (मुअर, **प्रिन्सिपिया एथिका**, पृ० ७) = विशेषभूत श्रयस् अपरिभाष्य है किन्तु उसका विशेष्य धर्मी अपरिमाष्य नहीं है (वही, पृ० ९) = अच्छाई अनिर्वचनीय है किन्तु क्या अच्छा है यह बतलाया जा सकता है।

"धर्मान्तर के द्वारा श्रेयोधर्म की परिभाषा प्रकृतिवादी हेत्वाभास (नैचरलिस्टिक फैलेसी) कहा जा सकता है।" (वही, पृ० १०)

सब स्वतः श्रेयोविशिष्ट धर्मियों में दो समान लक्षण देखे जा सकते हैं—

(१) "यह अवश्य लगता है कि कुछ भी तब तक स्वतः मूल्यवान् नहीं हो सकता जब तक उसमें कुछ संवेदन और कुछ अन्य चैतन्य-वृत्ति न विद्यमान हो, और जैसा हमने पहले कहा है यह सम्भव है कि उन संवेदनों में कुछ सदा सुखात्मक होने चाहिए। और (२) यह भी लगता है कि प्रत्येक स्वतः मूल्यवान् धर्मी को एक अनेक-धर्मात्मक अवयवी होना चाहिए जिसमें विविध घटक अन्तर्गत हों, और उस कारण कोई भी ऐसा सादा तत्व जैसे सुख मात्र, चाहे जितना भी तीव्र हो, श्रेयोरूप नहीं हो सकता।"

(मुअर, **एथिक्स**, पृ० १५३-१५४)

"किसी प्रकार के मूल्य को 'आन्तरिक' कहने का अर्थ केवल यह है

कि कोई वस्तु उससे युक्त है (या नहीं) और (है तो) किस अंश तक, इस प्रश्न का उत्तर केवल उस वस्तु के अपने स्वरूप पर निर्भर करता है।"

(**फिलोसोफिकल स्टडीज**, पृ०२६०)

"यद्यपि पीतिमा और सौन्दर्य दोनों ही अपने द्वारा विशेष्य वस्तु के आन्तरिक स्वरूप पर निर्भर करने वाले लक्षण हैं, पीतिमा स्वयं एक आभ्यन्तरिक (स्वरूपगत) लक्षण है जबकि सौन्दर्य नहीं है" (पृ० २६२)।

"विधेय के रूप में जो बातें अच्छी हैं उन्हें दो वर्गों में बांटा जा सकता है=(१) जो इस अर्थ में अच्छी हैं कि वे प्रशंसा के योग्य विषय हैं,

(२) जो इस अर्थ में अच्छी हैं कि वे तृप्ति के योग्य विषय हैं।

........दूसरे वर्ग की बातें स्वतःनैतिक सत् नहीं हैं न पहले वर्ग की सभी बातें।"

(रौस, डब्ल्यू० डी०, **दि फाउन्डेशन्स आव एथिक्स**, १९३९, पृ० २९०)

पहले अर्थ में (प्राशस्त्य के अर्थ में) अच्छाई निरपेक्ष धर्म है, क्योंकि बिना स्वतः अच्छे हुए कोई विषय प्रशंसनीय नहीं होता। इसके उदाहरण हैं नैतिक शील, और कर्म, बौद्धिक और कलात्मक कृतियां। दूसरे का सुख तृप्ति का उचित विषय होने से अच्छा है। (वही, पृ० २८२-८३)

मूल्य=बुद्धिगम्य सामान्य तत्व :

श्रेयस् (अगाथान्, इदेआ तागाथ्) बुद्धिगम्य सामान्यकारों में परम है। सामान्यकार (एइदॉस्) ही तात्विक पदार्थ है।

प्लेटो : **फाइडो**,(१००-१०१=जि० १, पृ० ४८४-८५), **सिम्पोसियम** (२११=वही, पृ० ३३५), **रिपब्लिक** (६.५०९-११=जि० १, पृ० ७७०-७२; १०.५९५=जि० १, पृ० ८५२)

तु० "प्लेटो ने दो प्रकार के द्रव्य माने हैं— सामान्य (एइदॉस्) और गणित विद्या के विषय—और एक तीसरा भी माना है –इन्द्रियगम्य वस्तुओं का द्रव्य"

(अरस्तु, **सैलेक्शसन्स**, सं० रॉस, पृ० ६५)

"प्लेटो बहुत गलत नहीं था जब उसने कहा था कि जितने प्रकार प्राकृतिक पदार्थ हैं उतने सामान्याकार या तत्व हैं (यदि 'तत्व' होते भी हैं तो) किन्तु इस प्रकार के पदार्थों के नहीं जैसे आग, मांस या सिर।"

(वही, पृ० १०५)

शेलेर, मेक्स

"मूल्यों के तत्त्व के लिये यह पूर्णतः उपेक्षा की बात है कि वे किसी 'मैं' के लिये 'स्वगत' हों अथवा 'स्वानुभूत' हों……जैसे संख्यादि विषयों की सत्ता अथवा प्रकृति किसी 'मैं' का पूर्वाक्षेप नहीं करती, उससे भी कम मूल्य-तत्त्व……"

(**देर फौर्मालिस्मुस इन देर एतिक उन्द दी मातेरियाले वेर्त-एतिक** बर्न, १९५४, पृ० २८०, उद्धृत, फौन्डिजी, **पूर्व** पृ० ८३)

मूल्य की उपलब्धि पसंद, राग द्वेष आदि भावानुभूति में होती है

(वही, पृ० ३३९, उद्धृत फौन्डिजी, पृ० ९१)

निकोलाई हार्टमान :

"मूल्य न वस्तुओं से (न वास्तविक सम्बन्धों से) प्रकट होते हैं, न द्रष्टा से। उनकी सत्ता के प्रकार में न प्रकृतिवाद का अनुषंग है न विषयिवाद का। पुनश्च, वे (मूल्य) केवल 'सामान्यीय' या रिक्त संस्थान-मात्र नहीं है, उनकी अपनी विषय-वस्तु हैं, वे 'औपादानिक सामग्री' हैं, ऐसे संस्थान हैं जो उन वस्तुओं, संबंधों एवं पुरुषों के विशेष गुण होते हैं जिनमें उनका भाव अथवा अभाव होता है। और, तीसरी बात, न केवल वे अपूर्व-निर्माण या ईजाद नहीं होते हैं—जैसा कि अक्सर कहा जाता है—बल्कि विचार के द्वारा उनका साक्षात् ग्रहण भी नहीं हो सकता। उनका बोध प्लेटो के 'इदेआ' की तरह एक अन्तर्दर्शन में होता है। 'दर्शन' का प्लातोनी प्रत्यय उसके साथ समन्जस है जिसे विशेषाश्रित आचार-मीमांसा 'मूल्य-बोध' अभिहित करती है और जो वरण, अनुमोदन और निष्ठा के कार्यों में मूर्त होता है। मूल्यों का मानव-बोध विवेकी पुरुष में उनकी विशिष्ट आदर्शात्मक सत्ता की विज्ञप्ति है। उनके ज्ञान की अनुभव से पूर्ववर्तिता बौद्धिक या विमर्शात्मक पूर्ववर्तिता नहीं है, बल्कि भावात्मक और प्रातिभ है।"

(हार्टमान, **एथिक्स**, जि० १, पृ० १८५)

"मूल्य न सिर्फ वस्तुतन्त्र नहीं हैं, वे मूल्यवान् वस्तुओं की सम्भावना की पूर्वावश्यक शर्त हैं। (वही, पृ० १८६)

"वस्तुओं के मूल्य मूल्यवान् वस्तुओं से उद्‌गृहीत होते हैं, (किन्तु) इन मूल्यवान् वस्तुओं के बोध में सुखात्मकता, उपयोगिता आदि की उपलब्धि उनके मूल्य के पूर्वज्ञान को आक्षिप्त करती है।" (**वही**)

"मूल्य स्वयंभू हैं....उनका भाव मूल्यचेतना पर अनाश्रित है। चेतना उनका ग्रहण कर सकती है, उन्हें बना नही सकती।

(**वही**, पृ०२१८)

"दो प्रकार की स्वतन्त्र सत्ताएं हैं—वास्तविक और आदर्श। पहली घटनाओं और वस्तुओं में—दूसरी गणित और तर्क के पदार्थों में एवं सब प्रकार के तत्वों में....

मूल्यगत सत्ता का विशिष्ट प्रकार स्पष्टतः स्वतःसिद्ध आदर्शात्मक सत्ता है। मूल्य मूलतः एक नैतिक आदर्श-राज्य के संस्थान हैं...."

(**वही**, पृ० २२०-२१)

मूल्य : परमार्थ

प्लेटो

जैसे सूर्य के प्रकाश में दृश्य-विषय आंख के द्वारा ठीक देखे जाते हैं, ऐसे ही 'सत्तत्व' [1] के प्रकाश में सत्य का ज्ञान होता है। "सत्तत्व ज्ञान को सत्य और ज्ञाता को ज्ञान-शक्ति प्रदान करता है, वह विद्या का और ज्ञान के विषयभूत सत्य का मूल है, सुन्दर है, जैसे कि सत्य और ज्ञान, किन्तु उनसे अधिक....सत् (आगाथॉन) न केवल सब ज्ञेय विषयों का हेतु है अपितु उनकी सत्ता और स्वभाव[2] का। किन्तु सत् स्वभाव नहीं है, वह स्वभाव से गौरव और सामर्थ्य में अधिक है।" (**रिपब्लिक**, ६.५०६)

यहां श्रेयस् परमार्थ रूप है, विषय और विषयी, ज्ञाता और ज्ञेय, सत् और ज्ञान के द्वन्द्वों से ऊपर उनका समान मूल आधार जैसे सूर्य रंगों और आंख का। प्लोटिनस में उसे 'एक' की संज्ञा दी है। (द्र० टेलर, **प्लेटो दि मैन एण्ड हिज वर्क्स**, पृ० २८६ प्रभृति)

---

१ इदेआ तागाथू (ग्रीक)—अंग्रेजी में अनुवाद = आइडिया ऑव दि गुड

२ ति एस्ति (अं. इसैन्स)

एक्विनास, टौमस

नाना परिच्छिन्न पदार्थों में नानाशंक पूर्णता मिलती है, और पूर्णता में 'होना' और 'अच्छा होना' एकान्वित हैं (जैसे अस्तित्व और प्राशस्त्य 'सत्' में), "इसलिये एक ऐसा पदार्थ है जो अन्य सब की सत्ता, अच्छाई और पूर्णता का मूल है, उसे ही हम ईश्वर कहते है।"

(द्र० सुम्मा थीयोलोजिका में ईश्वर की सिद्धि के लिये चतुर्थप्रमाण; तु० डी वुल्फ, सिस्टम आव टौमस एक्विनास, पृ० ६१-६४, ९३-९६)

मूल्य : चरम मानव साध्य

अरस्तू

मूल्य एक सामान्य धर्म नहीं है क्योंकि "जितने पदार्थ भेद हैं उनमें पृथक् पृथक् अच्छाईयां मूल्य होते हैं, द्रव्य में ईश्वर या बुद्धि (के रूप में प्रधानतया) गुण में सद्गुण या नैतिक गुण के रूप में, परिमाण में मात्रा (=मध्यम-मात्रा) के रूप में, सम्बन्ध में उपयोगी के रूप में, काल में अवसर के रूप में, स्थान में आवास के रूप में।" यदि इनमें एक सामान्याकार होता तो उसकी एक विद्या होती। किन्तु कालरूप पदार्थ के अन्तर्गत अवसर-रूप अच्छाई की विद्या युद्ध के क्षेत्र में सैन्य-विद्या है, रोग के क्षेत्र में चिकित्सा-विद्या है, मात्रा की विद्या भोजन में चिकित्सा-शास्त्र के अन्तर्गत है, व्यायाम में व्यायाम-विद्या के। यदि इन पृथक् पृथक् अच्छाईयों में एक जातीय समानता होती भी तो उसका ज्ञान निरर्थक होता क्योंकि वह सामान्यतः अच्छाई को प्रत्येक क्षेत्र की अभीष्ट श्रेष्ठता से पृथक् न कर पाता।

यदि इन आपत्तियों के परिहार में यह कहा जाय कि श्रेयस् के सामान्याकार से तात्पर्य स्वतः सिद्ध अच्छाई वाले धर्मों के आकार से है, तो भी कठिनाई बनी रहती हैं क्योंकि ज्ञान, सुख, सम्मान आदि जिन लक्ष्यों को अनन्य-साधनतया खोजा जाता है, उनमें भी कोई समान आकार नहीं दीखता और न इस प्रकार के सामान्य-ज्ञान से विशेष साधनाओं को सहायता ही मिल सकती है।

विभिन्न विद्याओं और कलाओं में मूल्य वह होता है जिसके लिये अन्य उपादेय अर्थ साधन होते हैं, आरोग्य विद्या में आरोग्य, सैन्य-विद्या में विजय, शिल्पविद्या में भवन आदि। फलतः सब प्रस्थानों में मूल्य साध्य रूप

होता है। परमसाध्य उसे कहेंगे जो अपने में अभीष्ट और अपने में पर्याप्त होता है। ऐसा परम साध्य सुख (यूदाइमोनिया) है। साध्य की परिभाषा साधना या कर्म के सन्दर्भ में ही पूरी होती है। मनुष्य की विशेषता, उसकी साधना, विवेक-सम्मत कर्म है। फलतः मनुष्य का परम-साध्य (=परम पुरुषार्थ) या सुख उसके गुण सम्पन्न (आरेते) आत्मिक कर्म (ऐनर्गेइया) में है जबकि गुण अथवा उत्कर्ष का प्रकार अथवा मात्रा भी श्रेष्ठ हो और जीवनव्यापी हो।

(अरस्तु, एथिक्स, पृ० ६–१२)

एक्विनास :

जो कुछ मनुष्य चाहता है, उसे अच्छा समझ कर ही चाहता है (सब स्पीशी बोनी)। उसकी समझ में भ्रान्ति हो सकती है किन्तु मानव इच्छा स्वभावतः 'कुशल'-पक्षपाती है। मानवेच्छा का नियत लक्ष्य सुख (बीएटि-टूडो = यूडाइमोनिया) है। सुख की प्राप्ति मनुष्य के पूर्णता लाभ की दिशा में होती है और दिशा का चरम लक्ष्य है ईश्वर का सान्निध्य।

"एक्विनास के लिये श्रेयस् का सामान्य अर्थ है संकल्प के साथ सम्बद्ध सत्ता अर्थात् सत्ता जिसका अवधारण एषणीय के रूप में अथवा कर्ता को पूर्ण करने की सामर्थ्य के रूप में किया जाता है।"

(कौपलसटन, एक्विनास, पृ० १८३, सुम्मा थीयोलोजिका,
भाग २, १, पृ० १ प्र०)

मूल्य : अभीष्ट

हॉब्स ।

"जो कुछ मनुष्य की भूख या इच्छा का विषय हो उसे ही वह हित मानता है, जो उसकी घृणा या द्वेष का विषय हो वही उसके लिये अहित है।··· स्वत. या निरपेक्षतया कुछ भी हित या अहित नहीं है, न कोई वस्तु-स्वभाव पर आधारित अच्छे बुरे का सामान्य नियम है।"

(लेवायथन, पृ० २४)

स्पिनोजा

"जहां तक 'अच्छा' या 'बुरा' ये पद हैं, ये पदार्थों के अपने भावात्मक

गुणों को सूचित नहीं करते किन्तु बस सोचने के प्रकार या प्रत्यय हैं जिन्हें हम पदार्थों की परस्पर तुलना से पाते हैं।" (स्पिनोजा, **एथिक्स** ४.७)

"हम किसी चीज को 'अच्छा' या 'बुरा' तब कहते हैं जब वह हमारे अस्तित्व की रक्षा में सहायक या विरोधक होती है, अर्थात् जब वह हमारी क्रियाशक्ति को बढ़ाती या रोकती है।"

"हम कभी भी किसी बात के लिये इच्छा, अभिलाषा, चेष्टा इसलिये नहीं करते क्योंकि हम उसे 'अच्छा' मानते हैं, प्रत्युत हम उसे अच्छा इसलिये मानते हैं क्योंकि हम उसकी इच्छा करते हैं।" (स्पिनोजा, **एथिक्स** ३.६)

बैन्थम :

"प्रकृति ने मनुष्य को दो प्रभुओं के शासन में रखा है, दुःख और सुख।" (**एन इन्ट्रोडक्शन टु दि प्रिन्सिपल्स ऑव मौरल्स एन्ड लेजिस्लेशन**)

मिल जे० एस० :

"सुख-संवेदन और दुःख से मुक्ति, ये ही एकमात्र एषणीय लक्ष्य हैं।" (**यूटिलिटेरियनिज्म**, पृ० १०)। चरम साध्यता को तर्क से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। (**वही**, पृ० ५२)। सुख की चरम-साध्यता लोक-सिद्ध है। (**वही**, पृ० ५२-५३)

सिजविक :

"मैं यह मानता हूँ कि किसी भी इच्छा की तृप्ति में उतने तक अच्छाई है।" (**मैथड्स ऑव एथिक्स**, ४. ६. ३)

सैन्टायना :

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि इच्छा चाहे जैसी भी कादाचित्क हो, एक तात्कालिक और अधूरा अर्थ सूचित करती है, जो कि उसके विषय को एक वास्तविक और अपरिहार्य मूल्य प्रदान करता है।"

"मूल्य प्राण अथवा जैव प्रेरणा की साक्षात् एवं अनिर्वचनीय प्रतिक्रिया से उत्पन्न होते हैं और हमारे स्वभाव के रजस्तत्व (इर्रैशनल) भाग में उनका मूल है।" मूल्य-बोध में "ऐन्द्रिय-ग्रहरण का एक तत्व गृहीत विषय के गुरण के रूप में परिवर्तित हो जाता है।" (**सैन्स ऑव ब्यूटी**, पृ० १६, ४४)

मूल्य : सम्यगभीष्ट

ब्रेन्टानो :

'अच्छे' का अर्थ सदा उचितराग का विषय है। अच्छाई विषय का स्वरूपघटक नहीं है, वह एक 'आभासमान गुण' (शाइनक्वालितेत) है जो उस विषय की चेतना के सम्यक्त्‌व से निरूपित होता है।

(राँस, **फ़ाउन्डेशन्स ऑव एथिक्स**, पृ० २८०–८१)

डयूई :

"एषणीय का अर्थ यह नहीं है 'जिसमें इच्छा का विषय बनने की सामर्थ्य या योग्यता हो' बल्कि यह है कि 'जो निष्पक्ष विचार की आँखों में चाहा जाना चाहिये।" (**नेचर ऑव मोरल थियरी**, पृ० ३२)

"सुखसंवेदन से भिन्न सुख एक आत्मिक अवस्था है।" (वही, पृ० ४६)

मिल :

सुखों में गुणभेद के कारण कुछ कम, कुछ अधिक वरणीय हैं। (**यूटिलिटेरियनिज्म**, पृ० १२) नीचे और ऊँचे, दोनों प्रकार के सुखों के अनुभवी लोगों का निर्णय ही इस तारतम्य का आधार है।

साॅलोमन :

"अच्छा का अर्थ पसन्द, अनुमोदित, किन्तु सब पसन्द अच्छी नहीं होती। अच्छा वह है जो एक समूची दृष्टि से पसन्द हो, जिसमें वर्तमान और भविष्य, हम और अन्य, सब का खयाल रखा गया हो।"

(**प्रसीडिंग्ज ऑव दि आरिस्टोटीलियन सोसायटी**, १९०५, पृ० १३१)

मूल्य : आत्मोपलब्धि

कान्ट :

"सत् संकल्प (='कुशल चेतना') के अतिरिक्त विश्व में या उसके बाहर कुछ भी कल्पनीय नहीं हैं जो कि निरवच्छिन्न रूप से शिव हो।

"...सत् संकल्प ही सुखी होने की योग्यता की भी अनिवार्य शर्त है।"
(मैटाफिजिक ऑव मॉरल्स, अनु० बैक, पृ० ५५)

हेगेल :

"चेतना की पूर्ण आत्मबोध में अभिव्यक्ति ही उसके विकास का लक्ष्य है।" (एन्सिक्लोपेदी, पृ० ४६३)

ग्रीन :

"ऐकान्तिक एषणीय का प्रत्यय मनुष्य के अपने लिये साध्यभूत आत्मबोध से उत्पन्न होता है, अथवा, यह कहना चाहिए कि उससे अभिन्न है।" (प्रोलेगोमेना, पृ० २०६)

वेदान्त :

"....शान्त घोर और मूढ़ वृत्तियाँ भेदक उपाधियाँ हैं, योग से अथवा विवेक से उन्हे हटाने पर निरुपाधिक ब्रह्म तत्त्व भासित होता है। उस स्वप्रकाश अद्वैत में त्रिपुटी नहीं रहती। वही अनन्त आनन्द कहलाता है।" (पञ्चदशी, १५, ३२-३३)

३

मूल्यों के भेद और भूमियां

मूल्यबोध की विकासशीलता :

पिछले अध्याय में मूल्य को एषणीयता से परिलक्षित किया गया है जहां कि एषणीय का अर्थ है एषणा-योग्य अर्थात् एषणा का सम्भाव्य एवं विवेक-संगत विषय। इन विषयों की उपलब्धि द्वीप, नक्षत्रादि बाह्य विषयों की उपलब्धि के समान अनुभवमात्र से सम्भव नहीं हैं क्योंकि मूल्य वस्तु-विषय न होकर एषणापेक्ष विकल्पात्मक विषय हैं। उदाहरण के लिये नील-पीतादि गुण का अथवा प्रोटीन आदि स्वभाव का ज्ञान स्वतः मूल्य-ज्ञान नहीं बल्कि उनमें 'दर्शनीयता' अथवा 'भक्ष्यता' आदि का विकल्प ही मूल्य-बोध को जन्म देता है। इस प्रकार के मूल्य-विकल्प में संस्काराधीन एषणा के द्वारा आक्षिप्त विषय और ज्ञानाक्षिप्त विषय, 'इष्ट' विषय और 'दृष्ट' विषय, में विवेकालोचित तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित होता है। आत्म-सम्बद्ध अभाव का बोध पुरस्कृत कर फल-ज्ञान-जन्य संस्कारों से प्रभावित होकर फल-प्राप्ति विषयक एषणा का उदय होता है जो साधनात्मक कर्म के द्वारा भोग उपनीत करती है और भोगविषयक तात्कालिक अथवा कालान्तरीय असन्तोष-विमर्श पुनः एषणान्तर के उदय का कारण बनता है। इस काम-कर्म-भोग के चक्र में दुःख का बोध क्रमशः अनुभूति के अन्तराल में आत्मपर्यालोचन के द्वारा विवेक को प्रतिष्ठित करता है। इष्ट बोध में विशिष्ट आत्म-बोध विशिष्ट इष्ट-बोध के साथ सम्बन्धित होता है। विवेक प्रथमावस्था में इष्ट और दृष्ट का, और उत्तरावस्था में इष्ट और 'स्व' का सामन्जस्य स्थापित करता है, जहां कि असामन्जस्य का लक्षण है दुःख-बोध। दुःख-बोध मूल्य-बोध के विपरीत है और दुःख-निवारण के प्रसंग में विवेक की प्रक्रिया एक दृष्टि-संशोधन की प्रक्रिया होती है जिससे आत्मबोध, विषयबोध और एषणा या सम्बन्ध-बोध तीनों में परिवर्तन आक्षिप्त होता है। मानवीय प्रवृत्ति अपने विषय में मूल्यत्व के आरोप—**सब स्पीशी बोनी**—के द्वारा सिद्ध होती है किंतु

वह दुःखानुषंग के कारण निरन्तर दिशा खोजती है। मूल्यात्मक अनुभूतियां, उनकी अवधारणाएं, सांकेतिक रचनाएं, एवं व्यावहारिक संस्थाएं उसी खोज के अन्तर्गत आयाम, उपलब्धियां और अभिव्यक्तियां हैं।

फलतः मूल्य-बोध विषय-ग्रहणात्मक अनुभवमात्र से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि इष्टानिष्ट की द्वन्द्वात्मक अनुभूतियों के सन्दर्भ में उनके आधार-भूत आत्म-विषय-सम्बन्ध के विचार से जन्म लेता है। इष्टानुसन्धान एवं दुःख विचार, इनके संयोग से ही मूल्य की उपलब्धि होती है। अतएव न अनुभवमात्र से और न अनुभव निरपेक्ष विचारमात्र से मूल्यों का पता चल सकता है। अनुभवमात्रवादी मूल्यों को सामाजिक मनोविज्ञान का अंग बना देते हैं जबकि विचारमात्रवादी मूल्यों को स्वतः सिद्ध आदर्श भावों के रूप में कल्पित करते हैं। किन्तु मूल्यों का पता न विचारहीन अनुभव से लगता है, न अनुभवहीन विचार से। उनका न 'आनुभविक' (एम्पिरिकल) विज्ञान सम्भव है, न 'प्रागनुभविक' (एप्रायोराइ) दर्शन। मानव अनुभूति और विचार से बनी हुई सुदीर्घ और विविध मानव सांस्कृतिक परम्परा ही मूल्यों को पता लगाने के लिये निश्चित, और मूल्यान्वेषी किसी एक व्यक्ति के अपने जीवन से अधिक व्यापक आधार है। जैसे विज्ञान-दर्शन के लिये विज्ञान का इतिहास, ऐसे ही मूल्य-दर्शन के लिये सांस्कृतिक इतिहास आधार भूत है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मूल्यों की नई खोज या विकास सम्भव नहीं है या कि व्यक्ति के लिये अपने जीवन में मूल्य-निर्णय के लिये सांस्कृतिक इतिहास का परिशीलन आवश्यक है। व्यक्ति के जीवन में सांस्कृतिक परम्परा का शिक्षा द्वारा एक सहज अनुप्रवेश होता है। 'शिक्षा' से तात्पर्य यहां विद्यालयीय शिक्षा से ही नहीं है अपितु सामाजिक जीवन के व्यक्ति को परिष्कृत करने वाले सभी प्रभावों से है।

संस्कृति विचारशील व्यक्ति के समक्ष मूल्यों को उपादानवत् प्रस्तुत करती है जिसके आधार पर वह स्वयं अपने मूल्य गढ़ता है। इन व्यक्ति-कल्पित मूल्यों में और परम्परागत मूल्यों में बहुधा सादृश्य होते हुए भी सदा या सर्वथा नहीं होता। यही परम्परा के निरन्तर बदलते रहने का एक कारण है। न व्यक्ति के यथार्थ मूल्य परम्परा-नियत होते हैं, न यह आवश्यक है कि परम्परागत मूल्यों को आदर्श माना जाय। वस्तुतः परम्परा एकविध या समन्जस होती भी नहीं है। वह गंगा की धारा के समान सभी तीर्थों और प्रदेशों का प्रभाव अपने में लिये रहती है। मूल्य-विचार के लिये उसका महत्व कुछ उस प्रकार का है जैसा उत्पादन के प्रसंग में कच्चे माल या खनिज पदार्थ का। यह नहीं कि परम्परागत मूल्योपलब्धियां अनगढ होती

हैं, किन्तु नवीन विचार के प्रसंग में वे उपलब्धियां नवीन उपलब्धियों का उपादान बन जाती हैं।

मूल्योपलब्धि में अनुभव और विवेक ठीक किस प्रकार से जुड़े हुए हैं, इस पर अनेकधा विचार हुआ है। प्लेटो का मत था कि अनुभव में गृहीत मूल्य-छाया हमें सनातन मूल्यों की याद दिलाती है : इन सनातन-मूल्यों से आत्मा का बुद्धि द्वारा परिचय जन्म से पूर्व का होता है। अनुभव क्षेत्र में मूल्य-ज्ञान एक प्रकार का प्रत्यभिज्ञान है जिसे प्लेटो ने एनेम्नीसिस की संज्ञा दी है। कान्ट के अनुसार नैतिक मूल्यों का ज्ञान 'व्यावहारिक बुद्धि' (= विवेक) के सहज नियमों की उपलब्धि ही है। प्लेटो, कान्ट दोनों ही के लिये मूल्य-ज्ञान बुद्धि का सहज ज्ञान है और अनुभव उसका उद्बोधक अथवा प्रयोग-क्षेत्र मात्र है। हार्टमान के अनुसार अनुभूत तथ्यों की मूल्यवत्ता सनातन मूल्यात्मक तत्त्वों पर निर्भर करती है। चेतना अपने अनुभवनिर-पेक्ष मूल्य-ज्ञान के कारण ही अनुभवों में मूल्यवत्ता पहिचानती है। अनुभव का महत्व नाना मूल्यवान् संस्थानों को उपादानवत् प्रस्तुत करने के द्वारा चेतना के प्रागनुभविक बोध को वास्तविक परिस्थितियों में व्यक्त करना है। इस मत में मूल्यों की सनातनता और मूल्यवान् संरचनाओं की ऐति-हासिकता, 'प्रागनुभविक' बोध और अनुभव दोनों के समन्वय का प्रयास है। किन्तु इन तीनों मतों में यह अभ्युपगम है कि मूल्य बुद्धिसाध्य एवं वस्तु-निरपेक्ष आदर्श-मात्र हैं, और प्लेटो और हार्टमान में मूल्य बुद्धिनिरपे-क्षतया स्वतः सिद्ध भी हैं। इस प्रकार का अभ्युपगम न केवल युक्तिरहित है अपितु अनुभव-विरुद्ध है। सत् और असत् का विवेक किसी भी क्षेत्र में अनुभव के बिना विकसित नहीं होता है। यह ठीक है कि मूल्य का अन्तिम प्रमाण अन्तःकरण की प्रवृत्ति है किन्तु अन्तःकरण की प्रवृत्ति संस्कारा-धीनतया पूर्वानुभव की अपेक्षा रखती है। संस्कार-स्थिति और वस्तु-स्थिति के दिये होने पर ही एषण, उपादान अथवा वरण की सम्भावना उत्पन्न होती है और इस सम्भावना के सन्दर्भ में ही विवेक अपना निर्णय देने में समर्थ हो सकता है। रागादिक एषणात्मक वृत्तियों के संस्कार से रहित चित्त में तो विवेक द्वन्द्वातीत होकर प्रज्ञा में पर्यवसित हो जाता है। "....निरा-शिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ?"

किसी दिये हुए विषय में मूल्य-बोध बुद्धि के अपने अन्तःस्थ ज्ञान पर निर्भर करता है और इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मूल्य-ज्ञान एक प्रकार का 'अभिज्ञान' प्रतीत होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक विषय का मूल्य एक पृथक् और समानान्तर भाव है बल्कि इतना

ही कि मूल्य-निर्णय मनोवृत्ति पर निर्भर करता है और यह मनोवृत्ति केवल एषणात्मक ही नहीं है बल्कि ज्ञानात्मक भी है। जैसा कहा जा चुका है 'मूल्य' अनन्यसंसृष्ट धातु नहीं हैं, न स्वलक्षण धर्म, न बाह्य अथवा आन्तरिक सामान्यलक्षण। इष्ट-विकल्प में एकान्वित नाना इच्छा, संकल्प, संवेदन आदि के जटिल समूह पानकवत् एक आत्मसम्बद्ध-विषय-निरूपक विशिष्ट प्रकार के बोध को जन्म देते हैं जिसे 'मूल्य' कहते हैं। मूल्यों की विस्तृत उपलब्धि मानवीय अनुभूति के ऐतिहासिक सागर में पैठे बिना सम्भव नहीं है।

'व्यावहारिक' मूल्य :

मानवीय साधना के दो मूल हैं, अपेक्षा-बोध एवं स्वातन्त्र्य-बोध। अपेक्षा-बोध आधिभौतिक स्तर पर उत्पन्न होता है और कर्म के द्वारा अपेक्षा की तात्कालिक पूर्ति या भोग की ओर उद्दिष्ट होता है। आधिभौतिक अपेक्षाओं के सर्वसाधारण होने के कारण एवं उनके साधनों के अपरिमित न होने के कारण उनसे प्रेरित कर्म और भोग एक सामाजिक व्यवस्था में आदर्शित होते हैं। दैहिक और ऐन्द्रिय जीवन प्राण-रक्षा एवं सुख-दुःख की प्राप्ति-परिहार को मूल्य मानकर प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति के साधारण और अन्यापेक्ष होने के कारण उसमें 'स्व' और 'पर' के तत्वों का व्यवस्थापन महत्वपूर्ण हो जाता है। ऐसे ही जीवन के सीमित-काल-व्यापी होने के कारण और मनुष्य के स्मृति एवं आशंसा से युक्त होने के कारण इस अपेक्षाजन्य प्रवृत्ति में 'तात्कालिक' एवं 'स्थायी' का भी व्यवस्थापन आवश्यक होता है। अपेक्षाओं के नानात्व एवं साधनों के सीमित होने के कारण—विशेषतः उपलब्ध समय और देहेन्द्रिय-सामर्थ्य के सीमित होने के कारण—उनके साधनकर्म में क्रम का वरण अनिवार्य होता है। मानवीय अपेक्षाओं में बुभुक्षा, काम आदि के सहज होने पर भी उनसे प्रेरित कर्म सर्वथा नियत नहीं होते, संस्कार और बुद्धि-विकल्प उनमें वैचित्र्य का आधान करते हैं। आधिभौतिक प्राणी होने के नाते मनुष्य का जीवन अपेक्षा-प्रवर्तित है किन्तु उसके सामाजिक, बौद्धिक और पुरुषकार–युक्त होने के कारण उसकी आधिभौतिक प्रवृत्तियों का जीवन बौद्धिक, सामाजिक और पौरुषिक प्रवृत्तियों से असम्पृक्त नहीं रहता। फलतः आधिभौतिक अपेक्षापूर्तिरूप मूल्य एक विस्तृत अर्थ में व्यवस्थात्मक सामाजिक-बौद्धिक मूल्य से मिलकर मनुष्य के आधिभौतिक-सामाजिक जीवन के साध्य और नियामक बनते हैं। अपेक्षाक्षिप्त मानव-सम्बन्ध स्थायी संस्थाओं और परम्पराओं को जन्म देकर मनुष्य के आत्मबोध के साथ-साथ उसके अपेक्षाबोध को भी रूपान्तरित करते हैं। उदाहरण के लिये काम और प्रजनन की अपेक्षाएं स्त्री-पुरुष और

जनक-अपत्य के सम्बन्धों से कुटुम्ब की सृष्टि करती है और कुटुम्ब औपाधिक ममत्व के द्वारा स्नेह, प्रेम आदि भावों को जन्म देता है। ऐसे ही शरीर-रक्षा के लिये साधनसंग्रह 'स्वत्व' की भावना, श्रम-सहयोग एवं विभाजन आदि के द्वारा अर्थ-व्यवस्था और आक्रमण-निवारण, दण्ड-विधान आदि के द्वारा राज्य व्यवस्था को जन्म देता है। आर्थिक, राजनीतिक और 'सामाजिक' मूल्य इसी विकासशील जीवन-संदर्भ के सूत्र हैं। उन्हें जीने के लिये अपेक्षित मूल्य कहा जा सकता है। जीवन यदि प्राप्य मूल्य है, तो ये उसके सहचर एवं अनुचर हैं। अपेक्षा-जन्य, कर्म-साध्य एवं भोगात्मक इन मूल्यों का साधन निरन्तर एक परतन्त्रता की प्रतीति से व्याप्त रहता है और अपनी समग्रता में यह काम-कर्म-भोग-व्यवस्था का जीवन ही मनुष्य का व्यावहारिक जीवन है।

व्यावहारिक मूल्यों का प्राचीन त्रिवर्ग है, धर्म, अर्थ और काम। यह कहा जा सकता है कि बुद्धिवादी दृष्टिकोण से इन तीन पुरुषार्थों में धर्म मात्र पुरुषार्थ है, अर्थ साधनमात्र, काम अनर्थ अथवा अनुपादेय; भोगवादी दृष्टिकोण से विस्तृत अर्थ में काम मात्र पुरुषार्थ है, धर्म और अर्थ तदुपयोगी साधनमात्र। किंच, चूंकि काम अपेक्षात्मक पारतन्त्र्य से लक्षित है, अर्थ उपयोगिता से और धर्म स्वातन्त्र्यापेक्षी है, अतः पुरुषार्थों का धर्म, अर्थ एवं काम में वर्गीकरण किसी एक निश्चित कसौटी पर किया गया प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः यह आलोचना पुरुषार्थ और परम पुरुषार्थ में व्यामोह के कारण उत्पन्न होती है। मूल्य अथवा साध्य के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह चरम साध्य हो। अर्थ भोग का साधन होते हुए भी उत्पादन आदि के संदर्भ में साध्य बना रहता है। काम धर्माविरोधी होने पर अनर्थ नहीं कहा जा सकता। धर्म में भी साधनता और साध्यता दोनों ही प्रतिपादित किये जा सकते हैं। फलतः धर्म, अर्थ, काम तीनों की पुरुषार्थता में कोई सन्देह नहीं है। तीनों ही अपेक्षा-प्रवर्तित जीवन के निकट-सम्बद्ध आयाम हैं जिनमें प्रत्येक आयाम में एक सुश्लिष्ट और अन्य-विलक्षण मूल्य-वर्ग की उपलब्धि होती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये मूल्य परस्पर असम्बद्ध हैं प्रत्युत बहुधा इन्हें जटिल मूल्य-संरचनाओं का बौद्धिक विभाजनमात्र मानना चाहिये। अथवा यह कहा जाय कि भौतिक-सामाजिक जीवन के अपेक्षापूर्ति-रूप मूल्य के ये तीन आयाम हैं।

मनुष्य का अपेक्षा-बोध उसे पशुवत् प्रवर्तित नहीं करता क्योंकि उसमें स्वातन्त्र्यबोध भी उसे प्रयोजित करता है। आत्मबोध के अन्तर्गत ही अपेक्षा बोध उसे स्वीकार्य होता है, अन्यथा वह अपेक्षा के दबाव से संघर्ष करता है।

फलतः स्वातन्त्र्यबोध अपेक्षाजन्य लक्ष्यों पर आत्मबोध रूप एक सीमा का आरोप करता है जिसके बाहर अपेक्षा-विषय अनर्थ विज्ञापित हो जाते हैं। बहुत दूर तक सीमा 'धर्म' (नैतिकता) की ही सीमा है। स्वातन्त्र्य का अर्थ यहां निरंकुशता नहीं अपितु स्वभावानुकूल संकल्प या सामर्थ्य है। अपनी स्वाभाविक या सहज सम्भावनाओं को व्यक्त करने में मनुष्य चरितार्थता का अनुभव करता है। अरस्तू के अनुसार मानव-हित मनुष्य के सहज और विशिष्ट सामर्थ्य के कार्यरूप में व्यक्त होने पर सिद्ध होता है। जहां दैहिक और ऐन्द्रिय शक्तियां और अपेक्षाएं मनुष्य और पशु में बहुधा समान हैं, बुद्धि मनुष्य की विशेषता है। व्यावहारिक जीवन में बुद्धि अपने व्यापार के लिये आवश्यक प्राणात्मक मूल्य के अनुरोध से अपेक्षाजन्य प्रवृत्ति के जीवन को व्यवस्था और मानव-प्राणियों को सामाजिक आत्मबोध देती है। किन्तु व्यावहारिक सन्दर्भ में बुद्धि मानवीय जीवन की प्रवृत्ति-परतन्त्रता को स्वीकार कर उस ही के सन्दर्भ में उपलब्ध साध्यों के लिये प्रकृति-विज्ञान के द्वारा साधन एवं उपयुक्त संगठन जुटाती है। फलतः यद्यपि व्यावहारिक जीवन में मनुष्य की बुद्धिजीविता विरत या अपार्थक नहीं होती, उसके व्यावहारिक मूल्य बौद्धिक स्वातन्त्र्य के साध्य नहीं होते। एक साथ ही देहजीवी और बुद्धिजीवी होते हुए भी मनुष्य जीवन के एक स्तर पर देहमूलक अपेक्षाओं के आधार पर बुद्धि की सहायता से आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं में मूल्यों का अनुसन्धान करता है, दूसरे स्तर पर वह बुद्धि के स्वातन्त्र्य में प्रतिबिम्बित मूल्यों का अनेक दिशाओं में अनुसन्धान करता है। अपेक्षाबोध और स्वातन्त्र्यबोध, दोनों में ही मूल्यबोध अन्तर्निहित है किन्तु उनमें आत्मबोध-सापेक्ष स्तर-भेद है।

'आदर्श' मूल्य :

बुद्धि का स्वभाव ज्ञान, संकल्प और भाव की विधाओं में बांटा जा सकता है। जिज्ञासा के अनुसरण से द्रष्टा के रूप में मनुष्य का बौद्धिक आत्मबोध नानाविद्याओं और शास्त्रों के विकास में सत्यात्मक मूल्य का सन्धान पाता है। संकल्प में निस्वार्थ और सार्वभौम आत्मबोध की शिवात्मकता विशुद्ध कर्तव्य बोध एवं करुणा, प्रेम आदि शुद्ध मानवीय भावों में व्यक्त होती है। भावमात्र में अन्तर्निहित सौन्दर्य सृजनात्मक कल्पना अथवा प्रतिभा के संकेतों से व्यक्त होता है। सत्य, शिव और सौन्दर्य बुद्धि की पर्येषणा में सिद्धवत् व्यक्त होते हैं किन्तु इससे इन मूल्यों की बुद्धि-निरपेक्ष सनातनता सिद्ध नहीं होती प्रत्युत इतना ही सिद्ध होता है कि ये मूल्य प्राकृतिक कार्य-कारण-भाव के परतन्त्र नहीं हैं, ये उस अर्थ में बनाए नहीं जाते, न 'भोगे'

जाते हैं, जिस अर्थ में व्यावहारिक मूल्य। ये बुद्धिगम्य आदर्श भाव हैं जो बुद्धि के सहज सात्विक प्रकाश में संस्कारापेक्षितया अनुभूति के 'अर्थ' प्रस्तुत करते हैं। व्यावहारिक जीवन में सत्व उपसर्जनीभूत एवं रजस् प्रधान होता है। बौद्धिक पर्येषणा में सत्व का प्राधान्य होता है किन्तु राजसिक संस्कार लुप्त नहीं होते। सात्विक मूल्य भावात्मक और दर्शनात्मक होते हैं, न कि कर्मात्मक और भोगात्मक। उनमें एक प्रकार की देश-काल निरपेक्षता, सार्वभौमता और सनातनता आभासित होती है जो कि उनकी विशिष्ट-रूपता से परे उनमें अग्राह्य किसी परम मूल्य का संधानमात्र है। सत्य शिव और सुन्दर का बोध ज्ञान–विशेष, संकल्प–विशेष एवं भाव–विशेष में सविशेषतया एवं विषयाभिन्नतया होता है, निरुपाधिक अथवा निर्विशेषतया नहीं। बुद्धि विषयप्रधान एवं सामान्यविशेषार्थी अथवा विशेषार्थी होती है। वह सापेक्ष स्वभावों का ही ग्रहण अथवा कल्पना कर सकती है, उसके संकल्पित विषय सदा द्वन्द्वग्रस्त होते हैं, उसके आस्वाद्य भाव सदा विशेषालम्बन और संस्कारापेक्ष होते हैं। उसके लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सत्य, शिव और सुन्दर के परिच्छिन्न विषयात्मक विशेषों का अतिक्रमण करे। किन्तु यह होने पर भी यह निर्विवाद है कि इन मूल्यों के अनन्तविस्तृत अनुसन्धान में बुद्धि को सदा एक सार्थकता का किन्तु ऐसी अधूरी सार्थकता का आभास होता जिसके विकासशील होते हुए भी जिसके निरपेक्ष स्वरूप का उसे कहीं पता नहीं चलता।

'व्यावहारिक' और 'आदर्श' मूल्यों का सम्बन्ध

बुद्धि न केवल अपने अस्तित्व के लिये आधिभौतिक और सामाजिक जीवन पर निर्भर है और एतदर्थ उस जीवन-रक्षा-रूपी मूल्याधिप को उपयुक्त उपाय और व्यवस्था के ज्ञान की भेंट देती है, अपितु बुद्धि-क्षेत्र के मूल्य व्यवहार-क्षेत्र के मूल्यों को अपना विषय बनाते है अथवा अपने विषय में अन्तर्भुक्त करते हैं। उदाहरण के लिये आर्थिक जीवन और उसका उपयोगी शिल्प विज्ञान का आश्रय भी होता है और विषय भी। अनन्त जिज्ञासा-प्रयुक्त होने के कारण आदर्श-मूल्य होते हुए भी प्रकृति-विज्ञान को भोग सन्दर्भ में साधनतया अर्थ के अन्दर रखा जा सकना उसकी प्रगति का सामाजिक आधार बन जाता है। तभी अनुभव और विज्ञान दार्शनिक ज्ञान का आश्रय और विषय बनता है। व्यवस्थात्मक अथवा संस्थात्मक धर्म विवेक का उपादान भी बनता है और विषय भी। धर्म, अर्थ और काम तीनों ही कला के विषय बनते हैं, उनके मूल्य यथावत् प्रकाशित होकर एक अपूर्व सौन्दर्यात्मक मूल्य का उपादान बनते हैं। इस आश्रय-विषय-रूप उभयविध

सम्बन्ध के कारण बुद्धि-क्षेत्रीय मूल्यों को दृष्टिभेद से व्यवहार का अमूर्त प्रतिबिम्ब मात्र अथवा आदर्श मान कहा गया है। कोई बुद्धि-क्षेत्रीय मूल्यों की वास्तविकता व्यवहार में खोजते हैं, कोई व्यवहार की सार्थकता के मान बुद्धिगम्य आदर्शों में खोजते हैं। सत्य है कि व्यावहारिक और आदर्श मूल्य जीवन के विविध स्तरों में उपलब्ध होते हुए भी इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि व्यवहार दोनों प्रकार के मूल्यों को प्राण देता है और आदर्श दोनों को आकार।

ऊपर कहा जा चुका है कि इष्टबोध में मूल्य–प्रतिभास और दुःख-बोध में अनर्थ-प्रतिभास एवं तत्प्रतियोगितया मूल्य-प्रतिभास अन्तर्निहित रहता है। व्यवहार में इष्टानिष्ट एवं सुख-दुःख का द्वन्द्वात्मक आन्दोलन अपने से विपरीत ऐसे सुखित्व की कल्पना प्रस्तुत करता है जिनमें शान्ति, सौमनस्य और स्थायिता के तत्व प्रधान हों। स्पष्ट ही इस प्रकार का सुखित्व तृष्णा से पराहत नाना विषयों के श्रमसाध्य और संयोगसाध्य सम्प्रयोग की अपेक्षा आत्मसंयम, दूरदर्शिता, मतिमत्ता या प्रज्ञा,धैर्य, सन्तोष आदि आध्यात्मिक गुणों पर अधिक निर्भर करता है। इसीलिये विभिन्न सामाजिक संस्थाएं अपनी व्यवस्था को न्यूनाधिक मात्रा में इन आध्यात्मिक गुणों में से किसी किसी को लेकर उससे सुदृढ बनाती हैं। व्यवहार में अनिवार्यतया अपेक्षित आत्मसंयम-रूप धर्म, साधनों की उपयोगिता के आकलन के लिये अपेक्षित तत्वज्ञान, और विभिन्न प्रवृत्तियों के विरोध–परिहार के लिये उनमें तारतम्य की जिज्ञासा, व्यवहार के स्तर के परे के आदर्श-स्तर के संकेत और सेतु बनते हैं। व्यावहारिक या जैव-सामाजिक मूल्य आदर्श या सात्विक मूल्यों के आश्रय, विषय और स्थूल निदर्शन बनते हैं एवं मूल्य-पर्येषणा का सूत्र दोनों स्तरों में अनुसंतत रहता है। व्यावहारिक स्तर पर विषय कारित्रयुक्त कालिक पदार्थ हैं जो स्वरूपतः तटस्थ किन्तु कारित्र–सम्बन्ध से भोग्य होते हैं और उनका विषयी मानव भी उन्हीं के सदृश प्राकृत वस्तुओं के राज्य का, ऐन्द्रिय कर्तृत्व, भोक्तृत्व और प्रमातृत्व से युक्त, साहंकार नागरिक होता है। व्यवहार भूमि की मूल्य-चेतना फलोद्दिष्ट कर्म-चेतना है जो 'स्व' और 'पर' के अपरिहार्य भेद से अंकित रहती है। बुद्धि-भूमि में विषय अकालिक तत्व या भाव बन जाते हैं जो स्वरूपतः मूल्यवान् और अतःदर्शन-मात्र से भोग्य होते हैं—विषयी यहां बुद्धिभूमिक स्वातन्त्र्य से युक्त होते हैं, और उनका अहंकार भावमात्र से आहार्य। उनका स्वातन्त्र्य उनके द्रष्ट्रत्व और स्रष्ट्रत्व के द्वारा सांकेतिक संरचनाओं में प्रकट होता है।

'पारमार्थिक' मूल्य

विषय को सर्वथा आत्मानुरूप न पाने के कारण एवं समानस्तरीय विषयों में समान दोषों के पाने के कारण, मूल्यानुसन्धान स्थूल भोगों के स्तर के परे सूक्ष्म दर्शनात्मक भोगों में प्रवृत्त होता है। किन्तु जैसे विकारात्मक स्थूल भोग अर्थगवेषी बुद्धिजीवी के लिये अपर्याप्त सिद्ध होते हैं, ऐसे ही परिच्छिन्न और सविशेष प्रत्यत्यों एवं बिम्बों के अन्तराल से संकेतित अर्थ-प्रतिभास रहस्यगवेषी आत्मा के लिये अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। मानवीय चेतना ऐसे मूल्य को खोजती है जिसमें यथार्थ और आदर्श का निर्दोष तादात्म्य हो, जिसे पूर्ण सत् अथवा सत् पूर्ण कह सकें, जिसका बोध ऐकान्तिक और आत्यन्तिक तृप्ति का हेतु हो। इस प्रकार का मूल्य परम पुरुषार्थ होगा और उसे पारमार्थिक कह सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म के परे मूल्य बोध की यह परभूमि है।

स्थूल और सूक्ष्म गुण-पर्व हैं, पर गुणातीत। स्थूल और सूक्ष्म विषय-विषयि भाव के अन्तर्गत हैं, पर उससे उत्तीर्ण। स्थूल का अस्तित्व और सूक्ष्म की सार्थकता अनुभूति सिद्ध और असंशय होती है, पर एक आध्यात्मिक अभीप्सा और मुमुक्षा में ही अस्पष्टतया आभासित होता है। पर के सामान्यतः प्रमाणसिद्ध न होते हुए भी उसके आभास में आदर्श-मूल्य का स्वरूप ही अपनी स्वातिक्रामिता से उसकी सूचना बन जाता है। विशेषात्मक सभी मूल्यों के तात्विक आधार के रूप में, खण्ड मूल्यबोध के पूर्वाभ्युपगम के रूप में भी परमार्थ की सिद्धि की गई है।[1] प्राण, अमृतत्व, सुख, दुःखाभाव, स्वातन्त्र्य, सत्य, शिव, सौन्दर्य, इन सभी पृथक्-पृथक् मूल्यायामों के चरम बिन्दु या परमोत्कर्ष के रूप में भी पर की कल्पना होती है। फलतः परमार्थ सब विशेष मूल्यों के आधार एवं उत्कर्ष के रूप में कल्पनीय है और उसकी उत्कर्षात्मक कल्पना से ही उसमें साध्यता की कल्पना होती है।

एषणाओं के परम लक्ष्य के रूप में कोई नित्य और स्वतन्त्र अर्थ है कि नहीं, परम पुरुषार्थ अकल्पित परमार्थ है कि नहीं, ये विवादास्पद दार्शनिक प्रश्न हैं जिन पर पीछे विचार किया जाएगा। यहां पर इतना ही देखना पर्याप्त है कि परमार्थ की निष्ठा से अनुप्राणित मनुष्य ने मूल्यों का

---

१ तु० "यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्....." (तै० उप०); "तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम्" (योगसूत्र); 'ओन्टोलोजिकल प्रूफ' का भी इसी प्रकार का तात्पर्य है।

एक अन्य विलक्षण आयाम उपलब्ध किया है जिसे 'धर्म' (=मजहब) अथवा आध्यात्मिक जीवन कहते हैं। आध्यात्मिक जीवन की निष्ठा को भ्रान्त मान कर उसे एक प्रकार का व्यावहारिक अथवा आदर्श-भावात्मक जीवन माना जा सकता है। किन्तु इस अन्तर्भाव से 'धर्म' मूल्यानुसन्धान न रहकर भ्रान्तिमूलक अनर्थानुसन्धान बन जाता है। अतः वर्तमान सन्दर्भ में धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों को एक पृथक् विभाग के रूप में प्रस्तुत किया है। इस मूल्य-विभाग को वस्तुतः पर माना जाय कि कल्पिततया, यह प्रश्न अवश्य शेष रहता है।

पर्येषणा-पर्व और भूमि-भेद :

अनुकूल वेदनीय को सुख और राग को सुखानुशयी कहा गया है। इस बिन्दु से एषणा को राग-विषय के अभाव का बोध कहा जा सकता है और स्व-हित-साधक विषय की एषणा को अपेक्षा। यद्यपि कारण द्वारा कार्यगत उपकार्यता भी अपेक्षा कही जाती है तथापि जैव और मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में प्राणी की अपने हित के उपकारक विषय की एषणा अथवा इस प्रकार की अव्यक्त एषणा का दबाव या प्रेरणा को अपेक्षा कहना ठीक होगा। अपेक्षा का विषय निश्चित और सीमित होता है और इसीलिये अपने सहज रूप में अपेक्षा भी मात्रायत्त होती है किन्तु पूर्ण न होने पर अपेक्षा का दबाव उत्तरोत्तर दूभर हो जाता है। और उसकी एक विकृत अवस्था का जन्म होता है। यह सुविदित है कि जैवहित की ओर साक्षात् उद्दिष्ट सहज अपेक्षाएं आद्य और प्रबलतम होती हैं। इनमें संसृष्ट और जैव-हित की ओर परम्परया उद्दिष्ट अन्य नाना अपेक्षाएं सामाजिक शिक्षा परम्परा के संस्कारों से उठती हैं और अपने विशिष्ट रूपों में अवार्य न होते हुए भी वे अपने सामान्य इष्ट की ओर प्रेरणा के रूप में अवार्यकल्प ही होती हैं। जहां सहज अपेक्षाएं मनुष्य के सहज जैव-सामाजिक हित की ओर उद्दिष्ट होती हैं उनसे प्रेरित प्रवृत्ति के प्रसंग में सुखादि के बोध के द्वारा नाना राग और एषणाएं जन्म लेती हैं जिनमें सुखादि-संसृष्ट नाना अणुभूत और विकल्पित विषयों के आकार इष्ट-विषय के रूप में अन्तर्निहित होते हैं। इस प्रकार सहज प्रवृत्तियां, सुखदुःखात्मक अनुभूतियों से संसृष्ट विषय-विकल्प, इष्टसाधनताज्ञान, आदेशात्मक विकल्प, उनकी विविध संसृष्टियां, विकृतियां आदि व्यावहारिक भूमि की जटिल प्रेरणाएं बनती हैं जिनके मूल्यों को वैयक्तिक और सामाजिक हित-सुख कहा जा सकता है। यहां जैव-सामाजिक सत्ता की सुरक्षा और विकास में जो उपयोगी है वही उसके लिये अच्छा या उसके हित के लिये अपेक्षित है और

सुख में नाना इष्ट विषय या प्रेयस् संगृहीत हैं। व्यक्तियों के लिये सुखी जीवन की सम्भावना जिस व्यवस्था की अपेक्षा रखती है वही सामाजिक हित-सुख की व्यवस्था है। जीते रहना और सुखी रहना, यही व्यावहारिक मूल्यानुसन्धान का दुहरा सूत्र है। जीने और अनुभूतियों के अर्थ या अर्थवत्ता को संकेतों में समझना और निःस्वार्थ मानवीय भावों को अपनाना बुद्धि का जीवन है। जीने के स्तर पर भाव अहंकार-पुरस्सर होते हैं, अहंकार चाहे देहोपाधिक हो चाहे संस्थोपाधिक। समझने के स्तर पर अहंकार और तत्पुरस्सर भाव विषय बन जाते हैं और उनका बोध जीवन का एक अलौकिक भावात्मक मूल्यबोध बन जाता है। व्यावहारिक जीवन में मूल्य का बोध कर्म और भोग की अभीष्टता के बोध के रूप में होता है। विद्या, कला आदि की साधना में मूल्य का बोध विषय के गुण बोध के रूप में होता है। भोग की इष्टता का बोध अहंकार-निरूपित भावों से सम्प्रयुक्त होता है। गुणाढ्य-विषय की एकता का बोध निःस्वार्थ भावों से सम्प्रयुक्त होता है। मूल्य-बोध भाव-सम्पृक्त होता है और जहां बोध विषय का आक्षेप करता है भाव विषयी का और विषय की ओर विषयी की मनोवृत्ति से अभिन्न होता है। मूल्य-बोध का विकास भावात्मक मनोवृत्ति का विकास होता है और ये मनोवृत्तियां विविध विषय-ज्ञान एवं आत्म-ज्ञान के संयुक्त व्यापार हैं। मानवीय मनोभाव, जीवन-निर्वाह के अंग हों चाहे जीवन-दर्शन के, मानवीय आत्मबोध एवं विश्वबोध के संयोग पर निर्भर करते हैं। आत्मबोध, विश्वबोध और उनके सम्बन्धों की व्यापक और समन्वित विशेषताएं मनोभाव या मूल्यबोध की भूमि-विशेष या स्तर को परिभाषित करती हैं। ऊपर इन भूमियों के स्थूल रूप से परस्पर सम्बद्ध तीन विभाग किये गये हैं—व्यावहारिक या सामाजिक, बुद्धिभूमिक या सांस्कृतिक और पारमार्थिक या धार्मिक।

तारतम्य का आधार : अन्तर्दृष्टि

मनोभावों में आक्षिप्त विषयों की आभासमान एष्यतारूप मूल्यों का तारतम्य किस प्रकार स्थापित किया जाना चाहिए, इस प्रश्न पर अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। एक मत है कि मूल्य का बोध ही आपेक्षिक वरणीयता का बोध है और इसलिये मूल्यों का तारतम्य मूल्यबोध के साथ ही निश्चित हो जाता है।[1] किन्तु न केवल नाना व्यक्तियों

---

१ उदाहरणार्थ ब्रोगन एवं ड्यूई (द्र० पैरि, पूर्वोद्धृत, पृ० ३८–४०); शेलर (फ्रोन्डिजी, पूर्वोद्धृत, पृ० ९४–९५)

और समाजों में इस प्रकार का निश्चय विवादस्पद है, उसी व्यक्ति अथवा समाज को भी केवल अपने अनुभवमात्र से इस प्रश्न का हल नहीं मिलता बल्कि उन्हें इस हल के लिये विचार की शरण लेनी पड़ती है और विचार सैद्धान्तिक निकष चाहता है। इसीलिये शेलर ने मूल्य-तारतम्य को वरण से विदित मानने पर भी ऐसे लक्षणों को प्रस्तुत किया है जो मूल्य तारतम्य के सहचर हैं। चिरस्थायिता, अविभाज्यता, आधारभूतता, तृप्तिगाम्भीर्य और ग्राहक-वैशिष्ट्य की निरपेक्षता को उन्होंने उच्चतर मूल्यों के लक्षण बताया है।[1] हार्टमान का कहना है कि ये लक्षण केवल नैतिक मूल्यों की जैविक मूल्यों से श्रेष्ठता व्यक्त करते हैं, जो कि वैसे भी स्पष्ट हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक मूल्य का अपना विलक्षण बोध, चेतना की उसकी ओर एक नियत और विलक्षण प्रतिक्रिया होती है किन्तु किसी एक मूल्य का बोध सर्वथा पृथक्तया नहीं होता। मूल्यों का बोध अन्य-सम्बद्धतया और सापेक्ष वरणीयता के बोध के साथ होता है। तथापि यह बोध कभी सम्पूर्ण नहीं होता। विवेक के निपुण अभ्यास, मूल्यों के पुनः पुनः परीक्षण और परिशीलन के द्वारा उनका बोध और तारतम्य खण्डशः बोध-पथ में अवतीर्ण होता है। ऐसा कोई सिद्धान्त या तत्व नहीं है जिससे सब मूल्यों का तारतम्य युक्ततया समझा जा सकता है। मूल्य और उनका तारतम्य एक स्वरूपसत् आदर्श-व्यवस्था है और उसका मनुष्य को पता विवेक के द्वारा क्रमशः होता है।[2]

हार्टमान विवेक को वस्तुतन्त्र मानकर मूल्यों के तारतम्य की विवेक-सिद्धता से मूल्यों को स्वभावसिद्ध परिनिष्पन्न विषय मान लेते हैं। किन्तु न विवेक वस्तु-विज्ञान है, न मूल्य स्वतन्त्र विषय। विवेक विषय की एषितव्यता का निर्णय **विषयी आत्मा के लिये** करता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है विवेक का व्यापार केवल विषय के ज्ञान पर निर्भर नहीं करता है, अपितु आत्मा के ज्ञान पर भी—और ये ज्ञान विकल्पात्मक होने से वैसे भी वस्तु-विषयक नहीं होते—क्योंकि विवेक आत्मा और विषय के सम्बन्ध को निर्धा-

---

१ फौन्डिजी, पूर्वोद्धृत, पृ० ९४–१००, हार्टमान, पूर्वोद्धृत, जि० २, पृ० ५४–५६।

२ "आदर्श और आत्मसत् तारतम्य की निरपेक्षता का यह अर्थ नहीं है कि उस तारतम्य की चेतना भी उसके अनुरूप और बराबर आदर्श है" (हार्टमान, वही, पृ० ६०), "यही कारण है कि मूल्य-सोपान हमारे लिये सदा ही अनिवार्यतया अधूरा रहेगा। उसका अधूरापन मूल्य के दार्शनिक ज्ञान से उच्चतर अंश का होगा" (वही, पृ० ६४)।

रित करता है। और फिर विवेक प्रतिभात्मक या साक्षात्कारात्मक ज्ञान न होकर विचार-पुरस्सर अध्यवसायात्मक होता है। विचार का तात्त्विक रूप इस प्रकार बताया जा सकता है—क्या विषय का इष्टतावच्छेदक विषयनिष्ठ प्रकारता का अवच्छेदक है और साथ ही उस अवच्छेदक से अवच्छिन्न इष्टता की निरूपक विषयिता का अवच्छेदक आत्म-बोधनिरूपित आत्म-प्रकारता का भी अवच्छेदक है ? अर्थात् जिस रूप में विषय अभीष्ट है, क्या वह रूप विषय के तात्विक ज्ञान से समन्जस है और क्या उस रूप के विषय की अभीष्टता जिस रूप के विषयी के लिये है वह विषयी का रूप आत्मबोध के समन्जस है ? मूल्य का अर्थ है पुरुषार्थ, मानव-पर्येष्य, जो ज्ञान-सम्पन्न, विशेषतः आत्मज्ञान-सम्पन्न मनुष्य का अभीष्ट है। ज्ञान के विकासशील होने के कारण विवेक का स्वर नित्य, कूटस्थ स्वर नहीं है। वह एषणा के विषय और विषयी के स्वरूप-विचार के अनुसार परिवर्तन-शील है।

हार्टमान जैविक और नैतिक मूल्यों के स्तर-भेद को विवेकसिद्ध मानते हैं। पहले तो यह स्मरणीय है कि जैविक-नैतिक का द्वन्द्व अशेष मूल्यों का विभाजन न होकर अभिप्राय-विशेष से किया हुआ है। विद्या अथवा कला के मूल्य न जैविक हैं न नैतिक। और जैविक नैतिक के समान अनेक अन्य द्वन्द्व मिलते है—लौकिक और 'धार्मिक' (= प्रोफेन और रिलिजस), प्राकृत और 'आर्य' (नैचरल और स्पिरिच्युल).ऐन्द्रिय और बौद्धिक, कर्मात्मक और दर्शनात्मक। मूल्यों का स्तरीकरण वहीं तक सार्थक है जहां तक उनमें अनु-सन्तत आयाम देखे जा सकते हैं। अन्यथा मूल्यों का तारतम्य न सिद्ध होकर उनकी अतुलनीय विलक्षणता ही सिद्ध होगी। अतएव यह प्रश्न स्पष्ट ही सार्थक और महत्त्वपूर्ण है कि जैविक और नैतिक मूल्यों का प्रायः स्वीकृत तारतम्य किन लक्षणों पर आधारित है।

तारतम्य का आधार = उपयोगिता

प्राकृतिक प्राणी के रूप में मानव-व्यवहार का सहज लक्ष्य जैव मूल्य है। एक मत है कि इन्हीं लक्ष्यों के उपयोगी साधन के रूप में समाज का विकास हुआ है और समाज-व्यवस्था के व्यक्ति के लिए सामान्यतया आदिष्ट नियम एवं साध्य ही नैतिक नियम एवं मूल्य हैं। इस दृष्टि से नैतिक मूल्य जैव मूल्यों के अनुचर और पूरक सिद्ध होते हैं, अथवा यह कहना चाहिये कि नैतिक मूल्य जैव मूल्यों के विकसित रूप बन जाते हैं। यहां जैव और नैतिक मूल्यों में मौलिक विरोध या भेद नहीं है किन्तु अधिक बुद्धिसंगत और विकसित होने के कारण नैतिक मूल्यों को जैव मूल्यों से

श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। किस प्रकार जैव और नैतिक का अन्तर सामाजिक सूत्र से पूरा होता है, इस पर नाना मत हैं जिनका विचार पीछे किया जायगा। यहां इतना ही उल्लेख्य है कि इन सभी मतों में यह स्वीकार्य है कि नैतिक मूल्य जैव उपादान पर व्यक्त अथवा अव्यक्त सामाजिक बुद्धि के व्यापार के परिणाम हैं। उपयोगितावादियों के अनुसार जैविक मूल्य सुख और नैतिक मूल्य अधिकतम का अधिकतम सुख है। बुद्धि का कार्य सुख का अधिकतमत्व सम्पादन है। बेन्थम ने सुख-दुःख के सात आयाम बताए हैं—तीव्रता, स्थिति-काल, असन्दिग्धता, आसन्नता, (सुखान्तरादि) जनकता, अमिश्रता और विस्तार[1]। वस्तुतः यहां पर भी दोष मूल्य के अवधारण ही में है। मूल्य को सुख की अधिकतम मात्रा कहना, इस बात को भुला देना है कि सुख बहुधा स्वयं इष्ट विषय न होकर इष्ट-भोग का सम्प्रयुक्त धर्म है। सुखभोग वास्तव में किसी विषय का सुखात्मक भोग होता है। और फिर प्राण-रक्षा प्रभृति आद्य जैव मूल्यों को सुख का उपसर्जन कहना उलटी गंगा बहाना है। सुखों में प्रत्यक्ष उपलब्ध गुण-भेद में, जैसे संगीत श्रवण और मलमल के स्पर्श में, केवल मात्रा भेद नहीं कहा जा सकता। एक अन्य प्रश्न भी है—सुखों की मात्रा की नाप-तौल किस प्रकार होगी, विशेषतः अलग अलग व्यक्तियों के सुखों की ?

सुखवादी उपयोगितावाद के इन दोषों को देखकर उपयोगितावादकी अन्य व्याख्याएं प्रस्तुत हुई हैं जो सुख के स्थान पर सामाजिक हित और वैयक्तिक सुखित्व को रखती हैं। समाज का व्यक्तियों से पृथक् हित नहीं होता, व्यक्तियों के हितों की ही सामान्य व्यवस्था समाज कहलाती है। "सामाजिक मूल्य का अर्थ है ऐसे मूल्य जो एकाधिक मूल्यान्वेषियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर आश्रित हैं। व्यक्ति-हित अथवा मूल्यों को समझने के लिये फिर से उन्हें मानवीय प्रवृत्तियों, उन पर आधारित अभिरुचियों और उनकी 'संरचनाओं—संस्कारों एवं संस्थाओं—में विश्लेषित करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में मूल्यों का तारतम्य कैसे निश्चित होगा ? पैरि चार बातों को उस सन्दर्भ में ध्यातव्य बताते हैं—युक्तता, तीव्रता, वरणीयता और व्यापकता[2]। इनमें युक्तता गुणात्मक धर्म है जबकि शेष तीन परिमाणात्मक या मात्रात्मक। युक्तता मूल्य की आधारभूत धारणाओं या मान्यताओं का लक्षण है और युक्तता की परीक्षा से मूल्यविषयक मान्यताओं में संशोधन हो जाता है। उदाहरण के लिये सिगरेट की रोग-

१ प्रिन्सिपल्स ऑव मौरल्स एण्ड लैजिस्लेशन, चतुर्थ अध्याय।
२ पैरि पूर्वोद्धृत पृ० ६११।

कारकता का ज्ञान सिगरेट-विषयक मूल्य-प्रतिपत्ति का संशोधन करती है। वरणीयता यहां तुलनात्मक पसंद का विषय होना है। एक मूल्य के जैसे जोंखिम के खेल के अधिक तीव्र होने पर भी दूसरे को पसन्द तरजीह दे सकती है। व्यापकता उस विषय का गुण है जो एकाधिक अभिरुचियों का विषय होने के कारण एकाधिक मूल्य से युक्त है। उदाहरण के लिये पानी पीने के लिये चाहिए और नहाने के लिये भी। इस चतुःसूत्री में वरणीयता का स्थान कुछ ऐसा है जैसे हार्टमान के लिये ऊंचाई का।

मूल्य तारतम्य में सुख-भोग और ज्ञान-दर्शन का अभिसंबन्ध

शेलर और हार्टमान, बेन्थम और पैरि के ऊपर निर्दिष्ट मत बुद्धिवादी और भोगवादी दृष्टियों से मूल्य-तारतम्य के प्रश्न को हल करने का यत्न करते हैं किन्तु जैसा अनेकधा कहा जा चुका है इन मतों का मूल्यावधारण अधूरा होने के कारण उनमें मूल्य-तारतम्य को समझने का यथार्थ सूत्र उपलब्ध नहीं होता। प्लेटो ने बुद्धिवादी होने के बावजूद फिलेबस में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मूल्यवान् या सम्यग्जीवन में ज्ञान और सुख का मिश्रण होना चाहिए। सर्वोपरि स्थान मात्रा या मर्यादा का है, उसके नीचे दूसरा स्थान अनुपात, सौष्ठव एवं सम्पूर्णता का है, तीसरा स्थान बुद्धि और प्रज्ञा का है, चौथा विद्याओं, कलाओं, और सम्यग्-दृष्टियों का है, और पांचवा दुःख से असम्पृक्त सुखों का है जिनमें सौमनस्य एवं सुख-संवेदन, दोनों सम्मिलित हैं। इस सोपान में नीचे की ओर चौथी और पांचवी सीढ़ियां 'मात्रा' और 'अमात्र' के बुद्धि-हेतुक मिश्रण के उदाहरण हैं। किन्तु इस मत में भी सुख और ज्ञान दो मूलतः असम्बद्ध तत्व हो जाते हैं। ज्ञान मात्रास्थित है, सुख अमर्यादित द्वन्द्वों के अनियत और अनाद्यनन्त प्रवाह का अंग है। ज्ञान आत्मा की उच्चतम शक्ति और सत् का 'प्रथमज' है, सुख और दुःख क्षतिपूर्ति के बोध के दो पक्ष हैं, अभाव का संवेदन दुःख, और पूर्ति का सुख। निन्तान्त भिन्न ज्ञान और सुख का औत्तराधर्य किस बात पर आश्रित है? इस बात पर कि ज्ञान मनुष्य का विशेष धर्म है और उसकी उपलब्धि नित्य और सत्य होती है जबकि सुखासक्ति अज्ञानी पशुओं का मूल्यबोध है जो कि विकारी, अनित्य और व्यभिचारी होता है।

उपनिषदों में भी श्रेयस् को प्रेयस् के ऊपर, ज्ञान को भोग के और निष्कामता को काम के ऊपर विज्ञापित किया है। किन्तु उपनिषदों में सुख के भी दो विभाग कर दिये हैं। ज्ञान और निष्कामता का भी सुख या

आनन्द है जो कामभोग से पृथक् और श्रेष्ठ है[1]। इस दृष्टि में परज्ञान और नित्यानन्द अभिन्न हैं। पीछे वेदान्त में यही दृष्टि विकसित हुई है। आत्मा ही सब आनन्द का मूल और परमार्थिक इष्ट है। जहां कहीं प्रियानुभूति होती है, आत्मा के ही औपाधिक अवभास के कारण होती है[2]। मनुष्य सुख की ओर आत्मा को खोजता है। आत्मा ही परम और नित्यानन्द है। किन्तु आत्मा को ज्ञान के सूत्र से ही पाया जा सकता है। कामभोग के सुख से ऊपर उठने के लिये मनुष्य को उसका दुःखानुषंग विचारना चाहिए। नित्यानित्य विचार ही विवेक का द्वार है और विवेक आत्म-ज्ञान के द्वारा अनर्थ-प्रहाण और परमार्थ प्राप्ति का हेतु बनता है।

दुःख बोध और मुक्ति :

अन्य भारतीय मतों में भी व्यावहारिक सुखभोग और परम-पुरुषार्थ की स्थिति में स्पष्ट सम्बन्ध-सूत्र संरक्षित है। सांख्य में सभी सुख दु;ख-पक्ष में निक्षिप्त हैं—भोगसुख, सन्तोषसुख, सात्विक बुद्धि का सुख। दुःख का अनुभव व्यावहारिक है और दुःखनिवृत्ति ही व्यावहारिक पुरुषार्थ से परमपुरुषार्थ तक का अनुसन्तत सूत्र है। यहां भी परमार्थ-साधन होने के कारण ज्ञान भोग के ऊपर रखा गया है। न्यायदर्शन और बौद्ध दर्शन में भी इसी प्रकार की दृष्टि मिलती है।

सभी भारतीय दर्शनों में आत्यन्तिक और ऐकान्तिक दुःख-निवृत्ति अथवा तत्पूर्वक सुखप्राप्ति परमपुरुषार्थ और उसका मुख्य साधन विवेकपूर्वक आत्मज्ञान माना गया है। फलतः मूल्यों के तीन स्तर स्पष्ट निर्दिष्ट हो जाते हैं—भोग, ज्ञान एवं मोक्ष। चूंकि कर्म के बिना ज्ञान का अधिकार प्रायः नहीं माना जाता, इन तीन को चार में विभक्त किया जा सकता है : भोग, कर्म, ज्ञान एवं मोक्ष। मूल्य का स्वरूप यहां चार समवेत लक्षणों में व्यक्त होता है—साध्यता, अनर्थाभाव, आत्यन्तिकता और ऐकान्तिकता। अनर्थ के तीन लक्षण सुविदित हैं—दुःख, अनित्य और अनात्म। यदि कर्म और ज्ञान को साधन मान कर छोड़ दिया जाय (यद्यपि यह स्मरणीय है कि साध्य साधन बन जाते हैं और साधन साध्य, और अध्यात्मसाधना में तो साधन ही साध्य बनते हैं)[3] तो मूल्य के दो ही मुख्य स्तर होते हैं—

---

१ तु० तै० २.८.

२ "यद्यत्सुखं भवेत्तद्ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात् ।" (पञ्चदशी १५.१९)

३ द्र० शंकर, **गीताभाष्य**

व्यावहारिक, जिसके काम, भोग, सकाम कर्म और अपरा विद्या अंग हैं, एवं पारमार्थिक जो मोक्षात्मक है और जिसके साधनांग हैं निष्काम कर्म, नैष्कर्म्य एवं पराविद्या।

विभिन्न भारतीय दर्शनों में इस प्रकार अनर्थ और मूल्य दोनों के ही लक्षण मिलते हैं जो उनमें तारतम्य स्थापित करते हैं—एक ओर दुःख, अनित्य, अनात्म; दूसरी ओर मोक्ष, नित्यता, निरतिशयता, निरपेक्षता, स्वप्रकाशता, परप्रेमास्पदता, शान्ति। मोक्ष की दृष्टि से व्यवहार के अनर्थ कहे जाने के बावजूद व्यावहारिक साध्यों को सामान्यतः मूल्य अथवा पुरुषार्थ माना जाता था और उनके अन्दर अवान्तर भेद सुविदित हैं।

तारतम्य में अंतर्मुख और ऊर्ध्वमुख क्रम।

तारतम्य–व्यवस्थापन का एक अन्य मानदण्ड भी इस प्रसंग में मिलता है और वह है मानव-स्वभाव के अन्तर्गत तत्त्वों की सूक्ष्मता का क्रम। "इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रयेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो-बुद्धेः परतस्तु सः॥"[1] तान्त्रिक साधना की अथवा योग साधना की भूमियां इसी प्रकार की हैं और यही वास्तविक आध्यात्मिक सोपान है। अन्नमय, प्राण-मय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों का, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, हंस आदि देहों का, एवं जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीया-तीत अवस्थाओं का भेद सदृश उपाधि-भेद है। अनुभूति के इस अंतर्मुख एवं ऊर्ध्वमुख क्रम में विषय, विषयी एवं उनका सबध तीनों ही सूक्ष्मतर और एकाग्रतर होते जाते हैं। ये भूमियाँ मूलतः अनुभूति की भूमियां हैं, नकि अनुभूतिनिरपेक्ष तत्वों की, किन्तु प्रत्येक स्तर पर ज्ञान तत्त्वभेद भी प्रकाशित करता है। तथापि इस क्रम का मूल आधार पाश्चात्य बुद्धिवादियों की तरह विषयगत सूक्ष्मता न होकर मानव-स्वभाव के अंतर्गत चेतना की सूक्ष्मता है। इन्द्रियों और मन की बाह्य-परतंत्रता उन्हें संयम्य बनाती है, और यह भोगवादी-प्रवृत्ति के स्तर की प्रारम्भिकता और अतिक्रमणीयता प्रकट

---

१ गीता ३.४२

तु० 'इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सापरा गतिः॥
(कठ. १.३, १०-११)

करता है। यदि बुद्धि अथवा 'विज्ञान' का स्तर भोग के ऊपर है, तो उससे भी ऊपर है आत्मा या पुरुष। आत्मदर्शन से ही वासना-निवृत्ति होती है। इसलिए मानव साधना के विषय में प्रसिद्ध है "अयंतु परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्"। थीयोसोफी और श्री अरविन्द ने इसी परम्परा में मानव-विकास का मानचित्र निरूपित करने का एक नवीन प्रयास किया है।[१] उन्होंने अन्य भारतीय निरूपणों की कछ कमियों को दूर करने का भी प्रयास किया है। उदाहरण के लिये उन्होंने कलात्मक मूल्यों को अपनी मीमांसा में स्थान दिया है। इस प्रकार इन्द्रिय-मनो-गोचर भोग (धर्मा-विरुद्ध काम) बुद्धि-विज्ञान-गोचर तत्व, आत्म दर्शन, ये मूल्य साधना के वाभाविक स्तर प्रतीत होते हैं।

मूल्य का एकत्व अथवा नानात्व

जैसा ऊपर कहा गया था, मूल्यों का स्तर-निर्धारण किसी एक व्यापक आयाम के सहारे ही सम्भव है। यदि मूल्यों के विभागों को सर्वथा पृथक् आयाम, अनुभूति की विभक्त दिशाएं, मान लिया जाय तो उनमें तारतम्य-निर्धारण केवल पसन्द की बात रह जाती है। मूल्यों की मौलिक पृथगायामता, उनकी पारस्परिक अमेयता और अतुलनीयता में पर्यवसित होती है और मूल्य-नानात्व-वाद को जन्म देती है। इस नानात्ववाद में एक सत्य अवश्य है, यह हमें अविवेकी भौतिकवाद या अध्यातमवाद से सावधान करता है। यह कहना कि सब मूल्य सुख की या दुःखाभाव की न्यूनाधिक मात्राएं हैं या तो मिथ्या है या परिभाषामात्र होने पर पुनरुक्ति। सुखों में अपरिहार्य गुण-भेद है अथवा यह कहना चाहिये कि हम मूल्य के लिये सुख का त्याग और दुःख का स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं। मूल्य मनुष्यों के लिये पशुवत् नहीं हैं जो कि उनके भोगार्थ उपानीत हों। मूल्य देवतावत् हैं जो मनुष्य से बलि मांगते हैं, और जितने ही ऊँचे देवता होते हैं उतनी ही अधिक किन्तु सूक्ष्म बलि मांगते हैं। परम देवता मानव-चेतना का सम्पूर्ण समर्पण मांगता है। मूल्य स्वरूपतः भोग नहीं हैं, वे मानवीय चेतना के निर्देशक और उन्नायक मान हैं, उनको साधने में मनुष्य को अपनी चेतना को, अपने आप को गढना पड़ता है।

मूल्यों को भोग समझा जाय या आदर्श, दोनों ही स्थितियों में स्थूल मात्राभेद के अभाव में भी उनमें तारतम्य–भेद अनुभव-सिद्ध है। यह कहा जा सकता है कि एक मूल्यायाम–विशेष के अन्दर तारतम्य होने से ही यह प्रतीति सावकाश हो जाएगी। उदाहरण के लिये कला के क्षेत्र में तारतम्य स्वीकार करने पर यह आवश्यक नहीं है कि कला और धर्म के बीच कोई

---

२ श्री अरविन्द, लाइफ डिवाइन; श्री कृष्ण प्रेम, मैन दि मेजर ऑव आल थिंग्स।

तारतम्य स्वीकार किया जाय। क्षेत्र–विशेष के स्रष्टा और पारखी होते हैं जो शक्ति, निपुणता और अभ्यास से उस आयाम में मूल्यों का 'सृजन' और विवेचन करते हैं। इस प्रकार की समस्त मानव मूल्यों के सन्दर्भ में परख अनुभव-सिद्ध नहीं है। जॉन स्टूअर्ट मिल ने मूल्य-स्तरों को अनुभवी की पसंद पर आधारित किया था किन्तु यह मानने पर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सभी मूल्यों का अथवा सभी प्रधान मूल्यायामों का किसी व्यक्ति को समान प्रामाणिकता से अनुभव या ज्ञान नहीं होता। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक कला से परिचित होने पर भी उसका पारखी कठिनाई से होता है। अतएव दोनों क्षेत्रों की तुलना में उसका व्यक्तव्य पर्याप्त प्रामाणिक नहीं बन पाता। यही स्थिति सर्वत्र होती है।

इस के उत्तर में यह प्रश्न उठता है—आयामों की अतुलनीयता का अर्थ क्या है? विषय के ग्राहक सामान्य विकल्पों को आयाम कहते हैं। विषय के इन सामान्य लक्षणों को वस्तुगत तत्व भी मान सकते हैं, बुद्धि द्वारा विषयारोपित लक्षण या विकल्प भी मान सकते हैं। यदि सामान्य-लक्षण वस्तुतात्विक हैं तो सभी विषय भेदों में वस्तुसंलग्नता या सत्ता समान रूप से व्याप्त होगी। विषयों के प्रभेद सत्ता के प्रभेद होंगे और मूल्यों को विषयगत मानने पर उनमें सत्ता का आयाम समान होगा, मूल्यों को विषयि-गत मानने पर वे विषय-भेद से अनिर्धारित होंगे। यह सही है कि इस अनन्त-रोक्त पक्ष में भी मूल्यों को ज्ञान-विषयता से भिन्न विषयता के विषय मानकर उनका स्वरूप आकार-भेद पर आश्रित माना जाता है। किन्तु सभी विषय-ताओं में ज्ञान-विषयता अनुप्रविष्ट रहती है और इसलिये सभी विषयताओं के विषय तात्विकता के किसी न किसी प्रकार के अन्तर्गत होते हैं, चाहे वह जाड्यविशिष्ट हो, चाहे चैतन्यविशिष्ट। फलतः सब मूल्यभेद किसी न किसी विषयता के विषय होंगे और सर्वत्र वे किसी न किसी तात्विकता के भेद होंगे। सभी विषयताएं या ज्ञाननिरूप्यताएं तत्वावच्छिन्न होती हैं और अतः उनका अनुगत लक्षण विषयतात्व तत्व से अतिरिक्त सिद्ध नहीं होता। यदि सत्, चित्, आदि तत्व के भेद हैं तो ज्ञान, भाव आदि उनकी विषयिताएं हैं। सत् चित् आदि के अन्तर्गत यदि विशिष्ट आकार ज्ञान, भाव आदि के द्वारा मूल्यवत्तया निरूपित होते हैं तो उनमें तात्विकता का समान आयाम व्याप्त रहता है, और उन्हें तुलनीय बनाता है। यदि मूल्यवत्ता तात्विकता से असंसृष्ट है तो वह आकारतन्त्र भी नहीं होगी। अन्यथा आकार वस्तुतन्त्र नहीं होंगे।

यदि विषयाकार विकल्पित लक्षण हैं तो भी वे सहेतुक होने चाहिये। यदि यह हेतु सर्वथा वस्तुगत नहीं है तो कम से कम अंशतः चेतना के स्व-

तन्त्र व्यापार के अधीन होगा। पहले पक्ष में वस्तुशक्ति विषय की नियामक होती है, दूसरे में आत्मशक्ति। फलतः मूल्य भी यदि वस्तु-स्वभाव-परतन्त्र नहीं हैं तो चेतना के स्वातन्त्र्य से कल्पित होंगे। दोनों ही पक्षों में वे एक मौलिक लक्षण से व्याप्त होंगे—वस्तुतन्त्रता से अथवा स्वातन्त्र्यपूर्वकता से—और अतएव सर्वथा भिन्नायामिक नहीं होंगे। सच बात तो यह है कि जिसके 'आयाम' सर्वथा विलक्षण होंगे वह सर्वथा अविषय एवं अज्ञेय होगा। सभी विषय स्वरूपतया सत् से एवं विषयतया चित् से संलग्न हैं। मूल्य सत् और चित् के सम्बन्ध विशेष की विशिष्टता है। जिस सम्बन्ध में सत् और चित् की समनुरूपता होती है, वहीं मूल्य की प्रतीति होती है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है विषय-विषयि-भाव की प्रत्येक भूमि में आत्मबोध और विषयबोध के सामन्जस्य स्थल में ही मूल्य-बोध होता है।

इस विचार से मूल्यों के आयाम-भेद पर आश्रित मूल्यों की अतुलनीयता का पक्ष निरस्त हो जाता है, और उसके साथ ही मूल्यों का मौलिक नानात्व। मूल्यों की सहज सापेक्ष वरणीयता से वैसे भी मूल्यों का भूमि-भेद अनुभूतिसिद्ध है। एक अनुसन्तत आयाम से जिसके अनुसार मूल्य एक दूसरे से वरणीय होते हैं, उनका नानात्व औपाधिक सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मूल्यवान् अर्थों में अद्वैत है किन्तु यह कि मूल्यों में मूल्यत्व के पीछे एक चरम कारण है जो न्यूनाधिक मात्रा में मूल्यवान् अर्थों में व्यक्त होता है। उदाहरण के लिये देशस्थ नाना वस्तुओं की दूरियां दिक्-तत्व से अभिन्न हैं और वही अद्वय दिक् तत्व उन वस्तुओं की उपाधियों के द्वारा विभिन्न दूरियों में व्यक्त होता है। ऐसे ही एक अतर्क्य तत्व नाना उपाधियों में, नाना मूल्यों के रूप में व्यक्त होता है। मूल्य-नानात्व औपाधिक है, मूल्याद्वैत पारमार्थिक। उपाधियों का भूमि-भेद उनकी मूल्य-व्यंजकता पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिये गन्ध और स्पर्श के भोग की तुलना में रूप और शब्द के उपादान से सृष्ट कला में सौन्दर्योपलब्धि मूल्य की अधिक अभिव्यक्ति करती है। ऐसे ही कला से अधिक योग-समाधि में सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति होती है। इन उदाहरणों में भोग, फलास्वादन और समाधि चित्त की अधिकाधिक मूल्याभिव्यन्जक अवस्थाएं या भूमियां बन जाती हैं।

मूल्यों में भूमिभेद मानने पर भी यह अभी निश्चेतव्य है कि भूमियों का औत्तराधर्य किस प्रकार निर्धारित होगा। किन लक्षणों से मूल्योत्कर्ष व्यक्त होगा? मूल्य के तीन पक्ष हैं—साध्यविषय, उसकी निरूपक चेतना और उस चेतना में अन्तर्निहित आत्मबोध। साध्य विषय को ऊपर मूल्य

की उपाधि कहा गया है। उपाधि अपने से भिन्न की अपने से अभिन्नतया सूचना देती है। वह मूल्य का अभिव्यंजन विषयारोपपूर्वक करती है। मूल्य उपाधि का कार्य न होकर व्यंग्य होता है। अभिव्यंजन सिद्ध अर्थ का आत्मा के लिये आवरणापनयन है, जैसे प्रदीप घर से चक्षु के लिये तमोरूप आवरण का अपनयन करता है। आत्मा के लिये परम साध्य नित्य-सिद्ध और उससे अभिन्न है, किन्तु अज्ञान के कारण नाना अनात्म उपाधियों में उसकी अधूरी सूचना मिलती है और मानव-साधना को जन्म देती है। यद्यपि उपाधिभूत विषय के द्वारा ज्ञापित मूल्य विषयाभिन्नतया प्रकाशित होता है तथापि मूल्य का विषय के वास्तविक स्वरूप से कोई नित्य या स्वरूप-सम्बन्ध नहीं होता। विषय की चित्तसंप्रयुक्तता ही उसे मूल्याभिव्यंजन के समर्थ बनाती है। भोग, कर्म, विद्या, कला आदि चित्-संसर्ग की महिमा से मूल्योद्योतन करते हैं। यह कहना चाहिए कि मूल्यबोध में विषय बाह्य-वस्तु न रह कर चेतना का ही घनीभूत आकार, उसकी अन्तः प्रेरणा की सृष्टि, उसके अन्तःस्थ रहस्य का संकेत बनता है। विषय के शुष्क स्वरूप का आलोचन मूल्य को व्यक्त नहीं करता। चेतना में डुबोया हुआ विषय उसी के रंग को पकड़ कर स्वयं एक आलौकिक रूप धारण कर लेता है। अभ्यस्त और यांत्रिक भोग पशु-जीवन का भाग बन जाता है। इन्द्रिय-संवेदन में दुःख-बोध की ओर जागरूक सुख-दुःख के रहस्य को खोजती हुई चेतना स्थूल भोगों के पीछे उनके सूक्ष्म अर्थ के रूप में मूल्य का ग्रहण करती है जैसे रेखा-संस्थान में चित्र। शारीरिक गति के रूप में कर्म मूल्य का वाहक नहीं होता। जिस इच्छा से वह प्रेरित है, जिस लक्ष्य की ओर उद्दिष्ट है, उसी के आन्तरिक सन्दर्भ में कर्म मूल्यवान् बनता है। फलतः विषय का गुण या सात्विकता है चेतना के लिये दर्पणवत् अनुरूपता। मूल्य के वाहक या विधारक विषय वस्तुतः मूल्य को चेतना के लिए उसके अपने प्रतिबिम्ब के समान प्रस्तुत करते हैं। मूल्य न विषय स्वरूप है न विषय संरचनाओं की प्रागवश्यकताएं हैं; वे चित्स्वरूप के विषयान्तराल से झांकते प्रतिबिम्ब हैं। अतः मूल्यों का नानात्व औपाधिक और उनका अद्वैत, जोकि उनकी अनन्तता का विरोधी नहीं है, वास्तविक है।

मूल्य-बोध और उसके स्तर :

मूल्यबोध में चेतना के चार पक्ष अलग किये जा सकते है—विषय-विकल्प, विषयाभिमुख्य या विषयाभिरुचि, दिये हुये विषय के द्वारा निरूपित अभिरुचि का विवेचन, और चेतना का आत्मपरामर्श। विकल्प की अभ्रान्तता, गम्भीरता और व्यापकता, अभिरुचि की तीव्रता, स्थिरता, अक्लिष्टता, गंभीरता, व्यापकता, अन्तर्विरोधशून्यता, विवेक की गंभीरता और सूक्ष्मता, एवं चेतना के आत्मपरामर्श की स्वस्थता, प्राञ्जलता, स्वप्रकाशता,

सुखमयता, दुःखमुक्तता आदि मूल्य चेतना के उत्कर्ष के ज्ञापित करने वाले लक्षण हैं। विवेक अभिरुचि की समस्त व्यक्तित्व के सन्दर्भ में सामन्जस्य की मात्रा व्यक्त करता है और आत्मबोध पर प्रतिष्ठित होता है। अविवेक को अपना अज्ञान या अविद्या कहा जा सकता है और उसकी अभिव्यक्ति दु:खबोध में होती है। यह मूल्यबोध का उलटा अनर्थबोध है। इस प्रसंग में दु:ख को ठीक समझ लेना आवश्यक है। दु:खसंवेदन दु:ख का एक स्थूल-भेद है। सुखों की परिणामिता उसका एक सूक्ष्म भेद है।चेतना की अशान्ति उसका सूक्ष्मतम भेद है। यदि शान्ति चेतना की आत्मावस्थिति का लक्षण है तो अशान्ति उसकी अनात्माभिरुचि का। फलतः चेतना का आत्मा के प्रति दर्पणवत् होना ही उसका गुण है। यही चेतना का आत्मपरामर्श है।

सामान्य बोध में आत्मा चित्तवृत्ति में और चित्तवृत्ति विषय में निमग्न रहती है। यह पराङ्मुखता ही अविद्या है और अनर्थबोध को जन्म देती है। इसके विपरीत जहां तक विषय वृत्ति को प्रतिबिम्बित करता है और वृत्ति आत्मा को वहां तक प्रत्यङ्मुखता का जन्म होता है जो मूल्यबोध को उपस्थित करती है। फलतः मूल्यबोध चेतना की अन्तर्मुखता या आत्माभिमुख यात्रा की उपलब्धि है और उसकी भूमियां चित्त की विशुद्ध और विशुद्धतर अवस्थाएं हैं। मूल्यान्वेषण आत्मान्वेषण है और उसकी भूमियां आत्मबोध की भूमियां हैं

अनुभूति के लोकों का क्रम स्थूल-सूक्ष्म, परावर अथवा ऊर्ध्वाधः कहा गया है। इस क्रम में तत्व और चित्त दोनों ही रूपान्तरित होते हैं। इस क्रम में 'आरोहण' न सिर्फ 'जानना' या 'महसूस' करना है बल्कि 'होना' है। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत'। यह स्मरणीय है कि ऊर्ध्वतर भूमियों में परम लक्ष्य स्पष्टतर हो जाता है किन्तु उसकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परमार्थ में तत्वातिक्रामिता और तत्त्वव्यापिता दोनों ही बनी रहती हैं। उसकी साधना भी इसीलिए अनन्त ओर सर्वगत होती है। समूचा जीवन, प्रत्येक अनुभूति और कर्म, साधना का उपादान होता है। साधना न प्रवृत्ति है न निवृत्ति; वह परावृत्ति है जो कि समूचे जीवन को साधना बना देती है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'। इसमें साधक, साध्य और साधना के अभेद होने के कारण साधना अनन्त होने पर भी अपनी सच्चाई के अनुपात में स्वयं नित्य मूल्यवान् होती है। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

परिशिष्ट

शेलर की मूल्य-सूची :

मूल्यों का निम्नतम स्तर है संवेद्य सुख-दुःख का। उसके ऊपर प्राणिक स्तर है जिसमें आर्य–ग्राम्य का भेद प्रधान है। स्वस्ति की अवस्थाओं के मूल्य इसी स्तर के हैं। रोग, जरा, मरण, आदि का बोध भी यहीं प्रासंगिक है। तीसरा मूल्य-स्तर है आध्यात्मिक मूल्यों का जिनके लिए सुख और प्राणिक मूल्यों का त्याग उचित है। इस स्तर की पसंद प्रेम और घृणा को प्राणिक स्तर के सदृश आकारों से अलग समझना चाहिए। इस स्तर के अन्दर भी एक अधरोत्तर क्रम है—सुन्दर, असुन्दर; न्याय, अन्याय; दर्शनगम्य सत्य का ज्ञान। यहां सहज न्याय भावना से तात्पर्य है न कि कानूनी व्यवस्था के सापेक्ष न्याय से। सत्य-दर्शन इस स्तर का है जबकि वैज्ञानिक सत्य व्यवहार-परायण होने से इस स्तर का नहीं है सर्वोपरि स्तर है धार्मिक मूल्यों का जिनके वाहक निरपेक्ष विषय होते हैं। उसका केन्द्र बिन्दु है पवित्रता जिसका ग्रहण प्रेम के द्वारा होता है। श्रद्धा, पूजा और स्तुति पवित्र के सम्मुख प्रतिक्रियाएँ होती हैं।

सुख से पवित्र तक यह आरोही क्रम प्रागनुभविक या स्वरूपसिद्ध है और किसी वस्तु-क्रम पर निर्भर नहीं करता। वस्तुएँ केवल मूल्यों की वाहक होती है। मूल्यों का ग्रहण भाव से होता है।

(**देर फ़ौरमालिस्मुस इन देर एतिक उन्द दी मातेरियाले वेर्त एतिक** बर्न, १९५४, पृ० १२५-३०; उद्धृत फ्रोन्डिजी, **पूर्वोद्धृत**, पृ० १००-०२)

हार्टमान और मूल्य-सूची का प्रश्न :

संबद्ध मूल्यों में तारतम्य स्पष्ट प्रतीत होता है जैसे निर्भीकता की संयम से श्रेष्ठता, या श्रद्धा की संयम से। किन्तु अन्य मूल्यों का जैसे ज्ञान और श्रद्धा का, तारतम्य नहीं बताया जा सकता। मूल्य-विश्व एकायामिक रेखाकार नहीं हैं। उसमें अनेक आयाम हैं और प्रत्येक में शैर्षिक अधरोत्तरता के साथ साथ क्षैतिज विस्तार भी है। (**ऐथिक्स**, जि० २, पृ० ३८७-८८)

मूल्यों के अन्तः सम्बन्ध के नियम इस प्रकार सूचित किए जा सकते हैं—

१. स्तरीकरण के नियम २. आधार-नियम	प्रथम वर्ग
३. विरोध नियम ४. पूरकता के नियम	द्वितीय वर्ग
५. मूल्यात्मक ऊँचाई के नियम ६. मूल्यात्मक बल के नियम	तृतीय वर्ग

ये नियम पदार्थ-व्यवस्थापक अवधारण-सम्प्रत्ययों के नियमों से तुलनीय हैं।

स्तरीकरण के नियम—(१) निम्नतर तत्व और उनके घटक उच्चतर स्तर में आंशिक घटकों के रूप में फिर से आते हैं और संरचनात्मक घटक बनते हैं, (२) अपनी पुनरावृत्ति में ये घटक उच्चस्तरीय संरचना से अछूते रहते है, यद्यपि उन की भूमिका बदल जाती है। (३) उच्चतर रूपों को उनमें पुनरावर्तित तत्वों में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। उच्चतर स्तरों में विशिष्ट अपूर्वता व्यक्त होती है। (४) स्तरों के बीच में विच्छिन्न अन्तराल हैं।

स्तरीकरण के ये नियम उसी स्तर के अन्दर व्यापारित 'आक्षेप' और 'द्वन्द्वात्मकता' के नियमों से सहचरित हैं।

ऊँचाई और बल के नियम = (१) बल का नियम—उच्चतर तत्त्व निम्नतर पर निर्भर है किन्तु इसका विपरीतनहीं है। इसलिये निम्नतर मूल्य बलवत्तर होते हैं। (२) उपादान का नियम—प्रत्येक निम्नतर तत्त्व उच्चतर के लिए उपादान मात्र है। (३) स्वातन्त्र्य का नियम—निम्नतर की अपेक्षा उच्चतर में एक नवीनता होने से उसमें स्वाधीनता होती है।

ऊँचाई और बल के इस विलोम-सम्बन्ध का यह परिणाम है कि जहां निम्न मूल्यों का अतिक्रमण घोरतर पाप होता है, उच्च मूल्यों का साधन प्रकृष्टतर पुण्य होता है। (वही, पृ० ३८७-४५२)

श्री अरविन्द का तत्त्व क्रम—

"हमारी सत्ता ब्रह्म-सत्ता का एक परावर्तन है। ये तत्त्व आरोहण और अवतरण के विपरीत क्रम में इस प्रकार हैं—

सत्	भौतिक तत्त्व
चित्	प्राण
आनन्द	चैत्य तत्त्व
अतिमन (विज्ञान)	मन ,,

(दिव्य जीवन, अनुवादक केशवदेव आचार्य, प्रथम भाग, पृ० ३८७)

४

व्यावहारिक मूल्य

व्यावहारिक मूल्यों का केन्द्र और विस्तार

लोक-बुद्धि के अनुसार व्यावहारिक जीवन ठोस यथार्थ का जीवन है, जिससे व्यक्ति एवं समाज का इतिहास बनता है। देहाभिमानी मनुष्य के लिये शरीर-रक्षा ही आद्य मूल्य बनती है और विविध शारीरिक आवश्यकताएं और अपेक्षाएं इस मूल्य को व्यक्त करती हैं। अन्न-पान, वस्त्र और आच्छादन, अस्त्र और उपकरण, उत्पादन, श्रम-विभाजन, विनिमय आदि की व्यवस्था, इन सभी में शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन निहित हैं। आत्म-रक्षा के समान ही प्रजोत्पादन और पालन एवं उस पर आधारित कौटुम्बिक जीवन का महत्त्व है। आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति आत्म-रक्षा का एक आयाम है, कुटुम्ब-पालन उसका दूसरा आयाम है। शरीर, वित्त, कुटुम्ब आदि की आक्रमण से रक्षा के लिये कानून और दण्ड-विधान उसका तीसरा आयाम है। जैव आवश्यकताओं में उत्पन्न होकर व्यावहारिक मूल्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों में विकास लाभ करते हैं।

व्यावहारिक मूल्य कालिक और काम-भोगात्मक होते हैं। "भोग भुक्त नहीं हुए, हम ही भुक्त हुए हैं, समय नहीं बीता, हम ही बीत गए हैं।" इस उक्ति में एक अत्यन्त गम्भीर सत्य है। भोगात्मक मूल्यों को पाने में अपने को खोना होता है। वे मूल्य एक अनित्य जीवन के अंग-रूप में ही मिलते हैं। वे अमृतत्व की खोज के अंग नहीं हैं। इच्छा, ज्ञान, कर्म, भोग, संस्कार और पुनः इच्छा आदि क्रम से व्यवहार-चक्र जन्म से मरण तक निरन्तर चलता रहता है। इस चेतना प्रवाह का नियोजन जिस मध्य-बिन्दु से होता है वह अहंकार है जो कि देहादि की सहज एवं कुटुम्बित्वादि की सामाजिक उपाधियों में आश्रित और कर्तृत्वादि से विशेषित होता है।

वासना, कर्म और ज्ञान की विशेषता से परामृष्ट साहंकार चेतना व्यक्तित्व लाभ करती है और इच्छाभिघात एवं विषयाभिघात से कर्म में प्रेरित होती है। सकाम या सप्रयोजन कर्म का जीवन ही व्यावहारिक जीवन है और उसके प्रयोजन ही उसके मूल्य हैं। ये प्रयोजन सहज जैविक स्तर से विचार-पूर्वक सामाजिक व्यवस्था तक विस्तृत हैं किन्तु उनके सहज एवं बुद्धिपूर्वक, वैयक्तिक एवं सामाजिक, सूत्र एक बड़े और जटिल ताने बाने में अविच्छेद्य रूप से जुड़े हुए है।

जिजीविषा एवं आत्मरक्षा

जैसा ऊपर कहा जा चुका है शरीर-रक्षा आद्य मानवीय प्रयोजन है। एक मत के अनुसार यही मुख्य प्रयोजन भी है क्योंकि मानव चेष्टा सहज रूप से प्राण-शक्ति के वर्धन की दिशा में उद्युक्त रहती है। स्पिनोजा और हौब्स का 'स्वार्थवाद' इस दृष्टि से मानवीय आचार और समाज की व्याख्या करता है। "जिस प्रेरणा से (=कोनेटस) प्रत्येक वस्तु अपनी सत्ता में बनी रहने की चेष्टा करती है वह उसके कार्यकारी स्वभाव से अभिन्न है" (एथिक्स ३.७)। स्वभाव-सत्ता, शक्ति और जीवन समानार्थक बन जाते हैं। बने रहने की सर्वसाधारण सहज प्रेरणा (कोनेटस) चित्त में प्रतिबिम्बित होकर इच्छा (=क्यूपिडितास) कहलाती है। प्राणिक ऊर्जा की समृद्धतर अथवा पूर्णतर अवस्था की मानसिक प्रतीति 'सुख' एवं उसकी हीनतर अवस्था की प्रतीति 'दुःख' के रूप में होती है। इस प्रकार इच्छा का मुख्य विषय प्राण-रक्षा होते हुए भी सुख-दुखः अभीष्ट के संकेत बन जाते हैं और इच्छा को अपना विषय पहिचानने में दिशा दिखलाते हैं।

वस्तुतः मानव-स्वभाव का इस प्रकार का विश्लेषण कृत्रिम और अधूरा है। वह मनुष्य के जैव स्वभाव को पूर्णतः स्वतन्त्र और निर्णायक मानता है। किन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, जैव और सामाजिक तत्त्व मिलजुल कर काम करते हैं। शारीरिक प्रेरणा मन में केवल प्रतिबिम्बित नहीं होती प्रत्युत रूपान्तरित होती है। विषयाभिघात से चेष्टा तक का स्वाभाविक ऊर्जापथ एक सहज पथ मात्र नहीं है, उसमें संस्कार और प्रेक्षा अनेक घुमाव और मोड़ डाल देते हैं। अनुभूति के प्रसंग में विषयों के विचित्र संसर्ग जन्म लेते हैं, और उनमें पूर्वसंस्कार आहित होते हैं और बुद्धि के व्यापार से 'गृहीत' विषय 'विकल्पित' विषयों से पृथक् निर्णीत नहीं होते। फलतः मानवीय चेतना में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के बीच सहज प्रति-क्रिया-चक्र के स्थान पर अभ्यस्त प्रतिक्रिया-चक्र प्रतिष्ठित होते हैं और ये

'अभ्यास' वैयक्तिक शील एवं सामाजिक संस्थाओं से जुड़े रहते हैं। अपने सामान्य और अभ्यस्त रूप में मनुष्य 'देह-रक्षा' की बात न सोचकर 'आत्म-रक्षा' की बात सोचता है। 'आत्म-रक्षा' में केवल शरीर नहीं बल्कि सम्पत्ति, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा आदि की रक्षा भी सम्मिलित रहती है। अपने जलते हुए मकान को बचाने में, सन्तति की रक्षा के लिये, प्रतिष्ठा को बचाने के लिये, मनुष्य शरीर की आहुति देने में भी संकोच नहीं करते। जिन-जिन उपाधियों को लेकर अहंकार प्रतिष्ठित होता है, वे सभी सम्पिंडित रूप में इच्छाओं के प्रयोजन निर्धारित करते है, केवल शरीर नहीं। फलतः आत्म-रक्षा रूप मूल्य अनेकायामिक सिद्ध होता है और उसे नानास्तरीय हितों की रक्षा रूप एक मूल्य-समष्टि कहा जा सकता है। इस सुरक्षात्मक मूल्य के शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पक्ष गिनाए जा सकते हैं।

सुखैषणा और हितैषणा :

सुरक्षा के समान ही सुख की खोज का स्थान रहा है। जीवित रहना और सुखी रहना, इनको दो में विभक्त नहीं किया जा सकता। दोनों ही समवेत रूप से मनुष्य के लक्ष्य बनते हैं। न मनुष्य सुख से केवल क्षणभर जीना पसन्द करता है, न चिरकाल दुःख से जीना चाहता है। वह सुख से जीना चाहता है। चिरकालिकता या स्थिरता सुख का अन्तरंग आयाम है और सुखिता वांछित जीवन का। शारीरिक सुख में शारीरिक निर्बाधता या निर्विकारता और इन्द्रियों के द्वारा अनुकूल विषयों का संवेदन, दोनों ही सम्मिलित हैं। दोनों ही संवेदन सुख के रूप हैं—एक शारीरिक दुःख संवेदन के अभाव एवं शारीरिक लघुता, कर्मण्यता एवं सर्वांगव्यापी स्फूर्ति में व्यक्त होता है, दूसरा विशिष्ट-विषयक सुख-संवेदन है। सुख संवेदन के दो बड़े विभाग काम-सुख और जिह्वा-सुख-दो प्रधान जैविक अपेक्षाओं की पूर्ति के साथ बंधे हैं। काम-सुख न केवल रिरंसा और प्रजनन से सम्बन्धित है बल्कि स्नेह, प्रेम, आदि राग के विभिन्न भेदों से और कुटुम्ब आदि अनेक सामाजिक संस्थाओं के नियमों से भी सम्बन्धित है। फलतः यह संदिग्ध है कि हम काम-जीवन के प्रधान मूल्य को एक प्रकार का सुख संवेदन मात्र मान सकें। सुख-संवेदन काम-जीवन का एक अंग है, काम-जीवन सुख-संवेदन की खोज मात्र नहीं है। ऐसे ही अन्न की खोज, वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही स्तरों पर अत्यधिक महत्त्व की है किन्तु वह मुख्यतः सुरक्षा की खोज का अंग है, न कि सुख-संवेदन की खोज का। बुभुक्षा एक दुःख संवेदन को जन्म देती है और उसका विनोदन एक प्रकार के तृप्ति-सुख को। बुभुक्षा और रिरंसा जैसी अपेक्षाएं और उनकी सामयिक तृप्ति जैव-चक्र का विधान

करती हैं किन्तु जैसा ऊपर निर्दिष्ट है, जैव-चक्र समाज-चक्र के अंग के रूप में ही कार्यान्वित होता है। वैचित्र्य-संवलित आस्वाद-सुख का अनुसन्धान उस नानापेक्षी जैव-सामाजिक जीवन की आधार-पीठिका पर एक संक्षिप्त अलंकरणमात्र है। फलतः यह कहा जा सकता है कि अविकृत जीवन के सन्दर्भ में सुख-संवेदन की खोज एक गौण खोज मात्र है। जहां तक इच्छाएं अपने पृथक् और अमिश्रित रूप में रहती हैं, उनकी तृप्ति के सुख तात्कालिक और गौण रहते हैं। जब रोध, संसर्ग, आदि के द्वारा इच्छाएं गम्भीर एवं व्यापक रूप धारण करती हैं, वे विस्तृत सामाजिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों और उपलब्धियों में अन्तर्भूत हो जाती हैं। इस प्रकार अपने सीमित अर्थ में इन्द्रियों के नियत सुख-संवेदनों की खोज सामान्य जीवन-प्रवाह में एक सतही प्रवृत्ति ही बनी रहती है।

सुख-संवेदन के स्वरूप-विश्लेषण से भी इस बात का समर्थन प्राप्त होता है। सुख-संवेदन में तीन तत्त्व देखे जा सकते हैं - शरीर-साधारण सुस्थिति का बोध जो कि क्रिया और विश्राम, दोनों को ही सुखात्मक बनाता है, शारीरिक तनाव और सम्बद्ध अपेक्षा से छुटकारा, और इन्द्रियों का विषयाभिनन्दन—अतृप्तिपूर्वक विषयोपसेवन एवं विषयसेवन में अखिन्नता। इनमें तीसरा तत्त्व, विषयाभिघात से इन्द्रिय-विकार, संस्कार-सापेक्ष और अनियत होता है। तीनों ही तत्त्वों में एक अवार्य द्वन्द्वात्मकता रहती है। किन्तु वह पहले दो में एक छन्दात्मकता से निगूढ रहती है। शरीर में प्राण का छन्द ही क्रिया और विरति, अपेक्षा और निवृत्ति के छन्द को जन्म देता है और इस छन्द की ताल के रूप में ही सुख-बोध का जन्म होता है। इस छन्द की लय और सम के साथ शारीरिक गति की अनुरूपता ही स्वच्छन्दता है और सुस्थिति की निरूपक है। दूसरी ओर विषय-जन्य इन्द्रिय-विकार संस्काराधीन और उनके विषय अनियत होते हैं। विषयोपसेवन से इन्द्रियाँ क्रमशः खिन्न होती हैं और अपनी सहजावस्था में लौटना चाहती हैं, फलतः भोग के क्रम में सुख घटता और बीतता है और व्यतीत सुख अपने विपरीत दुःख को जन्म देता है। इस प्रकार ऐन्द्रिय विषयसुख परिणामिता से ग्रस्त है। एक ओर तो सुख-संवेदन दुःख-निवृत्ति की अपेक्षा रखता है, दूसरी ओर वह स्वयं कालान्तर में दुःखबोध को जन्म देता है। दुःखापेक्षा और परिणामिता के अतिरिक्त सुख-संवेदन में एक अनिवार्य सातिशयता होती है जो कि तृष्णा, अतृप्ति और उपायास का हेतु बनती है। सुख-संवेदन प्राप्त से अधिक की खोज को उत्पन्न करता है जबकि इन्द्रियाँ सीमित और घटते सुख को ही पकड़ पाती हैं। यही है सुख की भ्रामक खोज या तृष्णा की जन्म भूमि। एक ओर तो अधिकाधिक भोग से अल्पा-

ल्प सुख उपलब्ध होता है, दूसरी ओर भोगमात्र से तृष्णा बढ़ती है। 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥'

त्रिवर्ग और कर्म :

इस प्रकार सुख स्वयं स्वतन्त्र पुरुषार्थ न होकर व्यावहारिक जीवन का एक आनुषंगिक मूल्य है। व्यवहार की प्रयोजक हैं विभिन्नविषयक अपेक्षाएं और इच्छाएं जो कि व्यक्ति में वासना के रूप में और समाज में व्यवस्था के रूप में व्यापारित होती हैं। मनुष्य के व्यावहारिक मूल्य उसके नाना अभीष्ट विषयों, प्रियभोगों या 'कामों' (= काम्यन्त इति कामाः) के एवं उनके साधनों के रूप में एक नानास्तरीय, नानायामिक, अंशतः व्यवस्थित विश्व के रूप में विस्तृत रहते हैं। प्राचीन परिपाटी के अनुसार अनित्य सुखात्मक काम ही प्रवृत्ति-जीवन में साध्य है, अर्थ और धर्म उसके साधन। अर्थ के अन्तर्गत वार्ता और दण्डनीति मानी जाती है। मनुष्यों की वृत्ति या जीवन-निर्वाह के साधन वार्ता में संगृहीत हैं और मात्स्य-न्याय के निवारण के साधन दण्डनीति में। जहां अर्थ विशुद्ध साधनात्मक है, धर्म की स्थिति भिन्न है। मानवीय सम्बन्धों की व्यवस्था होते हुए भी धर्म में मनुष्यों की अनन्योपयोगिता अविस्मृत रहती है। फलतः धर्म मानव-समाज का विधारक नैतिक सूत्र होने के कारण एक साथ ही साधन भी है और साध्य भी। प्रवृत्ति की ओर उद्दिष्ट हो अथवा निवृत्ति की ओर, दोनों ही दिशाओं में मानवस्वभाव धर्म के अधीन होता है, धर्म उसके लिये साध्य एवं अनिवार्य साधन होता है। अर्थ और धर्म, दोनों ही कर्मरूप हैं। कर्म का अर्थात्मक मूल्य उसकी दृष्ट अभीष्ट-साधनता या उपयोगिता पर निर्भर करता है। कर्म का नैतिक मूल्य या कर्तव्यात्मक मूल्य का निर्धारण कर्म के दृष्टफलों के आकलन पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि कर्ता के भाव पर भी निर्भर करता है। उपयोगिता की दृष्टि से कर्म चलनात्मक कारण-व्यापार है जो भौतिक विश्व में कार्य-विशेष नियमानुसार उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से मानवीय और यान्त्रिक कर्म में कोई भेद नहीं है। नैतिकता की दृष्टि से कर्म एक विशिष्ट कर्तृत्वभाव या संकल्प-रूप है जो कि इच्छा, विवेक और कृति के समनुप्रवेश से सिद्ध होता है। नैतिक कर्म अन्य-निष्पादन मात्र न होकर आत्म-सम्पादन होता है। कर्म का नैतिक मूल्य उसके अन्तर्निहित भाव पर निर्भर करता है। मनुष्य अपने को कैसा समझता है, अन्य मनुष्यों को क्या समझता है, अपने को क्या बनाना चाहता है, इन भावों पर ही उसकी चेतना का नैतिक मूल्य निर्भर करता है।

उपयोगिता और नैतिकता :

उपयोगिता और नैतिकता में तात्त्विक भेद होते हुए भी समाज-व्यवस्था और उसमें समाविष्ट व्यावहारिक जीवन उनके मिले जुले सूत्रों से बनते हैं। विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिये मानवीय सम्बन्धों की विभिन्न व्यवस्थाएं उपयोगिता के अनुसार कल्पित होने पर भी प्रत्येक स्तर और क्षेत्र में विशिष्ट नैतिक मूल्यों को जन्म देती हैं। कुटुम्ब, व्यापारिक-निगम, सेना, सरकार सभी संगठित मानव सम्प्रदायों में प्रयोजन-विशेष के लिये उपकारकता के साथ-साथ विशिष्ट नैतिक भावों के रूप में अपने सदस्यों के समक्ष एक चारित्रिक आदर्श भी उपस्थित किया जाता है। योग्य सैनिक एक कुशल योद्धा ही नहीं बल्कि अनुशासन-सम्पन्न निष्ठावान् वीर पुरुष माना जाता है। व्यावहारिक मूल्य का मान अपेक्षा-निवृत्ति अथवा इच्छा-पूर्ति या सुखोपलब्धि की मात्रा ही नहीं है बल्कि जिस व्यवस्था एवं आत्मभाव के अन्तर्गत उस मूल्य का अनुसन्धान किया जा रहा है, उस व्यवस्था एवं आत्मभाव के अनुकूल विवेक या नैतिकता का सम्मान भी है। व्यावहारिक और नैतिक मूल्यों का अनुसन्धान बहुत थोड़ी दूर तक ही अलग अलग रखा जा सकता है। दूर तक न तो नैतिक कार्य ही अनुपयोगी बने रह सकते हैं, न उपयोगी कार्य ही नैतिकता की उपेक्षा कर सकते हैं। साहंकार और कर्म-प्राण चेतना से सम्बद्ध होने के कारण सभी व्यावहारिक मूल्य एक अनिवार्य नैतिकता के आयाम में निबद्ध रहते हैं। मानवीय व्यवहार के बहुमुखी होने के कारण उसमें इच्छाक्षिप्त प्रयोजन एवं आत्म-विवेक के द्वारा आक्षिप्त आदर्श मिले जुले रूप में कर्मो को प्रभावित करते हैं।

विकासात्मक लक्ष्य :

मानवीय व्यवहार को खण्ड खण्ड लक्ष्यों की पूर्ति के रूप में समझना उसकी जीवन्त समग्रता की अन्तः प्रेरणा की उपेक्षा करता है। लक्ष्य-साधन और अनुभूति के प्रसंग में मानव चेतना और परम्परा स्वयं विकसित होते हैं और अपने लक्ष्यों एवं आत्मबोध को रूपान्तरित करते हैं। इस प्रकार विशिष्ट लक्ष्यों का मूल्यत्व समस्त चेतना-प्रवाह के विकास के सन्दर्भ में ही निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि मानवीय मूल्य स्थिर उपलब्धियां न होकर अनुसन्धान की दिशाओं के संकेत हैं और ये दिशाएं समूची मानव-चेतना के विकास के सन्दर्भ में ही अर्थ-लाभ करती हैं। व्यक्ति हो या समाज, वह पृथक् पृथक् साध्यों को एक समूची साधना के सन्दर्भ में निर्धारित करते हैं और समूची साधना का निर्धारण अपनी अना-

मत अवस्था के आदर्श को बुद्धिस्थ कर किया जाता है। फलतः अन्य सभी साध्यों की पृष्ठभूमि और परमार्थ के रूप में आत्म-विकास रूपी साध्य स्थिर होता है।

व्यक्ति के जीवन के विषय में यह आस्था पुरानी और विश्वव्यापी रही है कि वह एक पूर्वनिर्धारित भाग्य के अनुसार एक निश्चित भविष्य की ओर गतिशील होता है। जिन धारणाओं में व्यक्ति के जीवन का अन्त या सार्थक जीवन का अन्त मृत्यु में हो जाता है, उनमें विकासात्मक लक्ष्य कोई स्थान नहीं पाता है। प्राचीन यूनानी या बैबिलोनियन दृष्टि में व्यक्ति का ऐहिक जीवन ही परम है और विकास का कोई स्थान न व्यक्ति में और न समाज में ही है। आधुनिक दृष्टि में मानव-जीवन मूलतः विकास का परिणाम है। यह न केवल जैव स्तर पर दैहिक विकास के लिए ठीक है पर सामाजिक स्तर पर ऐतिहासिक विकास के लिये भी। अमरीकी इतिहासकार रॉबिन्सन ने **एन्साइक्लेपीडिया ब्रिटेनिका** के एक संस्करण की विज्ञप्ति में यह कहा था कि सभी मानवीय सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के प्रसंग में विकसित हुए हैं, इस तत्त्व का बोध एक नितान्त आधुनिक उपलब्धि है, ऐसी उपलब्धि है जो आधुनिक मानव की अपनी ओर दृष्टि को अत्यन्त गम्भीर रूप से विशेषित करती है। अठारहवीं शताब्दी में 'प्रगति' की धारणा का विकास पश्चिमी योरोप में हुआ था, उन्नीसवीं शताब्दी में विकासवाद के अविर्भाव से 'प्रगति' की धारणा को एक गम्भीरतर अर्थ प्रदान हुआ, समसामयिक विचारधारा में 'प्रवर्धन' (=डेवलेपमैन्ट) का प्रत्यय महत्त्वपूर्ण हो गया है।

सुखित्व की धारणा :

'प्रगति', 'विकास', 'प्रवर्धन' तीनों मुख्यतः सामाजिक प्रत्यय हैं। आधुनिक दृष्टि मनुष्य को एक प्राकृतिक और सामाजिक प्राणी मानती है, न कि एक अप्राकृत आध्यात्मिक जीव। फलतः मनुष्य का चरम भाग्य लोकोत्तर न होकर, सर्वथा लौकिक ही है। मनुष्य के लौकिक सुखित्व की प्राचीन धारणा प्रायः सर्वत्र उस प्रकार रही है जैसी अपने यहां नीति के ग्रन्थों में मिलती है। नीति अथवा मतिमत्ता दुःख में अविचलन, नातिसन्दिग्ध एवं नात्यन्त-उपायास-पूर्वक सुख का उपभोग, सामाजिक मान्यताओं का अविरोध, समीक्ष्यकारिता आदि को मानव सुखित्व के लिये आवश्यक निर्देश करती है। लोकायतिक व्यक्ति के लिये सुख-भोग के अधिकतम सम्पादन पर और राज्य के लिये अर्थ के अधिकतम संग्रह पर जोर देते थे। नीतिवादी कार्य-

सिद्धि के उपायों पर जोर देते थे। एपिक्यूरस के अनुयायी सुख-भोग के साथ दुःख-परिहार को भी आवश्यक मानते थे। दुःख-परिहार के लिए बहुत से सुख की आशा को दुराशा मान कर छोड़ना होगा, एक दार्शनिक संयम और सूझ अपनानी होगी क्योंकि शांति, सौमनस्य और अनुपायास के बिना मनुष्य सुखी नहीं रह सकता। चीनी दार्शनिक सुख को अत्याज्य मानते हुए भी उसे एक सुसामाजिक और सौष्ठवपरक जीवन में ही सुलभ मानते रहे हैं। सुखी जीवन की इन सभी मान्यताओं में समाज को व्यक्ति के पुरुषार्थसाधन की एक स्थिर पृष्ठभूमि मान लिया गया है। बुद्धिमत्ता से अलग रह कर या बुद्धिमत्ता से कार्य साध कर निजी जीवन में या सामाजिक प्रतिष्ठा के क्षेत्र में मनुष्य अपने को सुखी या चरितार्थ करने का प्रयास करता है। किन्तु आधुनिक मान्यता इस प्रकार के सुखवाद से भिन्न है। प्राचीन धारणाओं में सुख की खोज और नैतिक गुण की खोज का विरोध अपरिहृत रहता है। यह सही है कि प्लेटो ने स्वयं इन दोनों के 'मिश्रण' का प्रस्ताव किया था और अरस्तू ने उत्कर्षपरक जीवन में ही वास्तविक सुखित्व का लाभ बताया है। तथापि वैयक्तिक सुख भोग और नैतिक आदर्श की खाई बनी रहती है क्योंकि एक इन्द्रिय-मूलक है और दूसरा बुद्धिमूलक। आधुनिक दृष्टि में इस प्रकार का ज्ञानगत द्वैत ही अस्वीकृत है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष बौद्धिक ज्ञान का विरोधी न होकर उसका मूल एवं निकष माना जाता है। भोग और नीति का विरोध भी तब तक रहता है जब तक भोग व्यक्तिपरक ही माना जाता है। वस्तुतः सामाजिक भोग के लिये कर्म निस्वार्थ होकर नैतिक बन जाता है। यही नैतिकता का सार है। प्राचीन दृष्टि में नैतिकता का उत्स अतीन्द्रिय बुद्धि ज्ञान अथवा अतीन्द्रिय दिव्य-ज्ञान में था और नैतिक जीवन का अर्थ होता था विशुद्ध बौद्धिक जीवन अथवा परमार्थ-सेवन। नवीन दृष्टि में नैतिकता का उत्स है मनुष्य की सामाजिकता। सामाजिक कल्याण की दृष्टि से मनुष्य का व्यवहार जिन भावों और नियमों को उपयोगी पाता है वही समष्टि रूप में नैतिक-व्यवस्था बनते हैं। इस प्रकार नैतिक आदर्श का सार परार्थ कर्म या परोपकार बन जाता है, न कि ईश्वरार्थ कर्म।

आर्थिक हित :

समाज स्वयं एक विकासशील संस्था है और सामाजिक हित के अनुरूप कार्य सिर्फ विद्यमान साधनों से सुखभोग का अधिकतम वितरण ही नहीं है बल्कि सुविधाओं की प्राप्ति की सम्भावना को साधनों के प्रवर्धन के द्वारा अधिकाधिक चरितार्थ करना है। साधन-प्रवर्धन मूलतः विज्ञान के विकास एवं प्रयोग से सिद्ध होता है। प्रकृति के नियमों का परिज्ञान एवं उनके अनु-

सार यन्त्र-निर्माण ही मानवीय श्रम को परिष्कृत और समर्थ बनाकर धरा को सुवर्ण-शस्या एवं रत्न-प्रसविनी बनाने में समर्थ होता है। वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास पर आधारित समृद्धतर उत्पादन-व्यवस्था उपभोग की सुविधाओं को सर्व-सुलभ बनाने की दिशा में चरणनिक्षेप करती है। उत्पादन की यह वेग-संस्कार-सम्पन्न यन्त्रारूढगति ही औद्योगिक क्रान्ति है जो कि नित्य नवीन रूप धारण करती है। औत्पादनिक क्रान्तिशीलता समाज की प्रवर्धनशीलता का आधार है। इस क्रान्ति का मूलाधार है ऐसे ज्ञान की खोज जो भौतिक प्रवृत्ति को स्वायत्त कर भौतिक उपादानों के द्वारा भोग-सम्पादन में समर्थ है। विज्ञान, प्रविधि और औद्योगिक उत्पादन मानवीय भोगों को आशातीत वैचित्र्य, प्राचुर्य और सौलभ्य प्रदान करते हैं। ऐसी स्थिति में मानवीय कर्मो का लक्ष्य सामाजिक अभ्युदय और सामाजिक अभ्युदय का अर्थ भौतिक साधनों और सुखों की वृद्धिशीलता स्थिर होना, आश्चर्यजनक नहीं है।

हितसुख' या आधुनिक 'वेलफेयर' (= हितचार) की धारणा प्राचीन रायस्पोष की धारणा के सदृश है और समाज की ऐसी स्थिति घोषित करती है जिसमें अभीष्ट विषयों की उपलब्धि प्रचुरता से हो। बैन्थम के अनुसार 'हित' का अर्थ 'अधिकतम सुख' ही है और इस दृष्टि को उपयोगितावादी अर्थशास्त्रियों ने अपना कर औपभोगिक तृप्ति का चलनकलनात्मक निरतिशयीकरण आर्थिक नीति का लक्ष्य और आर्थिक 'हितचर्या' का अर्थ बताया। पिगू ने बैन्थम के स्थान पर मूअर को स्वीकार करके भी हित का अर्थ तृप्त्यात्मक ही लिया है। उन्होंने द्रव्य-विनिमेय वस्तुओं और सेवाओं से उपलब्ध तृप्ति के स्तर को समाज के आर्थिक हित का स्तर मान लिया है। इस मत में यह अन्तर्निहित है कि प्रत्येक मनुष्य एक बुद्धिमान् 'आर्थिक मनुष्य' है जो अपनी समूची तृप्ति को यथासम्भव बढ़ाना चाहता है, जो तभी सम्भव है जब वह विभिन्न उपभोग्यों की पार्यन्तिक उपयोगिताओं का समीकरण करे अर्थात् द्रव्य की पर्यन्त-मात्रा के द्वारा अर्पित तृप्ति नाना क्रय्यों में समान हो। कुल उपयोगिता का निरतिशयीकरण, पार्यन्तिक उपयोगिताओं का समीकरण, घटती उपयोगिता का सिद्धान्त, ये तीनों एक साथ बंधे हुए हैं। एक ओर ये 'आर्थिक प्रज्ञा' को पूर्वाभ्युपगमित करते हैं, दूसरे ओर इनके आधार पर पण्य-समुदाय का मूल्य-व्यवस्थापन सम्भव होता है।

सुख औपभोगिक तृप्ति है, व्यक्ति का हित उसके सुख की अधिकतम अवस्था है और लोक-हित अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है, ये उपयोगितावादी हितसुखवाद की मुख्य धारणाएं हैं। सुख के अधिकतम

सम्पादन के लिये यह आवश्यक है कि द्रव्य की उपयोगिता विभिन्न उपयोगों में समान हो। यदि इसे 'आय की घटती पार्यन्तिक उपयोगिता' के सिद्धान्त के साथ जोड़ा जाय तो सामाजिक हित को अधिकतम करने के लिये अधिक आय से द्रव्य-मात्रा को निकाल कर अल्प आय में जोड़ना आवश्यक होगा क्योंकि उसी द्रव्य-मात्रा की पार्यन्तिक स्थिति बदल जाने से उसकी उपयोगिता में भेद आ जाएगा। धनी व्यक्ति के लिये कम उपयोगी धन दरिद्र को देने से अधिक उपयोगी हो जाता है क्योंकि अब वह धनी की कम तीव्र इच्छाओं की तृप्ति के स्थान पर दरिद्र की अधिक तीव्र इच्छाओं की पूर्ति का साधन बन जाता है। इस प्रकार उपयोगितावादी हितसुखवाद उपभोग और उत्पादन की वृद्धि एवं वितरण की सूक्ष्मता की नीति का निर्देश करता है।

उपयोगिता के संकलनीय, मेय एवं तुलनीय मनोवैज्ञानिक तत्त्व के रूप में स्वीकार की पर्याप्त आलोचना हुई है। समान व्यक्ति के लिये समान विषय से भी विभिन्न-क्षणिक औपभौगिक तृप्तियों के योग का क्या अर्थ हो सकता है? मार्शल ने 'उपभोक्ता के अतिरिक्त लाभ' की कल्पना की थी किन्तु क्या उसे किसी संख्या से नापा जा सकता है? 'एक उपयोगिता दूसरे से 'दुगुनी' है, क्या इस वाक्य में 'दो' का कुछ अर्थ है? विभिन्न व्यक्तियों के बीच उपयोगिताओं की तुलना और भी सन्दिग्ध है। प्रोफेसर राँबेन्स का कहना है कि इस प्रकार की तुलना प्रत्यक्ष पर आधारित वस्तु-निर्णय न होकर अप्रत्यक्ष मूल्यावधारणा है। बाँहम-बावर्क अथवा मार्शल में उपयोगिता परिमाणसूचक (कार्डिनल) संख्या से नापा जाने वाला मानसिक धर्म है। किन्तु यह मत विचारसह नहीं है। बैन्थम में उपयोगिता वस्तुगत सुखजनकता थी, मार्शल में वस्तु की अभीष्टता। किन्तु ये दोनों ही व्यक्ति-वस्तु सम्बन्ध की अवस्था विशेष के लक्षण हैं न कि मनोगत अथवा वस्तुगत परिणाम।

एजवर्थ के 'तटस्थ मानचित्र' और पैरेटो की क्रमसूचक (ऑडिनल) संख्या से नापी जाने वाली उपयोगिता इस पूर्व मत का एक परिष्कार है। मार्शल के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता इससे आंकी जा सकती है कि उसके लिये हम कितना देने को तैयार होते हैं। और आगे बढ़कर इस बात को यों कहा जा सकता है कि हम विभिन्न वस्तुओं में अपेक्षा या वरण का क्रम स्थापित कर सकते हैं। परिमाण न होते हुए भी उपयोगिता एक आपेक्षिक मान अवश्य ही बन सकती है। भाव (=मूल्य की दर) और आय वही रहने पर विभिन्न पण्यों का किस-किस मात्रा में संयोग समान रूप से अभीष्ट होगा, यह बताया जा सकता है और हमारे द्रव्य-विनियोग का

आधार होता है । इस सूचना का मानचित्र 'उपेक्षा' या 'तटस्थता' का मानचित्र है । अवस्थान्तर में दूसरा मानचित्र प्रस्तुत होगा । ऐसे मानचित्रों के स्तर हमारी अपेक्षा के स्तर सूचित करेंगे, जबकि प्रत्येक मानचित्र अपने अन्दर की पसन्दों के लिये एक उपेक्षा का स्तर होगा । जैसे पहाड़ की ऊँचाई बिना नापे भी यह कहा जा सकता है कि हम शिखर पर हैं, ऐसे ही हम वस्तुओं की आपेक्षिक वरणीयता या उपेक्ष्यता का निर्धारण बिना उपयोगिता को नापे कर सकते हैं । इस निर्धारण में मनोवैज्ञानिक तत्वों का विश्लेषण आवश्यक न होकर आर्थिक व्यवहार का विश्लेषण ही आवश्यक है । आर्थिक व्यवहार में आपेक्षिक मान-निर्धारण और किसी अभीष्ट धर्म, स्थिति सम्बन्ध या लक्षण के निरतिशयीकरण का प्रयास निरन्तर देखने में आता है । यद्यपि इस व्यवहार से अभीष्ट स्थिति का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, तथापि उसका अन्तर्गत तारतम्य अवश्य स्पष्ट होता है । 'अर्थ' का स्वरूप स्पष्ट न होते हुए भी 'आर्थिक सधार' का लक्षण अवश्य स्पष्ट होना चाहिए क्योंकि उसके लिये निरन्तर प्रयास ही 'आर्थिक व्यवहार' को जन्म देता है । ऐडम स्मिथ ने 'अर्थ' को 'राष्ट्रीय धन' (वैल्थ ऑव नेशन्स) कहा था और उसकी प्राप्ति का मुख्य साधन श्रम-विभाजन और 'अनियन्त्रित विनिमय' बताया । पैरेटो, पीगू, कैल्डर आदि ने 'अर्थ' को सामाजिक या आर्थिक 'हित' बताया । वे इस 'हित' को 'लाभ' या आर्थिक सुधार के रूप में प्रतिपादित करते हैं । यदि उत्पादन की वृद्धि होती है और उसके कारण सामूहिक, वास्तविक आय बढ जाती है, तो सभी की स्थिति पहले की तुलना में सुधारी जा सकती है, कम से कम बिना किसी को हानि पहुंचाए कुछ को लाभ पहुंचाया जा सकता है । कैल्डर के अनुसार इसमें अन्तर्वैयक्तिक तुलना की आवश्यकता नहीं है, साधनों के बढ़ जाने से एक समृद्धतर व्यवस्था सर्वसम्मति से लाई जा सकती है ।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या उत्पादन-वृद्धि ही हित-वृद्धि है ? पहले तो उत्पादित पण्यों का वितरण कैसा है, यह प्रश्न प्रासंगिक है । विभिन्न व्यक्तियों, वर्गों और समाजों में किस अनुपात से धन का वितरण होना चाहिये, इसका निर्णय केवल आर्थिक निर्णय नहीं है । वितरण का प्रश्न सामाजिक न्याय के प्रश्न के साथ उतना ही बंधा है जितना उत्पादकों के कार्य-कौशल के साथ । दूसरी बात है कि उत्पादन की प्रक्रिया साधन-व्यय के द्वारा होती है और उसके परिणामों में वातावरण-दूषण, खनिज–ह्रास आदि अनर्थों का उत्पादन भी होता है । यदि बढती आबादी के लिये तीव्र गति से उत्पादन की वृद्धि की जाय तो वह 'चक्र-वृद्धि' का रूप धारण कर अनर्थोत्पादन भी तीव्र कर देती है और एक सीमा नातिदूर

भविष्य में कल्पनीय है जब अभ्युदय की वृद्धि रुक जाएगी। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में माल्थस ने जनसंख्या और अन्न के बढने के आपेक्षिक क्रम के आधार पर भविष्य के विषय में बढ़ती दरिद्रता, संघर्ष आदि का भय व्यक्त किया था। उसके पीछे की सदी में 'औद्योगिक क्रान्ति' और प्रजनन-निरोध के आशातीत विकास से 'प्रकृति की कृपणता' मानो मानव की आँखों से ओझल हो गई और उत्पादन-प्राचुर्य के द्वारा धरती को नन्दन-वन बनाने के सुस्वप्न ने उस पुराने दुस्वप्न का स्थान ले लिया। किन्तु प्रविधि और कल्पवृक्ष में एक बड़ा अन्तर है : प्रविधि का विकास और उपभोग मानव-श्रम से सिक्त और प्रकृति-गर्भ के सीमित उपादानों का व्यय करके ही सम्पन्न होता है। प्रविधि प्रकृति का उपयोग करने में उसका व्यय और विकार भी करती है। उसका यह हानि-पक्ष उसकी निरन्तर वृद्धि होने पर अधिकाधिक बढने लगता है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि माल्थस का भय निराधार नहीं था। प्रकृति में सीमाओं का प्रतिबन्ध सब ओर लगा हुआ है और मानवीय भौतिक विकास निरवधिक नहीं हो सकता।

धन-लाभ या उपभोग्य वस्तुओं की प्रचुरता क्या मनुष्य को अधिक सुखी बनाती है? यदि उपभोग-प्राचुर्य मूल्यवान् है तो सुखित्व के अन्तर्गत होकर ही हो सकता है, किन्तु क्या उपभोग-वृद्धि मनुष्य को अधिकाधिक सुखी बनाती है? तीव्र अपेक्षाओं या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति सुखित्व के लिये एक पूर्वाभ्युपगम माना जाता है किन्तु अधिकाधिक अपेक्षाओं की सृष्टि और उनकी पूर्ति क्या मनुष्य को विषय-दासता, अशान्ति और आत्म विस्मृति नहीं प्रदान करती? हौब्स का कहना था कि मानव-सुखित्व नित्य नवीन सुख की खोज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह विश्वास आधुनिक औद्योगिक सभ्यता का आधार प्रतीत होता है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि भौतिक विकास केवल उपभोग का विकास नहीं है बल्कि मानवीय ऐश्वर्य, अवकाश और सुविधाओं का भी विकास है और इस प्रकार वह मनुष्य को स्थूल अपेक्षाओं और कर्मों की दासता से मुक्त कर उसे इस बात का अवकाश प्रदान करता है कि वह आत्मोचित जीवन की प्राप्ति के लिये प्रयास कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी आर्थिक स्थिति जो मनुष्य को दासता, कृषि-दासता और मजदूरी की घोर दरिद्रता और सिर्फ दूसरे के लिये कमर तोड़ परिश्रम में नाथे हुए पशु-जीवन से उबारती है और उसे आराम, अवकाश स्वच्छन्दता और सामाजिक बराबरी देती है, अवश्य ही

मानवीय हित की अवस्था मानी जानी चाहिए।[1] किन्तु उस अवस्था की हितरूपता इस बात पर निर्भर है कि वह स्थूल दुःखों का निवारण करती है, औपभोगिक सुखों को प्रदान करती है, और श्रेयस् के अनुसन्धान के लिये स्वच्छन्दता देती है। धर्म-साधन के लिये अर्थ अपेक्षित है, यह प्राचीन काल में भी स्वीकृत था। किन्तु कठिनाई यह है कि जिस आधिभौतिक निष्ठा के अन्दर इस प्रकार का विकास सम्पन्न होता है उसमें 'भोगैश्वर्य-प्रसक्ति' ही प्रधान मूल्य बन जाती है। श्रेयस् के अनुसन्धान के स्थान पर मनुष्य प्रेयस् और तदर्थ ऐश्वर्य के अनुसन्धान में प्रवृत्त हो जाता है। कब स्थूल दुःख निवृत्त हो जाते हैं, कब प्रेयोऽनुसन्धान प्रारम्भ होता है, इसकी विभाजक सीमा भी स्थिर नहीं रहती है। भारत में इस समय अगली योजना के लिये ४० रुपये मासिक आय पर 'दारिद्र्य-रेखा' खींची जा रही है, अमेरिका में इसके बहुत ऊपर। जैसा पहले कहा गया था सुख-दुःख का अनुभव द्वान्द्विक है और पारस्परिक अपेक्षा रखता है। आभ्युदयिक क्रम में न तो द्वन्द्वचक्र से मुक्ति होती है, न द्वन्द्वचक्र का स्तर ही सर्वथा सूक्ष्म बनता है क्योंकि स्थूल-दुःखों के अपेक्षया निवृत्त होने पर भी स्थूल सुखों की आसक्ति या आकर्षण कम नहीं होते। स्थूल सुख अनन्त वैचित्र्य से युक्त होकर इन्द्रिय-विलास की सामग्री बने रहते हैं। सूक्ष्म सुख—सौमनस्य, प्रसाद, शान्ति, सन्तोष, सात्विक सुख आदि—का बोध या आकर्षण धन और ऐश्वर्य की वृद्धि से ही नहीं होता। न परिणामिता, अनित्यता, सोपायासता, अशान्ति आदि सूक्ष्म दुःखों का बोध ही इस क्रम में सहज रूप से उत्पन्न होता है। समृद्धि के बढ़ने से अधिकाधिक लोगों का जीवन "वैसा बन जाता है जैसा धनवानों का", किन्तु 'वित्त से अमृतत्व की आशा नहीं है", 'वित्त से मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता।"

मनुष्य का हित सर्वांगीण ही हो सकता है, 'आर्थिक हित', राजनीतिक हित' आदि हित-प्रभेद न होकर हित को प्रभावित करने वाले कारणों के वर्गीकरण हैं। 'धन-सम्पाद्य हित' ही आर्थिक हित है, 'दण्ड-सम्पाद्य हित' ही 'राजनीतिक हित'। किन्तु क्या धन अथवा दण्ड से स्वतः हित सम्पन्न होता है ? किसी की भी कभी भी धन-मात्रा बढ़ा देने से क्या उसका अथवा

१ पैसा किसी का नहीं होता, इसलिए वह सबका होता है और जन्माश्रित व्यवस्थाओं का विद्रावक सिद्ध होता है। पूंजीवाद की विजय के साथ ही कर्म-मूलक व्यवस्था ने जन्ममूलक व्यवस्था का स्थान ग्रहण किया। किन्तु यथावत् कर्ममूलकता उसी व्यवस्था में सम्भव है जिसमें द्रव्य पर अधिकार श्रम के अनुरूप होगा; तु० कार्लमार्क्स, पूंजी, पृ० १६८, टि० १।

समाज का हित बढ़ जाता है ? धन पण्य-वस्तु अथवा सेवा के लाभ का साधन है, वह उस वस्तु अथवा सेवा की युक्तता अथवा हितसम्पादकता की ओर उदासीन है। मादक द्रव्यों का उत्पादन अथवा पण्यांगनाओं की वृद्धि धनसम्पाद्य होते हुए भी हितात्मक नहीं हैं। धन अथवा अर्थ-शक्ति इच्छापूर्ति का साधन होते हुए भी आवश्यक रूप से हित का सम्पादन नहीं करती। धन-सम्पाद्य फल एक प्रकार की कामोपलब्धि या भोग ही है। उसका हितत्व-निर्धारण नैतिक आदि अन्य आयामों के सन्दर्भ से ही हो सकता है। हित को अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि पृथक्-पृथक् प्रस्थानों में विचारने से एकाङ्गिता का दोष उत्पन्न होता है और साथ ही साधनों को साध्य मानने से उनकी सामाजिक और मानवीय सार्थकता ओझल होने लगती है।

हित और अधिकार :

सुरक्षारूपी मूल्य के ही दो पक्षों से आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार का जन्म होता है। सुरक्षा शब्द अंग्रेजी के 'सिक्योरिटी' के स्थान पर प्रयुक्त होता है और इसके अधूरे अर्थ को व्यक्त करता है। पुराना शब्द 'योगक्षेम' इस सन्दर्भ में अधिक समीचीन है। अपनी उपलब्ध स्थिति या हितों को बनाए रखना और उनकी वृद्धि, दोनों ही 'योगक्षेम' में संगृहीत हैं। 'योगक्षेम या सुरक्षा किसकी ? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। 'स्व-अर्थों' की या अपने हितों की या अपने अधिकारों को। 'स्वार्थ' शब्द निन्दा सूचक बन गया है किन्तु वह 'योगक्षेम' का ठीक विषय सूचित करता है। जिसे हम अपनी आत्मा समझते हैं और जिसे आत्मीय मानते हैं, जिस किसी में हम ममत्व का बन्धन डाले रहते हैं, वह सब है अपना अभीष्ट विषय अथवा स्व-अर्थ। उन सब अहंकार, ममकार की आश्रय और विषयभूत उपाधियों का एवं उन उपाधियों के अभिमान से प्रवृत्त प्रयोजनों की रक्षा और अभ्युदय ही 'योगक्षेम' का ठीक अर्थ है। ये स्व-अर्थ ही अन्तर्विरोध एवं परार्थ-विरोध से मुक्त होकर हित में परिणत हो जाते हैं। इन हितों की संपादक व्यावहारिक स्थितियां ही अधिकार कहीं जाती हैं। उदाहरण के लिये अन्न, वस्त्र, आवास आदि स्व-अर्थ, जो कि दूसरों के समान अर्थों के अविरोधी होने पर सम्पत्ति, जीविका आदि के अधिकारों को जन्म देते हैं। अर्थव्यवस्था और दण्डव्यवस्था इस बात को संयुक्त रूप से सम्भव बनाती हैं कि मनुष्य अपने श्रम के फलस्वरूप उपभोग्य वस्तुओं की प्राप्ति कर सके और इस श्रम और उपभोग के जीवन में औरों का समुचित सहयोग प्राप्त कर सके। अधिकार एक ओर स्व-अर्थों के पूरक होते हैं और दूसरी ओर

दण्ड और विधि के द्वारा समर्थित । किसी भी समाज के द्वारा उसके अपने हितों का अवधारण उसके द्वारा परिभाषित अधिकारों में देखा जा सकता है । व्यावहारिक मूल्यों को खोजने के लिये हमें व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से अभ्युपगत अधिकारों को खोजना होगा ।

जीवन का अधिकार परम है, यह एक सर्व स्वीकृत बात है । किन्तु, जीविका के अधिकार का स्पष्ट स्वीकार एक आधुनिक बात है । पुराने युगों में जीविकाहीन व्यक्ति कुटुम्ब का उत्तरदायित्व था अथवा दान का अधिकारी था । किन्तु यह स्वीकृत नहीं था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम से उपार्जन का अवसर मिलने का अधिकार है । उसे जीने का अधिकार है, स्वयं जीविका निर्वाह न कर सकने पर वह दूसरों की जिम्मेदारी बन जाता है । आर्थिक श्रम-रूप जीविका का अधिकार के रूप में स्वीकार एक नई बात है । औद्योगिक विकास ने आर्थिक श्रम के असंख्य वैचित्र्य और अवकाश को जन्म दिया है । पहले कर्म का महत्व कर्तव्य मात्र से निर्धारित होता था । अब अपने कर्म से अर्थोपार्जन यथाकथञ्चित् अर्थोपभोग मात्र से अधिक महत्वपूर्ण है । गीता के 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः' में कर्म एक अभ्यर्चन है और वह लोकोत्तर सिद्धि की ओर ले जाता है । किन्तु सामान्य व्यवहार के क्षेत्र में कर्म मुख्यतः अर्थोत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया का अंग-मात्र बन जाता है । फलतः जीविका का अधिकार कर्मोपार्जित अर्थ के द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार सिद्ध होता है किन्तु जीविका के सीमित अधिकार के साथ एक और आशा अब स्वीकार की जाती है और वह है जीविका के स्तर के निरन्तर अभ्युदय की । मनुष्य का आर्थिक अधिकार यही नहीं है कि वह स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके बल्कि यह भी कि वह निरन्तर आवश्यकताओं की पूर्ति वैचित्र्य के साथ और सूक्ष्मतर स्तर पर कर सके । यहां जीवन अनिवार्य अपेक्षा-निवृत्ति के आगे बढ़ कर समृद्धि-लभ्य उपभोग-विलास को अपना लक्ष्य बनाता है । इस प्रकृष्ट आभ्युदयिक लक्ष्य की पूर्ति उपभोग्य विषयों की असुलभता को नितान्त स्पष्ट कर देती है और 'स्व' और 'पर' के सामञ्जस्य को झिझोड़ कर संघर्ष की जननी बनती है ।

अत्युन्नत देशों में भी सबको जीविका प्रदान करना, या यथेष्ट जीविका प्रदान करना सम्भव नहीं है । यन्त्रों का आविष्कार श्रम की उत्पादकता बढ़ाता है किन्तु श्रम की अपेक्षा घटाता है । अविकसित देशों में 'प्रच्छन्न जीविकाहीनता' प्रचुर रहती है । सर्वत्र ही अभीष्ट जीविकाएं दुर्लभ होती हैं । फलतः यद्यपि औद्योगिक विकास जीविका के प्रश्न को एक सीमा

तक हल करता है, उसका पूरा हल तभी सम्भव है जब असुलभता की स्थिति हट जाय किन्तु वैसा होने पर जीविका का प्रश्न ही निरर्थक हो जाएगा। उत्पादन के विकास से सामान्य प्रकार के उपभोग्यों की प्रचुरता सम्भव है किन्तु यथेष्ट कर्म अथवा यथेष्टप्रकारक उपभोग्य कभी भी असुलभता का अतिक्रमण नहीं कर सकते।

अभीष्ट स्तर और प्रकार के जीवन-निर्वाह की मांग औत्पादनिक वृद्धि से केवल अंशतः पूरी हो सकती है किन्तु इतने में विशेष दोष नहीं है क्योंकि वह समृद्धि की खोज एक समाज की प्रगतिशील खोज का अंग बनने के कारण एक प्रकार के आदर्श की खोज को प्रतिबिम्बित करती है। कुशलतापूर्वक अपने कर्म-निर्वाह में मनोयोग एवं सामाजिक प्रगति की ओर ध्यान इस वित्तीय खोज को निरी भोगासक्ति से ऊपर उठाकर आधुनिक जीवन के अर्थान्वेषण का सर्वाधिक प्रतिनिधि-रूप बना देते हैं। अर्थ-चर्या की भोगार्थता उसके मूल्य का सीमित पक्ष है, प्रगतिशीलता और सामाजिकता से विशिष्ट उसकी कर्मात्मकता उसे एक निरन्तर वृद्धिसहिष्णु मूल्य प्रदान करते हैं। इसीलिये अर्थचर्या का महत्वपूर्ण पक्ष उपभोग न होकर उत्पादन है। मानवीय दृष्टि से उत्पादन की मूल्यवत्ता उसकी उपभोग्यता पर निर्भर न होकर उसकी श्रममूलकता पर निर्भर है। उत्पाद्य पण्यों का मूल्य-निर्धारण व्यवस्था विशेष में किस प्रक्रिया से होता है, यह एक दूसरा प्रश्न हैं, किन्तु यह निस्सन्देह है कि उत्पादन में मानवीय श्रम एक ओर परापेक्षित या समाजापेक्षित होने के कारण श्रमिक की चेष्टा को सार्थकता प्रदान करता है, दूसरी ओर उत्पाद्य को त्यागमूलक बनाकर मानवीय मान्यता प्रदान करता है। अनगढ परिश्रम हो चाहे शिल्प-चातुरी, दोनों में ही प्राण एवं आयु का व्यय होता है, जिसे निष्फल नहीं होना चाहिए। श्रम के प्रतिफल की मात्रा का निर्धारण व्यवस्था-विशेष एवं तात्कालिक परिस्थिति पर निर्भर करता है।

आर्थिक व्यवहार में अनेक प्रकार के मूल्य-सूत्र जुड़े हुए मिलते हैं—जीवन-निर्वाह एवं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति, औपभोगिक तृप्ति, परार्थ सुविधा-प्रदान, श्रम की त्यागमूलक फलार्हता, कर्म की कुशलता एवं उत्पादकता, सामाजिक प्रगति में योगदान। व्यवहार कर्म-फलात्मक होता है, आर्थिक व्यवहार में कर्म और फल दोनों ही अनेकधा मूल्यान्वित होते हैं। त्याग और भोग, स्वार्थ-पूर्ति और परार्थ-सम्पादन, प्रगति का आदर्शात्मक अनुसन्धान, ये सभी तत्व 'आर्थिक मूल्य' अथवा अर्थ-चर्या के अंग बनते हैं।

समता और सामाजिक न्याय :

ऊपर कहा गया था कि 'आर्थिक हित' केवल उत्पादन पर निर्भर न होकर वितरण पर भी निर्भर करता है। उपभोग्य अर्थों से हम अभावों जो की पूर्ति करना चाहते हैं उसमें एक अनिवार्य सापेक्षता रहती है। दरिद्रता और समृद्धि, अभाव एवं उपलब्धि के बीच की विभाजक रेखा कोई एक स्थिर रेखा नहीं है। समाज में अथवा समाजों में वैषम्य इस आपेक्षिक अभाव को प्रत्यक्षरूप देता है। फलतः आर्थिक 'समता' की मांग आर्थिक व्यवहार की एक प्रमुख दिशा बन जाती है किन्तु यह केवल आर्थिक आयाम नहीं है। ऐतिहासिक क्रम में आर्थिक समता की मांग 'सामाजिक समता' से उत्पन्न हुई है, समृद्धि की मांग से नहीं। और 'सामाजिक समता' की मांग न्याय की मांग का अंग है। समाज-व्यवस्था में न्याय की प्रतिष्ठा सदा ही एक प्रधान मूल्य रहती है। 'न्याय' का अर्थ सदा एक सा नहीं रहता है किन्तु आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी प्रकार के व्यवहारों का वह एक संयोजक बिन्दु रहा है। 'न्याय' के लिये प्राचीन और उपयुक्ततर शब्द धर्म (ग्रीक, दिके) है क्योंकि 'न्याय' प्रायः कानूनियत की परिधि में ही प्रयुक्त होता है जबकि 'धर्म' समाज की विधारक व्यवस्था और उसके अन्तःस्थ साम्य एवं सन्तुलन का द्योतक है और नैतिकता का आक्षेप करता है। समता का आदर्श केवल कानूनी न होकर अनिवार्यतया नैतिक है और इसीलिये 'सामाजिक न्याय' 'धर्म' के सदृश अर्थ का वाहक है।

न्याय का अर्थ है कानून के अनुसार दण्ड-विधान। इसे आद्य राजनीतिक मूल्य कह सकते हैं। कानून के अभाव में अनियत दण्ड-प्रणयन अराजकता का लक्षण है। सत्ता और न्याय दोनों का संयोग ही राजशक्ति को परिभाषित करता है। शक्ति हित और अहित दोनों का साधन होने के कारण स्वतः मूल्य नहीं होती हित की रक्षा और अहित के निवारण का साधन होने पर शक्ति राजशक्ति बनती है। रक्षणीय हित और निवारणीय अहित की परिभाषा संस्थागत नियम एवं प्रकासकीय नीति के द्वारा सम्पन्न होती है। इन नियमों ओर नीतियों का सम्यक् प्रतिपादन भी कर्तव्य है। यदि नियम-पालन न्याय है तो नियम-प्रतिपादन या व्यवस्थापन का औचित्य उतना ही महत्वपूर्ण है। यह नियमौचित्य 'न्याय' का एक गम्भीरतर अर्थ है। राजकीय नियमों या कानूनों को विवेक-संगत या धर्म-संगत होना चाहिए। धर्म एक आदर्श व्यवस्था है जिसके अनुसार होने पर कानून मान्य ठहरता है। धर्म के ग्राहक विवेक के मानव हृदय में निहित होने के कारण धर्म पर आश्रित व्यवस्था सम्मान्य होती है।

राजनीतिक मूल्य :

राज्य मानवीय सम्बन्धों का परम व्यवस्थापक है, अन्य सभी व्यवस्थाओं की संहिता का प्रामाणिक संस्करण तभी बनता है जब वह राजदण्ड की मुद्रा से अंकित होता है। राज्य की सम्प्रभुता उसका एक पक्ष है, इस शक्ति से समर्थित व्यवस्था और नीति दूसरा पक्ष है। प्रायः राजनीतिक व्यवहार शक्ति का अनुसन्धान मात्र रह जाता है। प्रायः लोक में साम, दान, दण्ड, भेद अथवा छल-प्रपन्च के द्वारा दूसरों को अपनी संकल्प-सिद्धि का साधन बनाना 'राजनीतिक' व्यवहार कहा जाता है। प्लेटो ने राजनीतिक व्यक्ति की मछुवे से तुलना की है, जो अपना जाल बिछा कर प्रलोभन देकर, चतुराई और खींचतान से शिकार करता है। जहां नैतिक व्यवहार दूसरे मनुष्य को आत्मोपम और लक्ष्यभूत मानकर प्रवृत्त होता है, शक्तिसंग्रहात्मक राजनीतिक व्यवहार उन्हें साधन मानकर प्रवृत्त होता है। इस दृष्टि से राजनीति केवल 'उपायशास्त्र' या प्राचीन अर्थ में 'नीतिशास्त्र' बन जाती है और 'युद्धनीति' शतरंज आदि से तुलनीय हो जाती है। वस्तुतः शक्तिसंग्रह अथवा 'नीति' राजनीति का एक अंगमात्र है, उसका सार नहीं। राजनीति का दूसरा नाम राजधर्म है जो कि उसके पक्षान्तर का संकेत करता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, व्यवहार कर्म-फलात्मक होता है। 'नीति' और 'धर्म' को उपायोपेयभाव से संयोजित करना राजनीतिक व्यवहार की विशेषताः है। 'नीति'-निर्देश्य उपाय बाह्यत्व लिये रहते हैं और अन्ततोगत्वा दण्डरूप परमोपाय में विलय पाते हैं। 'धर्म' विवेक का विषय है और धर्मचर्या स्वातन्त्र्यपूर्वक ही सम्भव है। दण्ड प्रेरित कर्म में मनुष्य अनिवार्य रूप से परतन्त्र रहता है। ऐसी स्थिति में दण्डसमर्थित राजकीय आदेश अथवा लोभादिमूलक राजनीतिक प्ररोचना किस प्रकार धर्म को प्रतिष्ठित करने के साधन बन सकते हैं, यह संशय दुर्निवार है। स्पष्ट ही राजनीति धर्म का साक्षात् उपकार नहीं कर सकती किन्तु वह उसके मार्ग के कन्टक शोधन द्वारा उसकी सहायता करती है।

समानता का अर्थ :

अराजकता का विरोध कर कानूनी व्यवस्था को बनाए रखना और उसके लिए शक्ति-संग्रह करना यह पहला राजनीतिक मूल्य है, व्यवस्था को धर्मानुरुप बनाना और सुधारना यह दूसरा राजनीतिक मूल्य है। 'धर्म' अधिकारों और कर्तव्यों की आदर्श व्यवस्था है जिसके दो तत्व ऊपर कहे गये है—अवैषम्य और स्वातन्त्र्य। समानता का अर्थ क्या है? 'सबके साथ एक सा व्यवहार' यह तो नहीं हो सकता क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों एवं वर्गों

की परिस्थितियां, योग्यताएँ एवं अपेक्षाएँ भिन्न होती हैं। आतुर और अनातुर, बालक, युवा और वृद्ध, शिक्षित और अशिक्षित अपराधी और निरपराध इत्यादि को एक सा काम या स्वतन्त्रता देना उचित नहीं होगा। इस दृष्टि से समानता का अर्थ किया गया है 'समानों के साथ समानता का और असमानों के साथ असमानता का व्यवहार'। यह परिभाषा कानून या नीति के व्यावहारिक प्रयोग में सहायक होती हुई भी यह नहीं बताती कि समानता का निर्धारण किस प्रकार किया जाएगा। कानून के समक्ष समानता और कानूनी वर्गीकरण की युक्तिसंगति को स्वीकार करने से ही समानता का आदर्श चरितार्थ नहीं होता। 'प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' इस सूत्र को व्यवहार में लाना कठिन है क्योंकि एक तो इससे उत्पादन और वितरण का सम्बन्ध छिन्न हो जाएगा, दूसरे योग्यता अपने सहज रूप में स्पष्ट नहीं होती और शिक्षा-जनित रूप में समाज के इस पूर्व-निर्णय पर निर्भर करती है कि किसको किस योग्यता के अर्जन में सहायता की जाय। यदि समानता को 'योग्यता के अर्जन के लिये सुविधाओं की समानता' कहा जाय तो भी यह प्रश्न उठता है कि क्या हम जन्मजात अथवा अन्य परिस्थिति से उत्पन्न विषमताओं को हटाने के स्थान पर उन्हें और बढ़ाना ठीक समझेंगे? उदाहरण के लिये अशिक्षित परिवार के बच्चों को या अपाहिजों को या पढ़ाई में दुर्बल बच्चों को शिक्षा की अधिक सुविधा चाहिए ताकि वे औरों के समान योग्यता प्राप्त कर सकें। आर्थिक क्षेत्र में समानता की मांग न सिर्फ दरिद्रों के लिये धन की मांग बनती है बल्कि धनियों से धन के अपहरण की मांग भी बनती है। वस्तुतः समानता का आदर्श किसी निश्चित अथवा निरपेक्षतया निर्धार्य परिस्थिति को सूचित नहीं करता बल्कि सामाजिक नीति की एक दिशा सूचित करता है जिसके लक्ष्य परिस्थिति-सापेक्ष होते हैं। यह विश्वास कि मनुष्यों में मौलिक समानता है और केवल आगन्तुक भेद, एक ऐसी निष्ठा है जो युक्ति-साध्य न होते हुए भी एक आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि पर आधारित है। कानून के क्षेत्र में यह निष्ठा पक्षपात-हीनता की नीति बनती है, आर्थिक क्षेत्र में यह कर्म-भेद को सर्वथा तिरोहित न करते हुए भी समान वितरण की नीति और तदर्थ उत्पादन एवं विनिमय के आवश्यक नियन्त्रण की नीति बनती है, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में यह सभी जातियों, राष्ट्रों, धर्मों और मानवीय समुदायों को अपने विकास के लिये समान अधिकारों की नीति बनती है।

यह कहा गया है कि धर्म (=न्याय) के अभाव में प्रबल दुर्बल को पीड़ित करता है जबकि 'धर्म' उनकी बराबरी स्थापित करता है। नैसर्गिक

बल, पैतृक सम्पत्ति, जाति, लिंग, वर्ण आदि जन्मसिद्ध किन्तु मानवात्मा की दृष्टि से वस्तुतः आगन्तुक कारणों से कोई मनुष्य दूसरों का अभिभव न कर सके, यही जन्मसिद्ध मानवीय अधिकार है। यहां मानवीय समानता का दावा मनुष्य के निरुपाधिक स्वरूप को बुद्धिस्थ करने पर ही युक्तिसंगत बनता है। असमानताएं औपाधिक होने के कारण मानव स्वरूप का परमार्थ नहीं हैं। प्राचीन 'समदर्शिता' का अर्थ यही था और 'मन का साम्य में प्रतिष्ठित' होना उसका गुणात्यय की ओर अभिमुख होना था। आजकल की दृष्टि भिन्न है। उसमें 'उपाधि' मनुष्य की शक्ति या सम्भावना है। मानवीय समानता वैकासिक सम्भावना की समानता है। इसलिये 'समानता' एक सिद्ध वस्तु नहीं है, बल्कि एक साध्य है जो व्यक्तित्व (=औपाधिक अभिमान) की सम्भावनाओं के विकास से अभिन्न है।

स्वतन्त्रता :

व्यक्तित्व के विकास के लिए ही स्वतन्त्रता आवश्यक होती है। स्वतन्त्रता निरंकुशता या इच्छा-दासता नहीं है, उसका वास्तविक अर्थ स्वाधीनता है। यदि 'स्व' केवल इच्छामय है तो स्वाधीनता स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता मात्र होगी। किन्तु कर्म का मूल संकल्प है और संकल्प विकल्प पर आश्रित होता है। विकल्प के पीछे जिस तत्त्व का न्यूनाधिक मात्रा में प्रकाश रहता है वह विवेक या बुद्धि है जिससे नियन्त्रित होने पर संकल्प वस्तुत: स्वाधीन कहा जा सकता है। विवेक-युक्त विकल्प पर आश्रित संकल्प से प्रेरित कर्म में ही स्वतन्त्रता है। मनुष्य अपने विवेक के अनुसार अपने को बना सके अपने आदर्शों का अनुसरण कर सके, अपने व्यक्तित्व का विकास अपनी मूल्य-चेतना के अनुसार कर सके, इसलिये उसे स्वतन्त्रता चाहिए। यह सही है कि आन्तरिक और वास्तविक स्वतन्त्रता मनुष्य के लिये निसर्ग-सिद्ध है और उसकी विवेकिता से अभिन्न है। इस दृष्टि से 'स्वतन्त्रता का अधिकार' मनुष्य के लिये उन बाहरी परिस्थितियों को द्योतित करता है जिनमें उसे अपने विवेक के अनुसार कर्म करने में बाहरी प्रतिबन्धों से मुक्ति हो। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि आन्तरिक विवेक का भी शिक्षा, संगति आदि के सन्दर्भ में विकास होता है। अपने को पहिचानने के लिये, या अपने को खोजने के लिए मनुष्य को एक मानवीय परम्परा का उत्तराधिकारी होना पड़ता है। मानवीय स्वतन्त्रता की सिद्धि के लिये इस प्रकार पहले तो बाहरी प्रतिबन्ध या अंकुश का अभाव होना चाहिये, दूसरे, शिक्षा-दीक्षा होनी चाहिये, तीसरे विवेक का आन्तरिक-उदय होना चाहिए। इनमें पहली मांग की पूर्ति का स्पष्ट ही यह अर्थ नहीं हो सकता कि समाज में मनुष्य जो चाहे

कर सके। उसका अर्थ यही हो सकता है कि जिन नियमों और प्रतिबन्धों का मनुष्य को बलवत् पालन करना है वे स्वयं विवेक पर आश्रित हों। ऐसे ही शिक्षा-दीक्षा भी स्वतन्त्रता के लिए तभी उपयोगी होंगी जब वे स्वयं विवेक पर आधारित होंगी। फलतः यह स्पष्ट है कि व्यक्ति तभी स्वतन्त्र हो सकता है जब राज्य भी स्वतन्त्र हो। दोनों की ही स्वतन्त्रता एक ही आधार पर सम्भव है और वह है विवेक का आधिपत्य। यदि समानता की उपलब्धि स्वतन्त्रता के विकास से ही सम्भव है तो स्वतन्त्रता का विकास व्यक्ति और समाज में विवेक को प्रतिष्ठा के द्वारा ही सम्भव है। प्लेटो की युक्ति इस विषय में अन्तिम है कि बिना विवेक के हाथों राज्यधुरा सौंपे 'धर्म' (सामाजिक न्याय) की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

शान्ति :

राजकीय दण्ड-शक्ति राज्य के अभ्यन्तर तो मात्स्य-न्याय का विरोध करती है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मात्स्य-न्याय की सृष्टि करती है। अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति और समरोन्मुखता की अनर्थरूपता प्राचीन काल में बुद्ध और अशोक जैसे विरल विचारकों ने ही समझी थी पर आजकल यह सिद्धान्त रूप में सर्वस्वीकृत है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का भंग विश्व-सुरक्षा को ही नष्ट करने की धमकी देता है। शान्ति-भंग होने के पूर्व भी उसकी आशंका प्रत्येक राष्ट्र को सामरिक सन्नद्धता के लिए सर्वाधिक प्रयास करने को बाध्य करती है। कांट का कहना था कि मनुष्य में 'असामाजिक सामाजिकता' है जिसके कारण क्रमशः छोटे समुदायों से बृहत्तर समुदायों की ओर प्रगति मनुष्य को शाश्वत शान्ति के आदर्श की ओर ले जाएगी। आजकल बहुत से लोग सोचते हैं कि पारमाणविक युद्ध की संहारकता की विभीषिका ही मनुष्य को ऐसे युद्ध से बचाने में समर्थ होगी। जब एकाधिक बड़े राष्ट्र परस्पर-संहार में समर्थ होंगे तो मतिमत्ता उन्हें इस प्रकार के स्पष्ट ही आत्मघाती कदम उठाने से रोक सकेगी। किन्तु यह आशा कभी भी दुराशा सिद्ध हो सकती है क्योंकि राजनीतिक और सामरिक निर्णय उस मतिमत्ता से नहीं लिये जाते जिसके साथ विचारक लोग तत्सम्बन्धी प्रश्नों पर अपने मस्तिष्क उद्वेजित करते हैं। न विश्व-शान्ति पूंजीवाद को छोड़ने से अथवा साम्यवाद या जनतन्त्र के अपनाने से ही सुरक्षित होती है। रूस और चीन का असौहार्द इस विषय पर साम्यवादी मत का प्रत्यक्ष खण्डन करता है। विश्वशान्ति का मार्ग वस्तुतः अशोक के मार्ग के अतिरिक्त दूसरा नहीं है। जब तक मानवता का मूल्य स्वार्थों के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं होगा, विश्वशान्ति एक स्वप्न रहेगी। जब तक मनुष्य अपने 'स्व' को मानवता की

उपाधि पर आधारित नहीं करेंगे उनके क्षुद्रतर उपाधियों से उत्पन्न स्वार्थ उनके लिए उपेक्ष्य नहीं होंगे। मानवता का अर्थ भी उदात्त भावों के संदर्भ में लेना होगा, न कि हौब्स या नोत्शे की धारणाओं के अनुकूल। मनुष्य को अपनी विश्वजनीनता का बोध होना चाहिये, तभी विश्वप्रेम या विश्वसौहार्द सम्भव है।

मनुष्य का कर्मफलात्मक व्यावहारिक जीवन आत्मरक्षा रूपी मूल्य के अनुसन्धान से प्रारम्भ होकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आयामों में विकसित होता है और हितसुख, योगक्षेम, न्याय-धर्म और मानवीय समवाय की ओर उद्दिष्ट होता है। सभी व्यावहारिक मूल्यों में नैतिकता का आयाम अनुसन्तत रहता है और स्वार्थ और परार्थ, काम और विवेक, दण्ड और स्वातन्त्र्य, त्याग और भोग आदि की द्वन्द्वात्मकता सदा विद्यमान रहती है। कर्मफलात्मक, कालिक, अनित्य, द्वन्द्वात्मक, सातिशय और सापेक्ष होने के कारण व्यावहारिक मूल्य मनुष्य को परम नहीं प्रतीत हो सकते। व्यवहार में मूल्यानुसन्धान एक सायास चेष्टा रहती है और विचारवान् पुरुष को मृगतृष्णा का अनुसन्धान लगती है। किन्तु यह भी सत्य है कि व्यावहारिक प्रयास के प्रसंग में ही व्यक्ति और समाज के संस्कार बदलते हैं और इस कर्म-परिणाम के द्वारा ही कालिक विकास सम्भव होता है।

परिशिष्ट

'व्यावहारिक मूल्य' के कुछ मूल संदर्भ

मनोवैज्ञानिक तत्त्व—प्रवर्तक हेतु (मोटिव)

प्रवर्तक हेतुओं (मोटिव्स) के विषय में हल और स्पैन्स का मत है कि उनका उद्‌गम प्राणी की अपेक्षावस्था में होता है। इन अवस्थाओं को रागात्मक और द्वेषात्मक वृत्तियों में बांटा जा सकता है। मौलिक वृत्तियों के आधार पर अन्य वृत्तियों का जन्म होता है और नये अर्जित हेतु अभ्यस्त होते हैं। ऐस्टीज के अनुसार 'प्रेरणात्मक उद्दीपक उद्दीपकमात्र हैं, उनकी कोई विशेषता नहीं है।' यंग एवं मैक्लीलैन्ड के अनुसार सुख-दुःखात्मक संवेदनों के प्रभाव प्रवृत्ति के हेतु बनाते हैं।

(हैल्सन और बेवन, सं० **कन्टेम्परेरी एप्रोचेज टु साएकालॉजी**, १९६४ पृ० २५८–६२)

इन उपर्युक्त व्याख्या-सरणियों में अन्तिम प्राचीन दृष्टि से तुल्य है : 'अनुकूल संवेद्य सुख है, प्रतिकूल संवेद्य दुःख। सुखानुशयी राग है, दुःखानुशयी द्वेष।'

व्यक्तित्व और समाज :

ऑलपोर्ट के अनुसार व्यक्तित्व का विकास शिशु के 'मूल उपादानों और अनुभवों के पारस्परिक प्रभाव से होता है। 'मूल उपादान' हैं देह-रचना, स्वभाव और बुद्धि। विकास की प्रक्रिया में अहंप्रत्यय का विकास होता है। अहंकार या 'स्वत्व' (प्रॉपियम) में सात आयाम संयुक्त रहते हैं—देहात्मबोध, स्वप्रत्यभिज्ञान, स्वाभिमान, आत्मविस्तार, आत्म-प्रतिबिम्ब, सविवेककारित्व, लक्ष्यगवेषित्व। ममत्व-संस्थान (प्रोपियेट स्ट्रक्चर)

प्रतिष्ठित होने पर व्यक्तित्व और उसके विकास का आधार बनता है। इस विकास में संस्कृति और स्वधर्म (रोल) का विशेष स्थान होता है।

(ऑलपोर्ट, **पर्सनैलिटी, ए साइकोलौजिकल इन्टरप्रिटेशन**, १९३७
ऑलपोर्ट, **पैटर्न एण्ड ग्रोथ इन पर्सनैलिटी** १९६१)

प्रेरणा (ड्राइव) :

"बीस वर्षों के अनुसन्धान ने प्रेरणा (=ड्राइव) की परम्पराभिषिक्त कल्पना को ध्वस्तप्राय कर दिया है। अब यह सोचना युक्त नहीं है कि प्रेरणाओं का उद्गम केवल स्नायु-संस्थान के बाहर ऊतकीय अभाव में है, या कि पूर्ति की ओर उद्दिष्ट क्रियाएं सहेतुक प्रकृति के व्यापक लक्षण और लक्ष्य हैं, अथवा यह कि ऊतकीय कमियों का परिहार शिक्षण की प्रक्रिया की आवश्यक शर्त है। अब हमारे सामने एक जटिल चित्र है जिसमें स्कन्धीय घटकों और स्नायविक केन्द्रों का स्थान प्रमुख है और जिसमें पूर्तिरूप लक्ष्यों के बिना स्नायुमूलक प्रवृत्ति-हेतुओं की धारणा युक्तिसंगत है।"

(शोबेन और रुख, सं० **पर्सपेक्टिव्स इन साइकोलॉजी**, १९६३, पृ० ३९)

पुरानी धारणा खोज, परिचालन आदि प्रवृत्तियों को ठीक नहीं समझा सकती है। इस प्रसंग में नई धारणाएं पर्यावरण के साथ समर्थ रूप से क्रिया करने पर जोर देती हैं। (द्र० वुडवर्थ, आर० एस०, **डाइनेमिक्स ऑव बिहेवियर**, १९५८)

भाव के दो पक्ष हैं : क्रियात्मक अभिव्यक्ति और आत्मगत अनुभूति। पहला हाइपोथैलेमस के संयोजनात्मक कार्य पर निर्भर करता है, दूसरा कोर्टेक्स पर। (आइसैक्सन, सं० **बेसिक रीडिन्स इन न्यूरो-साइकोलॉजी**, १९६४, पृ० ८८-८९)

"ऐसा लगता है जैसे एक परम पुरुषार्थ हो जिसे बहुधा कहा जाता है जैसे आत्माभिव्यक्ति, आत्मसिद्धि, योग, मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य, व्यक्तित्व-सम्पादन, स्वातन्त्र्य, प्रतिभा, सृजन—किन्तु उस पर सबकी सहमति है कि

इसका अर्थ है व्यक्ति की सम्भावनाओं को सिद्ध करना अर्थात् पूरी तरह से मनुष्य बनना, जो कुछ भी बनने की मनुष्य में सम्भावना हो।"

(मैस्लो, टुवार्ड ए साइकोलॉजी ऑव बींइग, १९६२, पृ० १४५)

आर्थिक मूल्य :

"मार्शल का तर्क संकलित उपयोगिता के निरतिशयीकरण से प्रारम्भ कर, घटती पार्यन्तिक उपयोगिता के नियम के द्वारा, इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि पण्यों की पार्यन्तिक उपयोगिताएं उनके मूल्यों के अनुपात में होनी चाहिएं।

किन्तु यह 'उपयोगिता' क्या है जिसे उपभोक्ता अधिकतम करना चाहता है? और घटती पार्यन्तिक उपयोगिता के नियम का ठीक आधार क्या है? मार्शल में इन प्रश्नों पर विश्रान्ति-स्थल नहीं मिलता। किन्तु पैरेटो ने इन पर आगे प्रकाश डाला है।

दिये हुये मूल्यों पर किसी व्यक्ति के द्वारा क्रेतव्य पण्यों की मात्राओं के निर्धारण के लिये मार्शल के सिद्धान्त के अनुसार हमें 'उपयोगिता-तल' (यूटिलिटी सरफेस) का ज्ञान होना चाहिए। पैरेटो के ज्ञान के अनुसार हमें केवल 'ताटस्थ्य-मान-चित्र' (इनडिफ़रैन्स मैप) का ज्ञान होना चाहिए और वह उपयोगिता तल से कम सूचना देता है। वह हमें इतना ही बताता है कि व्यक्ति एक पण्य समूह को दूसरे से अभीष्टतर मानता है, वह यह नहीं बताता जैसा कि उपयोगिता-तल बताने का दावा करता है, कि पहला पण्य-समूह दूसरे से कितना अधिक पसन्द है।

ताटस्थ्य-वक्रों (इनडिफ़रैन्स कर्व) को दी हुई संख्याएं पूरी तरह से मन-गढन्त हैं। जैसे हम उच्चतर वक्रों की ओर जाते हैं उन्हें बढ़ाना सुविधा-जनक होता है किन्तु संख्याएं किसी बढ़ती श्रेणी की हो सकती हैं— १,२ ३, ४......., १,२,४, ७ या १,२,७, १०.......इत्यादि।

इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि कोई व्यक्ति उपयोगिता, तृप्ति या इष्टता के उपयुक्त मान के अस्तित्व में विश्वास करता है तो उसका विरोध किया जाय। यदि कोई उपयोगितावादी दर्शन में विश्वास करता है तो उसे अपने अर्थशास्त्र में भी उपयोगितावादी होने का अधिकार है। किन्तु यदि

कोई उपयोगितावादी नहीं है (और आजकल बहुत थोड़े हैं), तो उसे अपने अर्थशास्त्र को भी उपयोगितावादी अभ्युपगमों से मुक्त रखने का अधिकार हैं।

(हिक्स, **वैल्यू एण्ड कैपिटल**, १९३९, पृ० १२, १७, १८)

'युक्ति बिना दिये हुए ही दो स्थापनाओं को प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा—एक, कि हितचर्या के तत्व चेतना की अवस्थाएं हैं, सम्भवतः उनके सम्बन्ध भी; दो हितचर्या को कम और अधिक की कोटि के अन्दर रखा जा सकता है।

हमारी जिज्ञासा सामाजिक दिनचर्या के उस क्षेत्र में सीमित है जिसे साक्षात् या परम्परया द्रव्य के मानदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है। हितचर्या के इस विभाग को आर्थिक हितचर्या कह सकते हैं।"

(पिगू, **इकोनौमिक्स ऑव वैलफेयर**, १९३२, पृ० १०, ११)

आर्थिक हित के परिवर्तन समूचे हित के परिवर्तनों का यथावत् निर्देशन नहीं करते, किन्तु एक अंश के परिवर्तन सम्पूर्ण के परिवर्तन के आवश्यकतया निदर्शक नहीं होते हैं। किन्तु यह एक गम्भीरतर आपत्ति है कि सम्भवतः आर्थिक कारणों का आर्थिक हित पर प्रभाव उनके अर्थसाध्य हित पर उलटे प्रभाव से निरस्त हो जाय। (वही, पृ० १२)

"मनुष्य 'अपने में साध्य' भी हैं, उत्पादन के साधन भी हैं। एक ओर जो मनुष्य प्रकृति अथवा कला में सौन्दर्य का पारखी है या जिसका चरित्र सीधा और सच्चा है, जिसके वेग संयत हैं और सहानुभूति विकसित, वह अपने में ही विश्व के नैतिक मूल्य का अंग है, उसके विचार और भावनाएं हित की घटक हैं। दूसरी ओर जो मनुष्य जटिल औद्योगिक प्रक्रियाओं को निष्पन्न कर सकता है, सूक्ष्म साक्ष्य विचार कर सकता है या व्यवहार की किसी शाखा को आगे बढ़ा सकता है, वह उन वस्तुओं के उत्पादन का युक्त साधन है जो हित का सम्पादन करती हैं।....जिस बात का हमें सामना करना है वह यह है कि एक सीमा तक समाज इन दो प्रकार के व्यक्तियों में से चुनाव कर सकता है और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों में मूर्त, आर्थिक हित पर यत्न को केन्द्रित कर पहले में मूर्त अर्थातिरिक्त हित का अबोधपूर्वक त्याग कर सकता है।' उदाहरण के लिए जैसा डौसन ने बताया है जब जर्मनी अनेकधा विभक्त था तो उसने गेटे और शिलर, कान्ट और फिश्ते को जन्म दिया, एक होने के बाद जर्मनी का योगदान क्या रहा है सिवाय 'भरे

खलिहानों और भरे निधि-पोतों के, सिवाय भौतिक विज्ञान और वाणिज्य के"? नई जर्मन शिक्षा पण्डितों और शिक्षकों, अधिकारियों और कर्मचारियों को पैदा करने में अतुलनीय है किन्तु लोग राष्ट्रीय मशीन के संचालन में नियुक्त होते हुए भी व्यक्तित्व या चरित्र के निर्माण में विशेष समर्थ नहीं है।" संक्षेप में जर्मन लोगों का ध्यान 'करना' सीखने में इतना केन्द्रित रहा कि उन्होंने पहले के विपरीत, 'होना' सीखने की ओर लापरवाही बरती।"

(वही, पृ० १३)

"द्रव्यमान से सम्बन्ध-योग्य चेतना के रूप जो आर्थिकहित कहे जाते हैं, वे एक सीमित प्रकार की तृप्तियां या अतृप्तियां हैं।" उनको बदलने वाले कारण चेतना के अन्य रूपों को मुख्यतः दो प्रकार से प्रभावित करते है—एक तो अर्थातिरिक्त हित जीविका के प्रकार से प्रभावित होता है क्योंकि कर्म का वातावरण जीवन के स्तर पर असर डालता है। दूसरे, अर्थातिरिक्त हित आय को खर्च करने के ढंग से प्रभावित होता है क्योंकि विभिन्न प्रकार के उपभोग समान रूप से हितकारी नहीं होते। इस प्रसंग में आर्थिक बल और सैनिक बल एवं सुरक्षा का निकट सम्बन्ध भी विचारणीय है और इस ओर ऐडम स्मिथ में परोक्ष ध्यान आकृष्ट किया गया। इन सब पर विचार करने से यह सम्भावना उत्पन्न होती है कि आर्थिक कारणों का आर्थिक हित पर जिस दिशा में प्रभाव होता है उसी दिशा में आर्थिक हित के परिवर्तन का सामाजिक हित पर होगा। (वही, पृ० १४-२०)

"आर्थिक विश्लेषण के सामान्य प्रयोजनों के लिये इससे कुछ क्षति नहीं होगी यदि हम उस प्रचलित प्रथा को ठीक मानलें जो मांग के द्रव्य-मान को इच्छा-मान और तृप्ति-मान दोनों ही मान लेती है। इसका एक महत्त्वपूर्ण अपवाद है और वह लोगों की भविष्य मनोवृत्ति से सम्बन्ध रखता है।"

(वही, पृ० २४)

"आर्थिक हित और राष्ट्रीय लब्धि, ये दोनों प्रत्यय इस प्रकार समानान्तर हैं कि एक के विषय का विवरण दूसरे विवरण को आक्षिप्त करता है।........यह सर्वथा स्पष्ट है कि राष्ट्रीय लब्धि के अन्तिम घटक विषयभूत सेवाएं हैं, कुछ पण्यों में मूर्त, कुछ साक्षात् प्रस्तुत।" (वही, पृ० ३१)

"हितार्थशास्त्र के तार्किक संकलन के विषय को तृप्ति या सुख समझा जाय, इस उपयोगितावादी मत का मैंने इस आधार पर प्रत्याख्यान किया है कि हितार्थशास्त्र को सामाजिक हित के आर्थिक कारणों की विद्या बताना

भ्रामक है। ऐसा वर्णन जितनी वस्तुनिष्ठा और परिच्छेद का आभास करता है, उतना अलभ्य है। उदाहरण के लिये यह विवादस्पद है कि धन का कोई पुर्नवितरण सुख को बढ़ायेगा या घटायेगा। मेरा यह भी दावा था कि सामाजिक सुख के बारे में निर्णय में एक आदेशात्मक तत्त्व होता है।........ मेरा मत है कि हितार्थशास्त्र का मुख्य प्रयोजन विधान है.....।

उपयोगितावादी दृष्टि का मेरा प्रत्याख्यान सिर्फ इस आपत्ति पर आधारित नहीं है कि तृप्तियों को जोड़ नहीं सकते या कि अन्तर-वैयक्तिक तुलनाएं असम्भव हैं: बल्कि सच तो यह है कि मैं सोचता हूँ कि बहुत से लोग कर्तव्य-निर्धारण में इस प्रकार की सुख-गणना करते हैं। किन्तु इस प्रकार की गणना विधायक अर्थशास्त्र के लिये तार्किक आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है 'क्या करना चाहिए', इस विषय में निर्णयों की, न कि उन निर्णयों तक पहुँचने के लिये प्रयुक्त लोगों की कल्पनाओं के ज्ञान की।

इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि हितार्थशास्त्र को एषणीय, आर्थिक परिवर्तन की निम्नोक्त पर्याप्त कसौटी पर आधारित करना चाहिये-आर्थिक परिवर्तन तब एषणीय है जब (क) उसका परिणाम धन का अच्छा पुनर्वितरण हो एवं (ख) जब सम्भाष्य हानि उठाने वाले सम्भाव्य लाभ उठाने वालों को परिवर्तन के विरोध के लिये लाभपूर्वक प्रलोभित न कर सकें। इस कसौटी में दो मूल्यावधारण अन्तर्निहित हैं। पहला यह कि यदि एक व्यक्ति अपने वरण-क्रम में उच्चतर अवस्था प्राप्त कर सके तो वह अधिक हितसम्पन्न होगा। दूसरा यह कि यदि समाज में एक व्यक्ति भी अधिक हितसम्पन्न होता है और कोई भी हितवियुक्त नहीं होता तो वह समाज अधिक हितसम्पन्न होगा।"

(लिट्ल, **ए क्रिटीक ऑव वेलफेयर इकनौमिक्स**, १९६५, पृ० २७५-२७६)

"उपयोगिता, युक्ति-संगतता, मूल्य आदि के विषय में अर्थशास्त्री जो कहते हैं उसका अधिकांश केवल ऐसे सांस्थानिक लक्षणों से सम्बन्ध रखता है जैसे परत्र सम्बन्धनीयता (=ट्रैन्सिटिविटी), सामान्य परिवृत्ति योग्यता (=सब्सट्यूटिबिलिटि), और निरतिशयीकरण। अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता फलन (यूटिलिटी फंक्शन) के विशिष्ट अनुयोगियों की ओर—लोगों के प्रवर्तक हेतुओं के विशिष्ट स्वभावों की ओर—जानबूझ कर अधिक ध्यान नहीं दिया है।"

(जैरोम राथेनबर्ग, रॉयक्रप (सं०) **दि स्ट्रक्चर ऑव इकनौमिक साइन्स**, १९६६, पृ० २३७)

"उपयोगिता को कामना या इच्छा का प्रतियोगी माना जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इच्छाओं को साक्षात् रूप से नहीं नापा जा सकता किन्तु उन बाहरी व्यापारों से ही नापा जा सकता है जिन्हें वे उत्पन्न करती हैं। वे सन्दर्भ जिनसे अर्थशास्त्र का मुख्यतया सम्बन्ध है उनमें मान वह मूल्य है जिसे व्यक्ति इच्छा की पूर्ति के लिये देने को तैयार है।

इच्छाओं का अनन्त वैविध्य है किन्तु प्रत्येक इच्छा की एक सीमा है। मानव स्वभाव की परिचित और आधारभूत प्रवृत्ति को तर्पणीय इच्छाओं का नियम अथवा घटती उपयोगिता का नियम में इस प्रकार कहा जा सकता है—व्यक्ति के लिये किसी वस्तु की सम्पूर्ण उपयोगिता (=उसके द्वारा प्रदत्त समग्र सुख या लाभ) उस वस्तु की मात्रा के साथ बढ़ती है किंतु उस वेग के साथ नही जिससे कि वस्तु की मात्रा बढ़ती है। यदि मात्रा बराबर एक स्थिर अनुपात से बढ़ती है तो उससे उपलब्धि एक घटते अनुपात से बढ़ती हैं।"

(मार्शल **प्रिन्सिपल्स ऑव इकनौमिक्स**, पृ० ९२-९३

"दरिद्र की तुलना में धनी के लिये एक शिलिंग कम सुख या कम तृप्ति का मान हैं।" (**वही**, पृ० १९)

"समय की एक इकाई में सुख-तीव्रता की एक मात्रा का अनुभव करता हुआ एक व्यक्ति एक संख्यक गिना जायगा। इस प्रकार 'उपयोगिता' के तीन आयाम हैं—उपयोगिता का एक परिमाण, एक सुख-राशि, दूसरे से अधिक है यदि उसमें **तीव्रता-समय-संख्या** की अधिक इकाइयां हैं।"

(एजवर्थ, **मैथेमैटिकल साइकिक्स**, पृ० ८)

"यह स्पष्ट नहीं है कि चतुर विज्ञापनों के द्वारा स्वविषयक इच्छाओं को साथ लिये पण्य वस्तुएं अच्छी वस्तुएं ही हैं। उन पण्यों और उनकी इच्छाओं के बिना क्या हम उतने ही अच्छे नहीं रह सकते?"

(जोन रॉबिन्सन, **इकनोमिक फिलोसोफी** १९६४, पृ० १२३)

आर्थिक वृद्धि का प्रसिद्ध सूत्र-जी=$\frac{\text{एस}}{\text{वी}}$ यह सूचित करता है कि "किसी अर्थ-व्यवस्था की वृद्धि की दर प्राविधिक अवस्था (जो कुछ सीमाओं के अन्दर पूंजी और आय के अनुपात को निर्धारित करती हैं) और आबादी की बचत की प्रवणता पर निर्भर करती है। किन्तु उसमें सबसे महत्वपूर्ण बात भूली जाती है—पूंजी-समुच्चय की दर को निर्धारित करने वाले वाले निर्णय।"

(जोन राबिन्सन, **इकनौमिक फिलोसौफी**, १९६४, पृ० ९९)

"नैतिक समस्या एक संघर्ष है जो कभी नहीं सुलझेगा। सामाजिक जीवन मनुष्य को सदा अनर्थों के बीच चुनने की स्थिति में रखेगा।"

(वही, पृ० १३७)

सुख और सुखित्व :

"प्रकृति ने मनुष्य के अन्दर सुख की इच्छा और दुःख के द्वेष को निहित किया है। ये सहज व्यावहारिक तत्व हैं जो हमारी सभी क्रियाओं को प्रवर्तित और प्रमाणित करते हैं।"

(लौक, **ऐसे कन्सर्निंग ह्यु मन अन्डरस्टेन्डिङ्ग** १,२,३)

"विषय अच्छे या बुरे सिर्फ सुख या दुःख के सम्बन्ध से होते हैं।"

(वही, २, २० २)

"आत्मा वह चेतन सत्ता है (चाहे जिस उपादान की बनी हो, भौतिक या अभौतिक, संस्कृत या असंस्कृत) जो सुख या दुःख का ग्रहण कर सुखी या दुःखी बनती है और इस प्रकार जहां तक इस चेतना का विस्तार है, अपने बारे में चिन्तित होती है।" (वही, २, २७ ७)

"जीवन की सुखिता तृप्त मानस की आत्मविश्रान्ति नहीं है क्योंकि ऐसा कोई अन्तिम लक्ष्य या परम पुरुषार्थ नहीं है जैसे की चर्चा प्राचीनों ने की है। जैसे इन्द्रिय-व्यापार एवं कल्पना-व्यापार के उपरम होने पर कोई जी नहीं सकता, ऐसे ही इच्छाओं के अवसान होने पर जीवन का अन्त हो जाता है। सुख इच्छा की एक विषय से दूसरे विषय तक निरन्तर प्रगति है जिसमें पहले को उपलब्धि दूसरे की उपलब्धि का उपाय बनती है। इसका कारण है कि मनुष्य सिर्फ एक बार इच्छोपभोग नहीं चाहता बल्कि भविष्य के इच्छोपभोग को भी आश्वस्त करना चाहता है।

इसलिये प्रथम स्थान में मैं समस्त मानवता की उस साधारण प्रवृत्ति को रखता हूँ जो निरन्तर अविराम रूप से मरने तक अधिकाधिक शक्ति संग्रह की ओर उद्दिष्ट है।"

(हौब्स, **लेवायथन**, एवरीमैन्स, पृ० ४९)

"क्लासिकल अर्थशास्त्र के दर्शन में व्यक्त पूंजीवाद का मूल कार्यक्रम स्पष्ट था–स्वतन्त्रता और समानता–स्वतन्त्रता अधिकतम उत्पादन के लिये

समानता युक्ततम वितरण के लिये। औद्योगिक क्रान्ति ने एक को सम्पादित किया, दूसरे को विनष्ट।.....समानता के सिद्धान्त ने अपना रूप बदला। कारुसमाज में वह राष्ट्रीय धन के न्यायसंगत विभाजन की मांग थी, मजदूरों के समाज में पह उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वायत्तीकरण की मांग है।"

(स्टार्क, दि आइडीयल फाउन्डेशन आव इकनौमिक्स, १९४८, पृ० २०७)

उपयोगिता और नैतिकता :

"सब नैतिक निर्णयों में बुद्धि और भाव दोनों जुड़ते हैं।"

(ह्यूम, एन एन्क्वायरी कन्सींग दि प्रिन्सिपल्स ऑव मौरल्स, आक्सफोर्ड तृतीय सं० पृ० १७५)

"यह एक तथ्य प्रतीत होता है कि सभी विषयों में उपयोगिता स्तुति और निन्दा का मूल्य होती है।—वही एकमात्र कारण है जिससे हम न्याय, दृढभक्तिता, सम्मान, अनुरक्ति और सतीत्व की प्रशंसा करते हैं। अन्य सब सामाजिक गुणों से जैसे मानवता, उदारता, दानशीलता, प्रियता, भद्रता, दया और क्षमा, से भी यह अनिवार्यतया सम्बद्ध है। वह मानवजाति से सम्बन्ध रखने वाले नैतिक गुणों के अधिकांश से सम्बद्ध है।

ऐसा लगता है कि चारित्रिक अनुमोदन में हमें सामाजिक गुणों की उपयोगिता केवल स्वार्थ के कारण प्रेरित नहीं करती बल्कि उसका प्रभाव हमारे ऊपर कहीं अधिक व्यापक और विश्वजनीन है।"

(ह्यूम, एन एन्क्वायरी कन्सर्निग दि प्रिन्सिपल्स ऑव मौरल्स ऑक्सफोर्ड, द्वितीय सं० पृ० २३१)

न्याय और समानता :

"उसका आदर्श स्वर्ग में स्थित है और जो चाहे उसे देख सकता है और देखकर अपने घर को ठीक कर सकता है। वैसी आदर्श व्यवस्था वस्तु जगत में कहीं है या कभी होगी यह महत्त्वपूर्ण नहीं है।"

(प्लेटो, रिपब्लिक ९,५९२)

"अवैषम्य न्याय-संगत होता है किन्तु सदा कानूनी न्याय्यता न होकर उसका संशोधन होता है। इसका कारण है कि कानून सामाय विषयक होता है जबकि कुछ विषय ऐसे हैं जिनके बारे में निरपवाद विधान त्रुटिपूर्ण होते हैं।"

"न्याय नैतिक गुणों का एक अंश नहीं है बल्कि उनकी समग्रता है।"
"इस पर सब एकमत हैं कि संविभाजन का न्याय गुणानुसार विभाजन में है किन्तु इस गुण का निर्देश वे समान रूप से नहीं करते।"

(अरस्तू, रौस, **सैलेक्शन्स**, पृ० २५३–५७)

"धर्मशास्त्र का मूल पाप हमें यह निश्चित रूप से बता देता है कि आदमी को रोटी पाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक क्यों करना पड़ता है। लेकिन अर्थशास्त्र के मूलपाप का इतिहास हमें बताता है कि कुछ लोग ऐसे भी क्यों होते हैं जिनके लिए रोटी पाने के लिए मेहनत करना आवश्यक नहीं है।"

(मार्क्स, **पूंजी**, पृ० ७९८)

स्वतन्त्रता :

"व्यक्तियों का यह अधिकार कि उनकी चेतना की नियति स्वतन्त्रता हो, तब चरितार्थ होता है जब वे एक वास्तविक नैतिक व्यवस्था के अंग बनते हैं....परिवार और राष्ट्र का वास्तविक मन ही नैतिक द्रव्य है जिसमें अपने आप से विशिष्ट स्वतन्त्र आत्मचेतना प्राप्त होती है।"

(हगेल, **फिलोसफी ऑव राइट** १५३–५७)

"किसी व्यक्ति के कर्म-स्वातन्त्र्य में व्यक्तिशः अथवा सामूहिक रूप में हस्तक्षेप का अधिकार मनुष्य जाति को केवल एक प्रयोजन से मिलता है और वह है आत्मरक्षा। इसीलिए एक व्यक्ति को दूसरों को नुकसान पहुचाने से उसकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक रोकना न्याय संगत होता है। व्यक्ति का अपना हित इस प्रकार के हस्तक्षेप को अधिकृत नहीं करता।"

(मिल, **औन लिबर्टी**, एवरीमेन्स, पृ० ७६–७७)

"मनुष्य में आत्म साधक तत्व कभी पूरी तौर से चरितार्थ नहीं होता मानवीय-बुद्धि-विषय और संकल्प-विषय में एक होने की प्रवृत्तिमात्र होती है। जहां तक वे सचमुच एक हो जाते हैं; मनुष्य को स्वतन्त्र और उसके संकल्प को स्वाधीन कहा जा सकता है।"

(ग्रीन, **प्रिन्सिपल्स ऑव पुलीटिकल ओब्लीगेशन**, पृ० २०–२२)

५

सात्त्विक मूल्य

क्रियात्मकता और विपश्यनात्मकता :

जैसा पहले कहा जा चुका है मूल्यबोध के दो पक्ष हैं—एषणा और विवेक। एषणा मूल्यबोध में एक साध्य-साधन-भाव के बोध को अनिवार्यतया निहित करती है और मूल्य-चेतना को अनुसन्धानात्मक बनाती है और क्रिया की ओर प्रेरित करती है। दूसरी ओर, विवेक मूल्य-बोध को आलोचनात्मक और ज्ञानात्मक बनाता है। फलतः मूल्यबोध में क्रियात्मकता और विपश्यनात्मकता (दर्शनात्मकता) दोनों ही नित्य-संयुक्त होते हैं। स्पष्ट ही मूल्यों का विभाजन इस आधार पर नहीं हो सकता कि कुछ मूल्य क्रियान्वयी हैं, कुछ विपश्यनान्वयी (दर्शनान्वयी)। यदि इन तत्त्वों में से किसी एक के प्राधान्य के आधार पर विभाजन प्रस्तुत किया जाय तो अधिक समीचीन होगा किन्तु उसमें भी असमंजसता बनी रहेगी। उदाहरण के लिये यदि आर्थिक और साहित्यिक मूल्यों को लिया जाय तो आपाततः ऐसा लगता है कि आर्थिक मूल्यों की खोज सम्पूर्णतया नहीं तो प्रधानतया कर्मसाध्य है जब कि साहित्यिक मूल्यों की खोज एक प्रकार की मानसिक तल्लीनता अथवा अनुभूति में चरितार्थ होती है। वस्तुतः इस प्रकार का भेद करना तत्त्व की ओर आँखें बन्द करना है क्योंकि जैसे जैसे आर्थिक मूल्य समाज की परोक्ष अवस्था-विशेष की कल्पना में बदल जाते हैं, उनका बोध और साधन दोनों उत्तरोत्तर सूक्ष्म बौद्धिक व्यापार पर निर्भर करते हैं। दूसरी ओर साहित्य-साधना का सृजन-पक्ष स्पष्ट ही क्रियात्मक होता है, यद्यपि यह क्रिया स्थूल कर्म से भिन्न है। वास्तु–कला में स्थूल कर्म और सूक्ष्म कल्पना का यह अभेद स्पष्टतया समझा जा सकता है। स्थूल कर्म सूक्ष्म कल्पना का साधन एवं मूर्तरूप ही माना जा सकता है। वस्तुतः सूक्ष्म एवं स्थूल कर्म का भेद आपेक्षिक और 'स्थूल' है। इन्द्रियगम्य भौतिक विचालन एवं उसके पीछे कारणों का विचलन एक ही प्रक्रिया के दो सिरे हैं, स्थूल एवं सूक्ष्म। उनमें कारकता की दृष्टि से भेद नहीं किया जा सकता।

यह कहा जा सकता है कि कुछ मूल्य, जैसे नैतिक मूल्य, कर्मात्मक हैं जबकि अन्य, जैसे ज्ञान, उपलम्भात्मक या दर्शनात्मक ।[1] किन्तु वास्तव में नैतिक कर्मों की नैतिकता उनकी क्रियात्मकता, फलोपकारकता या कारक व्यापार होने में नहीं होती बल्कि उसका मर्म उस चेतना में निहित होता है जिसकी अभिव्यक्ति नैतिक कर्मों में होती है। चेतना की एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें वह अपने अन्तस्थ आदर्श-बोध को कर्म के द्वारा व्यक्त करना चाहती है। यही नैतिकता की अवस्था है। इस अवस्था का मर्म नैतिक कर्म के कारण-व्यापार में न होकर उसके अभिव्यंजक व्यापार में है।

फलतः मूल्यों में कृतिपरक एवं दृशिपरक होने का भेद विचारसह नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार का भेद वास्तव में साध्यरूप और सिद्धरूप मूल्यों का भेद आक्षिप्त करता है क्योंकि दर्शन सिद्ध वस्तु का ही होता है। कर्म का प्रतियोगी ज्ञान और कार्य एवं ज्ञेय का भेद ही साध्य और सिद्ध का भेद है। किन्तु क्या मूल्य को बिना व्याघात के सिद्धरूप कहा जा सकता है? उदाहरण के लिये वैज्ञानिक खोज में सिद्धरूप प्रकृति मूल्य नहीं होती बल्कि उसका साध्यरूप ज्ञान ही मूल्य होता है। ऐसे ही धार्मिक खोज में ईश्वर की दासता अथवा ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अनुभूति ही मूल्य होती है और वह ईश्वर अथवा ब्रह्म के सदृश नित्यसिद्ध नहीं है। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म एवं जीव के ब्रह्मभेद को नित्यसिद्ध मानते हैं किन्तु उन्हें भी एक प्रकार का कार्य या साध्य वृत्तिज्ञान स्वीकार करना पड़ता है जो अविद्या-परिहार का हेतु बनता है और यह अविद्या-परिहार ही मुक्ति कही जाती है।[2] इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि सभी मूल्यों में साध्यता होने के कारण क्रियान्वय और विवेच्यता होने के कारण दर्शनान्वय होता है।

यह कहा जा सकता है कि ज्ञान की अज्ञाननिवर्तकता या विषयज्ञापकता कथंचित् व्यापार होते हुए भी कर्म नहीं कही जा सकती और इसलिए ज्ञानसाध्य मूल्यों को कर्मसाध्य मूल्यों से पृथक् करना युक्तियुक्त होगा। उदाहरण के लिये मुक्ति ज्ञानसाध्य है, चितशुद्धि कर्मसाध्य।[3] मुक्ति आत्मस्वरूप होने से नित्यसिद्ध है जबकि चित्तशुद्धि चित्त का एक प्रकार का परि-

---

१ तु० दयाकृष्ण, 'मूल्य और सत्' (शल्य-सं०, समकालीन दार्शनिक समस्याएं); सोशल फिलौसफ़ी पास्ट एण्ड फ़्यूचर (शिमला, १९६९), पृ० २९–३०; तु० यशदेव शल्य, ज्ञान और सत्, दिल्ली १९६७, पृ० १२९–३०।

२ तु० मधुसूदन सरस्वती, अद्वैतसिद्धि (निर्णय सागर, १९३७) पृ० ८८५ प्र०।

३ तु० मण्डन, ब्रह्म-सिद्धि (मद्रास, १९३७), पृ० ३६-३७।

णाम है। किन्तु वास्तव में जन्य ज्ञान की वास्तविकता भी उसमें निहित कारित्र-विशेष के द्वारा ही सिद्ध होती है। ज्ञान का कारित्र अवश्य ही ज्ञेय का उत्पादन नहीं है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान में कारित्र है ही नहीं। ज्ञान का कारित्र है ज्ञाता के लिये ज्ञेय का प्रापण या उपस्थापन एवं ज्ञाता के ज्ञेयविषयक अज्ञान का निर्वतन।[1] उदाहरण के लिये चाक्षुष प्रत्यक्ष में प्रकाश-तरंगों के अभिघात का संकलन कर मस्तिष्क एक चित्र-विशेष उपस्थित करता है, ठीक वैसे ही जैसे एक यन्त्र अपनी सूक्ष्म क्रियाओं से। इसी प्रकार अनुमान में एक क्रियावली प्रदत्त से निष्कर्ष तक हमें पहुँचाती है और इन क्रियाओं को यन्त्रारूढ़ किया जा सकता है और वह यन्त्र भी हमें निष्कर्ष प्रदान करेगा। स्पष्ट ही ज्ञान चाहे वह प्रत्यक्षात्मक हो, चाहे, अनुमानात्मक, वह एक नियतक्रम से विषय-निरूपण रूप फल को उत्पन्न करता है। इसलिये नैयायिक ज्ञान-प्रक्रिया में करण, व्यापार और फल का भेद करते हैं और बौद्ध ज्ञान को विषय का कार्य मानने से ही उसको अव्यभिचारी मानते हैं और अर्थप्रापक होने से ही ज्ञान को प्रामाणिक मानते हैं। यह सही है कि ज्ञान के 'निरूपकत्व'–व्यापार के अतिरिक्त उसका एक साक्षात्कारित्व व्यापार भी है और उसको ज्ञान का अन्तरंग स्वरूप मानने पर ज्ञान को कदाचित् निष्क्रिय मानना उचित होगा। किन्तु यहां भी यह स्मरणीय है कि ज्ञान में क्रिया का आरोप तभी दोषावह होता है जब वह क्रिया विषय के स्वरूप को बदलती हो। किन्तु ज्ञान विषय का 'निरूपक' तभी बन पाता है जब वह उसके रूप के सदृश रूप को ज्ञाता के सामने उत्पन्न करता है। इस प्रकार के 'प्रतिरूप' या उसके स्थानापन्न 'विकल्प' को उपस्थित करते हुए ज्ञान उसका साक्षात्कार भी बनता है। ज्ञान का एक पक्ष बाह्य विषय के आकार को अन्तरंग प्रकार में उपस्थित करता है और उसका दूसरा पक्ष इस अन्तरंग विषय का साक्षात्कार करता है। इस साक्षात्कार में ज्ञान का स्वसंवेदन और विषय-संवेदन अभिन्न रूप से निर्भासित होते हैं और ज्ञान मानों आत्मविस्मृत और अवाक् रूप से विषय को देखता है। ज्ञान-प्रक्रिया की यह अन्तिम मूक अवस्था ज्ञान-साधना की दृष्टि से उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि उसकी वस्तु-प्रतिरूप-कल्पना या विषय-कल्पना जो कि एक प्रगतिशील व्यापार है और अपने दोष-निवारण के द्वारा ज्ञान के आदर्श को पूर्ण करने के लिये उद्दिष्ट है। अथवा यह कहना चाहिए कि ज्ञान का साक्षात्कारित्व रूप उसके नित्योपस्थित स्वसंवेदन का ही विषयाच्छन्न रूप

---

१ तु० दुर्वेकमिश्र का धर्मोत्तर प्रदीप (पटना, १९५५), पृ० १८-१९; प्रमाण और प्रमाण फल के समन्वय पर द्र० मेरा न्यायबिन्दु (जयपुर, १९७२), पृ० ९-१८

है।[1] ज्ञात विषय की यथार्थता की दृष्टि से ज्ञान का महत्त्वपूर्ण व्यापार है विषय-कल्पना न कि कल्पित-साक्षात्कार। ज्ञान के प्रकाशात्मक और विमर्शात्मक पक्षों में विमर्श ही अधिक महत्त्वपूर्ण है और ज्ञान के स्वरूपभूत कारित्र को प्रकट करता है।[2] ज्ञान का क्रिया से इस प्रकार अविनाभाव सिद्ध होता है। जब ज्ञान का विषय आत्मा होती है तो वह ज्ञान आत्मविषयक अज्ञान के साथ उससे उत्पन्न राग, द्वेष, भय आदि की निवृत्ति का और सहानुभूति, करुणा, प्रेम आदि की उत्पत्ति का कारण बनता है। इस प्रकार के भाव-परिवर्तन को ही ज्ञानसाध्य कहा जा सकता है क्योंकि आत्मातिरिक्त विषय के प्रेक्षकवत् अवस्थित ज्ञान में किसी प्रकार का मूल्यबोध सम्पृक्त नहीं होता। जहां तक भाव-परिवर्तन का प्रश्न है वह ज्ञान-साध्य भी है और कर्म-साध्य भी। उसमें साधनकृत भेद गौण है। संक्षेप में यह दुहराना अयुक्त न होगा कि ज्ञान में क्रियान्विति होती है, वस्तु-ज्ञान मूल्य-साधक नहीं है। आत्म-विषयक ज्ञान से जिस मूल्य की सिद्धि होती है, वह साधनान्तर का विषय भी होता है। यह भी कहना उचित होगा कि यदि आत्मज्ञान का अर्थ आत्म-विषयक विकल्प न होकर आत्म-साक्षात्कार लिया जाय तो इस अनुभूति में ज्ञान, भाव एवं क्रिया का भेद करना कठिन होगा। दूसरी ओर, वस्तु का 'विकल्प' ही सम्भव है, 'साक्षात्कार' नहीं। ज्ञान अपने विषय को परिवर्तित नहीं करता किन्तु अपने आश्रय को करता है। आत्मज्ञान में विषय और आश्रय एक हो जाने से ज्ञान की कारकता भी निरतिशय हो जाती है। इसलिये जन्यज्ञान के विसदृश आत्मज्ञान में 'जानना' और 'होना' एक बात है। जिस ज्ञान से व्यक्तित्व बदल जाता है, उसे निष्क्रिय कैसे कहेंगे? दूसरी ओर यह व्यक्तित्व का परिवर्तन जिस ज्ञान से होता है वह कोरा ज्ञानमात्र न होकर समस्त आत्मशक्तियों का एकाग्र अभिज्वलन होता है। यदि ज्ञान तटस्थ है तो वह मूल्य-प्रापक कैसे होगा? यदि वह मूल्य-प्रापक है तो तटस्थ कैसे होगा? जहां तक मूल्य का ज्ञान स्वयं मूल्य-सिद्धि का अंग है, ज्ञान को मूल्य-साधक कहा जा सकता है किन्तु वह आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त साधन नहीं है। ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय से ही मूल्य-सिद्धि होती है और इसलिये मूल्यों का वर्गीकरण ज्ञान और कर्म के आधार पर नहीं किया जा सकता। जैसे व्यवहार में ज्ञान और कर्म समुच्चित होते हैं ऐसे ही साधना में।

---

१ तु० 'सर्वचित्त-चैतानामात्म-संवेदनम्" (न्याय-बिन्दु, १.१०) तुलनीय योगदर्शन का वृत्तिसारूप्य (१.४)।

२ तु० "....प्रकाशप्राणितदेशीयं विमर्शम्...." (अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, निर्णयसागर, १९१८, भाग १, पृ० ४०)।

व्यावहारिक और सात्त्विक

व्यावहारिक और सात्विक साधना में क्या भेद है? परम्परा-प्रचलित प्रयोग के अनुसार 'सात्विक' 'व्यवहार' का ही एक अंग है।[1] प्रस्तुत सन्दर्भ में इन शब्दों का कुछ भिन्न प्रकार से प्रयोग किया गया है। परम्पराभिषिक्त प्रयोग में व्यवहार और परमार्थ का भेद ही मुख्यतया अभीष्ट है। यहां 'व्यवहार' का एक पक्ष अपनी विशिष्टता के कारण एक पृथक् वर्ग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। व्यावहारिक और सात्विक का भेद इस बात पर आश्रित नहीं है कि एक कर्मप्रधान है, दूसरा बुद्धिप्रधान, किन्तु इस बात पर कि व्यवहार में कर्म अहंकारमूलक और भोगावसानिक होता है जब कि सात्विक भूमि में कर्म निजी अहंकार एवं भोग से असम्बद्ध होता है।[2] सात्विक कर्म जिस अहंभाव से प्रेरणा ग्रहण करता है वह सहज कर्ता अथवा भोक्ता नहीं होता। वह न संस्कारविरुढ पराङ्मुखी मनोवृत्तियों का चालक केन्द्र होता है, न संस्कारानुकूल देहादि के विचलन या विकार का संवेदक केन्द्र। वह विषयोद्दिष्ट एष्य-एष्यक-भाव का साक्षी और अपने आदर्श का गवेषी होता है। उससे प्रेरित कर्म 'निस्स्वार्थ' होता है अर्थात् जिस अर्थ अथवा 'फल' का वह कर्म हेतु होता है वह उसके कर्त्ता का प्रातिस्विक भोग्य न होकर सामान्यतया साक्षात्कार्य होता है। इस प्रकार सात्विक-भूमि और व्यावहारिक-भूमि में मूल्य-साधना का भेद एक तो इस पर आश्रित होता है कि सात्विक भूमि में कर्म निःस्वार्थ होता है और दूसरे इस पर कि सात्विक भूमि में मूल्यानुभूति भोगात्मक न होकर साक्षात्कारात्मक होती है। इस भेद के पीछे अहंबोध का स्तर-भेद देखा जा सकता है। व्यवहार में अहंकार की उपाधि सहज देहेन्द्रियादि होती है और यह देहाद्यभिमानी सत्ता ही व्यक्ति-भेदभिन्न जीव या प्राणी है।[3] इस स्तर पर चेतना संस्कारजन्य अहंकार के वश होकर उसके अनुरूप विषय खोजती है। जहां यह आनुरूप्य विवेचित होता है, वहां यह एषणा मूल्यान्वेषण बन जाती है। जैव-सामाजिक मनुष्य के लिये उसके हित की खोज ही व्यावहा-

---

१ सत्त्व को प्रकाशक माना गया है किन्तु सात्विकता ज्ञान, भाव और कर्म तीनों में ही मानी जाती है। 'व्यवहार' का अंग होते हुए भी सत्त्व व्यवहार और परमार्थ का सेतु है।

द्र० गीता, अध्याय १७ एवं १८

२ द्र० ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंस्थाने यथावच्छृणु तान्यपि। गीता १८.१९

३ तु० अभिनवगुप्त, **परमार्थसार** (श्रीनगर १९१६) ५-७

रिक मूल्यों की खोज है। यहां सामाजिकता का अंश जैव अस्तित्व को 'अहंकार' और 'ममत्व' का भाव प्रदान करता है, और उसकी परिधि के अन्दर सहज सम्भावनाओं के विकास के द्वारा व्यावहारिक भूमि की खोज में आदर्श-मान के निर्धारण एवं प्रयोग के द्वारा प्रगतिशीलता और एक कालिक अनन्तता का आधान करता है। अहंकार के प्रति साक्षिभाव के उदय से उसके क्रमशः अति-क्रमण की चेष्टा इस स्तर पर नहीं होती। यह सही है कि अहंकार की व्याप्ति का विस्तार सामाजिक विकास में सतत होता है किन्तु सामुदायिक अहं वैय-क्तिक अहंकार काही 'बृहदंकित' रूप है[1], इसमें कोई संशय नहीं। मनुष्य-मात्र के साथ तादात्म्य का भाव व्यवहार-भूमि में बहुधा आदर्श के रूप में कीर्तित होते हुए भी कभी चरितार्थ नहीं होता क्योंकि वह विशिष्ट और सक्रिय वैयक्तिक एवं सामुदायिक अहंकारों से विरोधित होता है। प्राणी और प्रकृति जिस दुहरे ज्ञान-कर्मात्मक संयोजन से सम्बद्ध हैं उनके नियन्त्रण केन्द्र के रूप में अहंकार का विकास हुआ है और उसका प्रयोजन प्राणी की क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं को इस प्रकार से संगठित करना है जिससे अधिकतम प्रवृत्ति-साफल्य हो सके[2]। सामाजिक परिवेश भी इस सन्दर्भ में दूर तक प्रकृतिवत् भूमिका अदा करता है और व्यक्ति एवं समुदाय के सम्बन्धों का नियन्त्रण भी अहंकार-केन्द्र के द्वारा होता है जिसका व्यापार इस जैव-सामाजिक विकास के द्वारा ही संस्कार-स्थिर बनता है। अहंकार-तत्व में सीमित स्व-अर्थों के लिये असीमित शक्ति की लिप्सा होती है। इसीलिये वह एक प्रकार के विकास के लिये सर्वोत्तम नेतृत्व करता है। मानव-सभ्यता का इतिहास इसका निदर्शन है जिसमें मानव-स्वभाव नहीं बदला किन्तु मानवीय शक्ति, उपकरण, संगठन और भोग निरन्तर तीव्रतर गति से उन्नति करते हैं। व्यावहारिक मूल्यों की साधना उसी भूमि में विस्तृततर होती चली जाती है।

हित और शिव :

अहंकार के अतिक्रमण के प्रयास के साथ ही सात्विक भूमि में

---

१ तु० प्लेटो, जि० १ पृ० ६३१

२ विकास के सन्दर्भ में प्रवृत्ति का लक्षण क्या है इस पर अनेकधा विचार हुआ है। साम्प्रतिक जीव-वैज्ञानिक प्रयोजन का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। बर्गसों 'मैकेनिज्म' और 'फाइनैलिज्म' दोनों का ही निराकरण करते हैं—द्र० **क्रियेटिव ऐवोल्यूशन** (अनु० मिचेल' लन्दन १९२८) पृ० १०७ प्र०। इसके विपरीत श्री अरविन्द विकास को अन्तर्निगूढ का प्रकाश मानते हैं—द्र० **दिव्यजीवन** (अनु० केशवदेव आचार्य) प्रथम भाग, प्रथम अध्याय 'मानव अभीप्सा'।

अधिरोहण होता है । व्यावहारिक स्तर पर ही क्षुद्र अहं को वृहत्तर सामुदायिक अहं के अधीन करने से नैतिकता का उदय होता है किन्तु उसका विशेष विकास सात्विक भूमि पर तब होता है जब क्षुद्र अहं का वृहत्तम अहं के समक्ष पूर्णत्याग करने का संकल्प लिया जाता है । व्यवहार-भूमि में 'स्व' और 'पर' का सादृश्य-बोध उनके सामंजस्य-विधायक सामुदायिक चित्त को प्राण-प्रतिष्ठित करता है और नियम और संयम, प्रतिज्ञा और अनुबन्ध, परस्परोपकारिता और न्याय आदि के द्वारा नैतिक भाव विकसित होता है। स्वार्थ-त्याग से नैतिकता देश-कालादि-निरपेक्ष सार्वभौमिक महाव्रतों में और शुद्ध एवं उदात्त भावों के व्यंजक कर्मों में प्रकट होती है। यह सार्वभौमिक एवं आदर्शपरक नैतिकता जिसका मूल स्रोत निस्स्वार्थ भाव है सात्विक भूमि के अन्तर्गत होती है । यदि व्यावहारिक नैतिकता को हित-परायण कहा जाय, तो सात्विक नैतिकता को शिव-परायण कहा जा सकता है ।

ज्ञान और विज्ञान

व्यवहार में ज्ञान की खोज एक साधन के रूप में होती है और जिस ज्ञान के आधार पर प्रवृत्ति सफल होती है वही अर्थोपयोगी ज्ञान प्रामाणिक स्वीकार किया जाता है।[1] विज्ञान की उन्नति अर्थक्रियाकारित्व या व्यावहारिकत्व को अस्तित्व एवं ज्ञान के प्रामाणिकत्व का लक्षण मान कर ही हुई है। विज्ञान के लिये सत्य के दोनों ही अर्थ व्यवहारसिद्धता में पर्यवसित होते हैं । इसी कसौटी से आध्यात्मिक कल्पनाएं विज्ञान के द्वारा सत्यज्ञान के क्षेत्र से निर्वासित हुई हैं। विज्ञान की मूल विषय-कल्पना है ऐसी वस्तु की जो क्रियात्मक, परतन्त्र और नियत-स्वभाव हो । इस प्रकार के विषय का ज्ञान अथवा विज्ञान प्रवृत्ति के सन्दर्भ में स्वतः उपयोगी हो उठता है। यह निभालनीय है जब तक ज्ञान की खोज अध्यात्म अथवा परमार्थ की ओर उद्दिष्ट रही, विज्ञान का विकास मन्दगति से हुआ। आधुनिक युग में ..ब मनुष्य व्यावहारिक मूल्य की खोज में सर्वोपरि प्रवृत्त हुआ तो विज्ञान की भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। यह अन्वय-व्यतिरेक विज्ञान का व्यवहार से स्वरूपसिद्ध सम्बन्ध स्थूणा-निखननवत् पुष्ट करता है ।

विज्ञान को विषय-ज्ञान का आदर्श रूप कह सकते हैं। वह मन की

---

१ "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्" (**वात्स्यायन भाष्य, न्याय दर्शनम्**, चौखम्भा, १९४२ पृ० २१); तु० मेरा लेख 'कोन्सेप्ट ऑव प्रमाण इन फिलौसफी', **विश्वभारती जर्नल आव फिलौसफी** १९६६ ।

परागवृत्ति का व्यापार है और मनस्तत्व की अधोवर्ती उपाधियों में ही उसका उपयोग सम्भव है। इसीलिये आधुनिक मनोविज्ञान जब प्रगति करता है तो एक प्रकार का शरीर-विज्ञान अथवा बाह्य व्यवहार-विज्ञान बन जाता है। किन्तु ज्ञान में स्वसंवेदन का अंश अनिवार्यतया, मनोवैज्ञानिकों के खण्डन के बावजूद, विद्यमान रहता है और उसमें चेतना की प्रत्यग्वृत्ति, अन्तर्मुखता झलकती है। इसी झलक में आत्मबोध का भी लेश विद्यमान रहता है। विषय-विज्ञान एवं आत्मज्ञान रूपी चेतना के दोनों तटों तक अवगाहन करने वाली शक्ति मनुष्य की विवेक-शक्ति है। विषय-विज्ञान विकल्पात्मक होता है किन्तु मूल्यात्मक न होकर तटस्थ होता है, आत्मज्ञान मूल्यात्मक होता है किन्तु निर्विकल्पक होता है। विवेक मूल्यात्मक भी होता है और सविकल्पक भी। जैसा पहले कहा जा चुका है, विवेक विषय को आत्मबोध के आनुरूप्य की कसौटी से तौलता है और आत्मबोध को अपने अव्यक्त आदर्श आत्मज्ञान की कसौटी से। इसीलिए जहां विषय-विज्ञान साहंकार आत्मबोध को मानकर चलता है बल्कि अहं को भी एक विषय ही मानना चाहता है और इस प्रकार विषय-विषयि-सम्बन्ध को विषयों के ही एक विशिष्ट पारस्परिक सम्बन्ध में घटा देता है और अहं की प्राणभूत चित्-जड़-ग्रन्थि में केवल जड़-पक्ष देखता है, विवेक अहंकार का स्वानुभूति के सन्दर्भ में ही विश्लेषण करता है और उसमें गहरे पैठना चाहता है। फलतः जहां विज्ञान व्यवहारभूमि से सम्पृक्त रहता है, विवेक का विकास सात्त्विक भूमि के ही अन्दर सम्भव है। विज्ञान अहंकार के जीवन की पूर्ति का साधन रहता है, जबकि विवेक अहंकार के अतिक्रमण की प्रक्रिया बनती है।

यहां पर विज्ञान के दो पक्षों में विवेक आवश्यक है जिन्हें प्रायः 'विशुद्ध विज्ञान' और 'प्रयुक्त विज्ञान' कहते हैं। एक ओर विज्ञान एक संस्थाबद्ध सामाजिक चेष्टा है जो व्यावहारिक मूल्यों की खोज से सम्बद्ध है।[1] दूसरी ओर विज्ञान ज्ञानाभिमानी है और स्वयं एक मूल्य है। इस रूप में विज्ञान की खोज में सत्य और असत्य का विवेक आवश्यक रूप से अन्तर्निहित है और वैज्ञानिक पर्येषणा सत्यपरक विवेक के विकास की एक दिशा है और सात्त्विक भूमि में ही उसका स्थान माना जाना चाहिए। आग्रह-शून्य सत्यैकप्रतिशरण, तत्त्वमात्र की अनन्त जिज्ञासा जिसमें सभी विज्ञान और

---

१ विज्ञान का यह पक्ष विज्ञान के इतिहास में स्पष्टतया देखा जा सकता है, उदाहरण के लिए द्रष्टव्य, बर्नल, **साइन्स इन हिस्टरी**; नीडहैम, **साइन्स एन्ड सिविलिजेशन इन चाइना**; जगजीतसिंह, **मैथेमैटिकल आइडियाज**।

विवेक, विद्याएं और दर्शन अपने शुद्ध और आदर्शरूप में अन्तर्भूत हैं, सात्विक भूमि का एक प्रमुख आयाम है जिसे सत्यपरायण कह सकते हैं।

विज्ञान अपने विषय की ओर तटस्थ होता है, फलतः वह विषयोल्लेखितया मूल्यसंहित नहीं होता। इसमें मूल्य-संयोग दो प्रकार से होता है। एक ओर जहां तक उसमें प्रयोज्यताजनित उपयोगिता होती है वह व्यावहारिक मूल्य से युक्त होता है। दूसरी ओर विज्ञानगत सत्यत्व का बोध सात्विक भूमि के मूल्य का बोध होता है। अपने प्रयुक्त रूप में विज्ञान व्यावहारिक मूल्यानुसन्धान है, अपने विशुद्ध सत्यानुसन्धान के रूप में विज्ञान सात्विक भूमि में आस्थित है। अरस्तू ने ज्ञान के विषय को ज्ञान के ऊपर बताया था क्योंकि उनकी धारणा थी कि विषय ही ज्ञान के लिये आदर्शवत् और नियामक होता है किन्तु विज्ञान के विषय में बात उल्टी लगती है। विज्ञान का विषय वे प्राकृतिक क्रियाएँ हैं जो व्यवहार में साधक-बाधक रूप से उपस्थित होती हैं। उनकी हेतु-समष्टि वे नियमाव्यभिचारिताएं या धर्मताएं हैं जो विज्ञान में विकल्पित होती हैं और इन विकल्पों में ही सत्यासत्य विशेषण होते हैं और ये ज्ञानगत धर्म ही मूल्यायामिक होते हैं। इस प्रकार मूल्य और तज्जन्य श्रेष्ठता विज्ञान के प्राकृतिक विषय में न होकर स्वयं उसमें हैं।

सौन्दर्य :

सात्त्विक भूमि का तीसरा क्षेत्र सौन्दर्य की साधना है। काव्य और कला के सृजन एवं आस्वादन में अहंकार का साधारणीकरण और कल्पना या प्रतिभा का एक सार्वभौमिक सिद्धि के लिये उद्दिष्ट होना सुविदित है। रचयिता और श्रोता स्वयं अपने अहं के द्रष्टा बनते हैं और निजी कर्तव्य एवं अहंकार की संकीर्णता से मुक्त होकर एक सार्वभौमिक मूल्य-विश्व में विचरण करते हैं। व्यवहार में जो अहंकार और भोग होते हैं वे ही साहित्य में विषयतया उपदर्शित होकर एक मूल्यानुभूति के आभ्यन्तरिक आस्वाद्य और आलोच्य तत्त्व बन जाते हैं। जैसे विज्ञान उस कार्य-कारण-कलाप का अध्ययन करता है जो व्यवहार में भी साधक-बाधकतया अनुभूत होता है और अतएव स्वयं व्यवहारोपयोगी बन जाता है, किन्तु तो भी वह (विज्ञान) अपनी अनन्त सत्य-जिज्ञासा के अनुरोध से एक व्यवहारोत्तीर्ण मूल्यपर्येषणा को जन्म देता है इस प्रकार एक ओर व्यवहार से सम्बद्ध एवं दूसरी ओर स्वायत्त रहता है, इसीप्रकार काव्य-कलानुसन्धान पर्येषणात्मक व्यवहार-जगत् को उपदर्शित कर एक ओर उसके प्राकृतिक, मानवीय और सामाजिक यथार्थ से सम्बद्ध रहता है, दूसरी ओर उसमें निहित आदर्शों, चरित्रों और

अनुभूतियों के भाव्य अर्थ को खोजने में एक अलौकिक मूल्य-विश्व की सृष्टि करता है। सभी रूप, अनुभूतियां और खोज कलात्मक विश्व के उपादान बनते हैं। ये सभी उपादान मूल्यसम्पृक्त रूप में ही कलोपयोगी होते हैं। कला मानों विभिन्न मूल्येष्टकाओं से अपना प्रासाद बनाती है जो स्वयं अपनी समग्रता में एक अपूर्व मूल्य का सन्धान देती है। इस प्रकार कलात्मक मूल्य अन्य मूल्यों पर आश्रित, मानों द्वितीयस्तरिक मूल्य है।[1] कलात्मक अनुसन्धान अन्य मूल्यों को विषय बनाता हुआ उनके द्वारा एक अपूर्व मूल्य, अन्य मूल्यों का मूल्य या 'रस' खोजता है।

यह भी अवधेय है कि कला-क्षेत्र में मूल्यों की सांकेतिक अभिव्यक्ति का स्थान इतना महत्वपूर्ण होता है कि अभिव्यक्ति का कौशल स्वयं एक विशेष मूल्य बन जाता है, यहां तक कि अनेक विचारक कलात्मक मूल्यों को अभिव्यक्ति-कौशल ही बताते हैं। वस्तुतः इसकी समानान्तर स्थिति अनेक क्षेत्रों में प्राप्त होती है जहां साध्य और साधन का सम्बन्ध विस्मृत हो जाता है। उदाहरण के लिये धन उपभोग का साधन है, उत्पादन वितरण का; किन्तु बहुधा धन का उत्पादन और संग्रह स्वयं साध्यवत् महत्वपूर्ण हो जाते हैं। यदि कला रसानुभूति से अनुविद्ध कल्पना है तो उसकी सांकेतिक अभिव्यक्ति उसका सहायक एवं अनुपूरक साधन है। यदि कल्पना को ही अभिव्यक्ति माना जाय और उसके साथ व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध को धर्मी और उसके विशेष धर्म के समान सहावस्थिति-सम्बन्ध मान लिया जाय, तो बात दूसरी है।

मूल्य : स्वायत्त विश्व

सात्विक मूल्य व्यवहार से सम्बद्ध होते हुए भी स्वायत्त होते हैं। अहंकार, कर्म और भोग से परिभाषित व्यावहारिक जीवन जिस प्राकृतिक-सामाजिक विश्व के सन्दर्भ में विरूढ होता है उसी प्राकृतिक-सामाजिक यथार्थ में सात्विक मूल्य अपना द्रव्यसत्तात्मक उपष्टम्भ उपलब्ध करते हैं। उदाहरण के लिये विश्व-प्रेम को चरितार्थ करने के लिये वास्तविक अन्य व्यक्तियों का समाज अपेक्षित है, वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिये न केवल वस्तु-जगत् चाहिए अपितु ऐसा समाज चाहिए जिसमें विज्ञान की खोज संस्थाबद्ध होकर, अपनी उपयोगिता के द्वारा आर्थिक समर्थन प्राप्त कर, एक प्रगतिशील और निर्वैयक्तिक परम्परा के रूप में विकसित हो सके। वैज्ञानिक और कलाकार अपने व्यावहारिक जीवन के निर्वाह के प्रसंग में, धन, कीर्ति, आदि की

---

१ तु० नि० हार्टमान, पूर्वोद्धृत, जि० २, पृ० ४०३ प्र०

खोज में भौतिक उपादानों की सहायता से अपनी अपनी विशिष्ट खोज में भी प्रवृत्त होते हैं, किन्तु उसके साथ ही वे विलक्षण मूल्य-विश्वों में प्रवेश करते हैं। एक ओर उनके चरण व्यावहारिक धरातल पर होते हैं, दूसरी ओर वे जिस सार्थकता के सूत्र के अनुसार अनुभूति के विशिष्ट पुनर्व्यवस्थापन के द्वारा नया विश्व कल्पित करते हैं उसके अपने ही घटक, तत्व और सम्बन्ध के नियम होते हैं। इन मूल्य-विश्वों की अपनी निराली मूल कल्पनाएं और संगतियां होती हैं जिनसे उनकी विषय-रचना और विषय-सम्बन्ध सम्पादित होते हैं।[1] इस प्रकार ये मूल्य-विश्व व्यवहार पर अपनी सत्ता के लिये आश्रित होते हुए भी अपनी अर्थ-क्रिया की परिभाषा, विषय-कल्पना, और संगति-सूत्र में विभिन्न और स्वायत्त होते हैं। जिस प्रकार की सार्थकता उनका ध्रुव केन्द्र होती है उसी के अनुरूप उनके विषय और साध्य-साधन-भाव होते हैं और प्रत्येक मूल्य-विश्व एक मौलिक मूल्य-कल्पना का स्वाराज्य समझा जा सकता है। उसकी आत्मसाधक क्रिया जो कि उसके अन्तर्गत होती है, व्यक्तित्व-प्रतिसंयुक्त अहंकार से उत्पन्न न होकर विवेक-प्रधान बुद्धि एवं भाव-प्रधान प्राण से निःसृत होती है। यह अन्तरंग, चैतसिक क्रिया तत्तत् मूल्य के अनुरूप ज्ञान, भाव, कल्पना आदि के व्यापार के रूप में मूल्य-साधन निष्पन्न करती है। इसका बहिरंग कार्यकारण भाव से विवेक करना आवश्यक है। 'प्रेम करना', 'प्रमाणित करना', 'उपमित करना', ये सब व्यापार विशिष्ट मूल्य-विश्वों के अन्तर्गत व्यापार हैं और उनकी स्वरूपगत धर्मताओं के प्रकाश हैं। यही कारण है कि जब भौतिकवादी व्याख्या सांस्कृतिक चेतना को सामाजिक सत्ता से नियंत्रित बताती है तो वह अन्ततः सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के सामाजिक अस्तित्व, प्रचलन, प्रेरणा और प्रभाव की ही चर्चा तक सार्थक हो पाती है, वह उन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के विशिष्ट अन्तरंग सार का बाह्य कारणों से व्यवस्थापन नहीं सिद्ध कर पाती। शेक्सपीयर की कल्पना का वैशेष्य न उसके समाज या वर्ग से, न उसके वैयक्तिक मनोविज्ञान से (यदि वह उपलब्ध होता), न गणनात्मक शैली-विज्ञान से बुद्धिगम्य हो सकता है। उसका बोध शेक्सपीयर-रचित विश्व की संरचनाओं के आन्तरिक स्वाराज्य के उस बोध से अविलग रहता है जिसको समझना एक मूल्य-विश्व की आन्तरालिक संगति समझना है।

यथार्थ का आदर्शीकरण :

सात्विक मूल्य भोगात्मक नहीं होते प्रत्युत बोधात्मक होते हैं। वे

---

१ तु० शल्य, संस्कृति, मानव कर्तृत्व की व्याख्या, (जयपुर १९६९), पृ० १० प्र०।

व्यवहार्य मूल्यों को, जैसे कर्मानुकूलता, उपयोगिता या भोग को, मानो एक पारदर्शी कांच के द्वारा उपदर्शित करते हैं और उनके ये व्यावहारिक यथार्थ से उद्गृहीत रूप उनके तात्त्विक आदर्श स्वरूपों को आक्षिप्त करते हैं और द्रष्टा के मर्म में एक अपूर्व अनुभूति और प्रेरणा को जगाते हैं। उदाहरण के लिये विशुद्ध नैतिकता या कर्मसाधना में सेवा, उपकार आदि कर्मों का आदर्श रूप चेतना में प्रतिबिम्बित और भावित होता है। जो कर्म व्यवहार में केवल कारकतया ही प्रासंगिक होते हैं, वे इस स्तर पर विशुद्ध भावात्मक आदर्श के अभिव्यंजक संकेत बन जाते हैं। व्यवहार में घटनाओं और वस्तुओं की जो उपकारकता और विधायकता उनकी उपादेयता और हेयता के हेतु बनती हैं, वे ही अपने विज्ञानोपदर्शित रूप में तत्त्वों की एक आदर्श-व्यवस्था या धर्मता के दृष्टान्त बन जाती हैं। साहित्य और कला में यथार्थ की अनुकृति उससे गम्भीरतर आदर्श के संकेत-प्रतीक के रूप में परिवर्तित होती है।[1] भोग एक नितान्त स्वगतता के गर्त में बन्दी रहता है। सात्त्विक प्रख्या का उदय इस कारा की दीवारों को पारदर्शी बना देता है।

व्यावहारिक मूल्यों की खोज अन्त तक एक शारीरिक अपेक्षा की स्थिति पर निर्भर करती है और इसीलिये उन मूल्यों की उपलब्धि एक तात्कालिक 'घटती उपयोगिता' के नियम का अनुसरण करती है। साक्षात् भोग तात्कालिक तृप्ति, अरुचि तक उत्पन्न करते हैं। और फिर भोग एवं उनके साधनों की उपलब्धि भोक्ता के स्वभाव में स्वतः कोई मौलिक परिवर्तन नहीं लाती, यद्यपि इस कथन की सत्यता को अनेक अवच्छेदों से सीमित करना पड़ेगा। इसके विपरीत सात्विक मूल्य किसी पूर्ववर्ती अपेक्षा या दुःखानुभूति पर निर्भर नहीं करते। न वे शारीरिक स्थिति पर स्वरूपतः निर्भर हैं। बेटहोफेन ने बहरे होने पर भी संगीत रचना की। सात्विक मूल्य स्वरूपतया बुद्धिसाध्य हैं और उनका साधन मनुष्य के अन्तस् में एक नया चमत्कार और आलोक भरता है। यह आलोक किसी अपेक्षा की पूर्ति न कर एक प्रकार का उपशम प्रदान करता है। धर्मता के आलोक में सब भावों का अभिसमय, वस्तुओं का उनके नियत स्वभाव के अनुसार, सब स्पीशी इटर्निटाटिस, निरीक्षण मानव मन की क्षुद्र प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं को शान्त कर, उदात्त भावों को प्रबुद्ध करता है। जहां भोग उत्तेजना और श्रान्ति, विस्मृति और मोह को जन्म देते हैं, सात्विक प्रकाश शान्ति और

---

१ भाषा और कला की प्रतीकात्मता के लिए विशेष रूप से द्रष्टव्य कासीरर, फिलौसोफी ऑव सिम्बौलिक फोर्म्स, ३ जि०।

विश्रान्ति,[1] प्रबोध और प्रतिबोध[2] को जन्म देते हैं। व्यावहारिक मूल्यों की साधना में मनुष्य की एक बढ़ती दासता छिपी रहती है, जिसे समझने पर उनका मूल्यत्व ही क्षतविक्षत हो जाता है और मनुष्य व्यावहारिक स्तर के परे मूल्यान्वेषण में प्रवृत्त होता है। इसका कारण है कर्म और भोग, दोनों की अहंकार-सापेक्ष संस्कार-मूलकता और संस्कार-जनकता। इसके विपरीत सात्विक साधना का चेतना पर बन्धन विवेक की प्रेरणा से अभिन्न होता है और चेतना को एक अपूर्वयामिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

सात्विक मूल्य आदर्शात्मक होते हैं जबकि व्यावहारिक मूल्य सांवेदनिक होते हैं। किसी भी प्रकार की जैविक, आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक उपलब्धि अन्ततः भौतिक अथवा मानवीय विषयों के ऐन्द्रिय संवेदन पर आधारित होती है और इन संवेदनों की अनुकूलता और प्रतिकूलता, एक अनुभूत उपयोगिता, पर ही उनका व्यावहारिक मूल्यांकन किया जाता है। इन मूल्यों में सामाजिकता और विकासशीलता होते हुए भी वे विशिष्ट अनुभूतियों और उनके संस्कारों से अलग नहीं किये जा सकते। आदर्श अनुभूति के अन्तराल से निर्भासित बुद्धिगम्य विषय मान होते हैं। उनकी अवगति तब तक सम्भव नहीं होती जब तक अनुभूति की ओर भोक्ता की आसक्ति के स्थान पर द्रष्टा का भाव उदित न हो। आदर्श की साधना किसी वस्तु का निर्माण कर वस्तु-जगत् के किसी अभाव को पूरा करने की ओर उद्दिष्ट नहीं है, वह बुद्धि-निहित सम्भावनाओं को अन्तस्थ मान के अनुसार चरितार्थ करने की प्रवृत्ति है।

बुद्धितत्त्व :

बुद्धि को 'भास्वरम् आकाशकल्पम्' कहा गया है।[3] उसकी भास्वरता इस बात में है कि वह अपने मान स्वयं प्रस्तुत करती है और उनसे विषयों को जांचती और आंकती है, वह विषय-संवेदनों में अपना प्रकाश और दिशा नहीं खोजती। बुद्धि की आकाश-कल्पता उसकी अपनी स्वच्छता या पारदर्शिता और व्यापकता या विभुता सूचित करती है। एक ओर बुद्धि आन्तरिक करण है और उसका व्यापार सर्वविषयक है किन्तु उसका केन्द्र एक द्रष्टृ-भाव है जिसके कारण उसमें एक आदर्शोन्मुख स्वालोचन या आत्मविमर्श रहता है

१ बौद्ध परमार्थ को शान्त कहते हैं, शैव आत्मविश्रान्ति।

२ केनोपनिषद्–'प्रतिबोधविदित'

३ "बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं" (योगभाष्य, सूत्र, १.३६)।

और उसका करण-व्यापार या क्रियात्मक पक्ष एक विशिष्ट अहं से प्रेरित न होकर सार्वभौम नियतता या अनिवार्यता से युक्त प्रतीत होता है। प्राकृतिक शक्ति रूप होते हुए भी बुद्धि में चिच्छायापत्ति या चैतन्याभिव्यक्ति जिस आत्मबोध को आहित करती है वह बुद्धि की औपाधिक शुद्धता या आपेक्षिक अनावरणता के कारण द्रष्टृभाव के आसन्न होता है। बुद्धि और बोद्धा, द्रष्टा और दर्शन-शक्ति युगनद्ध रूप में ही अनुभव-गोचर होते हैं। उनका यह एकीभाव ही अस्मिता या अहंप्रत्यय है[1] किन्तु बुद्धि के स्तर पर यह अहं प्रतीति अपने यथोपस्थित आलम्बन से सन्तुष्ट न होकर अपने आपको एक आदर्श आत्मबोध में ढालना चाहती है क्योंकि बुद्धि इन्द्रियादि के द्वारा उपस्थित अपने विषयमात्र की तात्कालिक स्फूर्ति से सन्तुष्ट न होकर उसे एक आदर्श स्वरूप की कल्पना के द्वारा, धर्मता में प्रतिष्ठित एक तात्विक रूप में समझना चाहती है। तात्कालिक और आदर्श, अनित्य और नित्य, प्रतिभास और स्वरूप, इनके बीच विवेक की बुद्धि का मौलिक व्यापार है। क्रिया, ज्ञान, और भाव, अनुभव के इन तीनों ही आयामों पर[2] विवेक प्रयुक्त होता है। ज्ञान और भाव के विषयों में सत् और असत् का विवेक बुद्धि का प्रकाश है किन्तु जब यह प्रकाश अल्प होता है अर्थात् जब यह विशिष्ट अहंकार की अपेक्षा-छाया से शवलित रहता है तो अनुभूति व्यावहारिक स्तर की होती है जहां प्रवृत्ति प्रधान और विवेक गौण होता है किन्तु जब यह त्रैयायामिक अनुभूति बुद्धिस्तरीय होती है तो अहंकार में एक सार्वभौम द्रष्टा का भाव उदित होता है और क्रिया, ज्ञान एवं भाव अपने आश्रय और विषय के विवेचन से सात्विक विकास प्राप्त करते हैं। क्रिया-विवेक से सत्संकल्प, ज्ञान-विवेक से सत्याध्यवसाय एवं भाव-विवेक से रसास्वादन की निष्पत्ति होती है।

अन्त करण को अलग अलग असम्बद्ध शक्तियों और व्यापारों का

---

१ "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता" (योगसूत्र २.६)।

२ यह त्रैत प्रचलित मनोविज्ञान के अनुसार है। प्राचीन त्रैत इच्छा, ज्ञान और क्रिया का था, उदा० "इच्छा-ज्ञान-क्रिया-पूर्वा यस्मात्सर्वाः प्रवृत्तयः" (उद्धृत, **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** जि० १, पृ० ४३ पा० टि०। कान्ट ने ज्ञान, इच्छा और सुख-दुःख-वेदना को तीन मूल शक्तियाँ बताया है (कासीरर, **कमेन्टरी ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑव जजमेंन्ट**, पृ० १२४-२५)। प्राचीन बौद्ध स्कन्ध-विभाजन में भी विज्ञान और संज्ञा के अतिरिक्त वेदना और संस्कार समानान्तर थे।

समुच्चय मानना एक वैश्लेषणिक भ्रान्ति है। विषय का ज्ञान, उसकी हानोपादेयता का भाव और तदनुकूल प्रतिक्रियात्मक कर्म, यह चेतना की त्रिपुटी उसकी मौलिक संरचना सूचित करती है। व्याघ्र को देखना, भय खाना और दौड़ना, ये तीनों ही एक चेतना-प्रक्रिया के क्षण हैं। इस प्रकार की निरन्तर त्रिपुटित चेतना ही चैतसिक स्तर-विकास का आधार बनती है। विवेक का विकास चेतना के तीनों आयामों को रूपान्तरित करता है और यह रूपान्तरित त्रैयायामिक चेतना ही जीवन्त बुद्धि है। बुद्धि के अनेकधा विभिन्न व्यापार उसकी मौलिक एकता से अन्वित रहते हैं। बुद्धि के स्वरूप और संरचना का विवेचन, उसके नियमों, व्यापारों और सीमाओं का अनुसन्धान कान्ट ने विशेष गम्भीरता और व्यापकता के साथ किया है। कान्ट के अनुसार बुद्धि का मुख्य व्यापार स्वतन्त्रतया नियम-विधान है और इन नियमों के आधार पर ही निर्णय सम्भव है। निर्णय के कान्ट ने तीन विभिन्न क्षेत्र बताए हैं— विकल्पात्मक, संकल्पात्मक और आस्वादात्मक। विकल्पात्मक निर्णय ज्ञान देता है किन्तु उस ज्ञान की विषयता प्रत्यक्ष-नियत होती है और उससे निरूपित विषय देश, काल एवं कारणता आदि के नियमों से परतन्त्र होते हैं। देश-काल आदि की कल्पनाएं कान्ट के लिये ज्ञान की तात्विक पूर्वावश्यकताएं हैं किन्तु इस प्रकार के ज्ञान की प्रामाणिकता परमार्थ सत् से असम्बद्ध, केवल प्रतिभासविषयक होती है ।[1] इसका कारण है कि ज्ञान को बुद्धि से केवल नियम मिलते हैं जो ज्ञान को अनिवार्यता प्रदान करते है, न कि विषय-वस्तु जो उसको व्यवहार्यता प्रदान करती है। कान्ट के अनुसार ज्ञानीय विषय-वस्तु केवल इन्द्रियों के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है। स्वरूपतः बुद्धि इस प्रकार की विषयगत सीमा को स्वीकार न कर अशेष और अनन्त के ज्ञान को चाहती है। विकल्प-ज्ञानीय विषयता और बुद्धि-ज्ञानीय विषयता में इस प्रकार अन्तर पड़ जाता है। इस अन्तर के द्वारा कान्ट ने प्रमाणतः असाध्य श्रद्धेय के लिये स्थान बनाने का प्रयत्न किया था[2] किन्तु इसका परिणाम यह है कि ज्ञान-क्षेत्रीय बौद्धिक मूल्य—सत्य—के अनुसन्धान में यथार्थ और आदर्श के अन्तराल की खाई अपूरणीय

---

१ तु० श्मित, दी द्राइ क्रितिकेन (श्तुतगार्त, १६६६), पृ० १३३।
क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न (एवरीमैन्स), पृ० १११, ३३८-४१, क्या कान्ट के परमार्थ सत् में कारणता का सर्वथा अभाव है ? द्र० यूइंग, ए **शार्ट कमेन्ट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑव प्योर रीजन**(लंदन, १६३८), पृ० १६०, पादटिप्पणी २, कान्ट में 'प्रतिभास' (फेनोमेना) के अर्थ पर द्रष्टव्य, बार्कर का लेख 'कान्ट में प्रतीति और प्रतिभास' बैक सं० **'कान्ट स्टडीज टुडे'** इलिनोइस १६६६, पृ० २७४-६०

२ द्र० **क्रिटीक ऑव प्योर रीजन**, द्वितीय संस्करण की भूमिका।

बन जाती है। एक ओर अर्थ-परिच्छेदक विकल्प या मानवीय ज्ञान का यथार्थ्य ऐन्द्रिय प्रतिभास को परिधि का उलंघन नहीं कर सकता, दूसरी ओर समग्र अथवा अनन्त की अभिलाषिणी बुद्धि का आदर्श अपने अनुकूल विषय-वस्तु से सदा वंचित रहता है। बुद्धि ज्ञान का आदर्श, नियम और विषयता की घटक कल्पनाएं प्रस्तुत करती है किन्तु वस्तु को केवल इन्द्रियां ही प्रस्तुत कर सकती हैं। क्या परमार्थसत् विशुद्ध भौतिक सत्ता है? या, मानस की इन्द्रियपरतन्त्रतापूर्वक बुद्धि-प्रदत्त अनिवार्य नियम? वस्तुतः ज्ञान की इन्द्रियातीत विषयता की कल्पना में कोई व्याघात नहीं है।[1] कान्ट ने अमर्यादित कल्पनाओं के जो द्वन्द्वात्मक व्याघात प्रस्तुत किये हैं उनका परिहार ज्ञान की अनिवार्य इन्द्रियमूलकता के स्वीकार से नहीं हैं अपितु ज्ञान की द्वन्द्वात्मकता के स्वीकार से है। हेगल में परमार्थ और ज्ञान के सम्बन्ध का पूर्णतर विश्लेषण मिलता है।[2] कान्ट की ज्ञान-मीमांसा ज्ञान-प्रक्रिया में प्रयुक्त उन कल्पनाओं के स्थान-निर्देश से गतार्थ हो जाती है जिनके समारोप से प्रतिभास की विषयता सिद्ध होती है। इस प्रक्रिया की आधारभूत वास्तविकताओं की तत्वमीमांसा का कान्ट ने प्रयत्न नहीं किया है, क्योंकि उनके मत से परमार्थसत्–नाऊमेना–परिभाषया कल्पनातीत होने के कारण ज्ञानातीत भी है।[3]

तथापि कान्ट यह मानते हैं कि संकल्प में मनुष्य परमार्थ का सन्धान पाता है।[4] इच्छा, भावना, प्रवृत्ति, विकल्प आदि मनुष्य की आत्मा के प्रतिभास हैं, उनके पीछे पारमार्थिक आत्मा का बोध सत्संकल्प में मिलता है। सत्संकल्प की निरपेक्ष विधिरूपता उसके आत्म-मूलक प्रामाण्य को सूचित करती है। बुद्धि या विवेक का ही व्यावहारिक या कर्तव्यज्ञापक रूप संकल्प है और वह अपने प्रतिभासोत्तीर्ण मूल के कारण स्वातन्त्र्य की उपलब्धि-रूप है। इस प्रकार स्वतन्त्रता अप्रत्यक्ष-विषय होकर सावकाश होती है। विधि की अहेतुकता, जिसमें कोई शर्त या अन्य प्रयोजन नहीं है, अनन्यार्थता, उसे

---

१ तु० पौल वोल्फ़ सं०, कान्ट (मैकमिलन, १९६८), पृ० १५८।

२ तु० हेगल, **एन्सिक्लोपेदी**, पृ० ९९; **लौजिक** (अनु० वौलेस), पृ० ३५३–५५।

३ केयर्ड ने **क्रिटिकल फिलौसफ़ी ऑव कान्ट** (२ जि०), में कान्ट की प्रथम मीमांसा के तृतीय अध्याय के मत की पर्याप्त आलोचना की है।

४ कान्ट, **फाउन्डेशन्स ऑव दि मैटाफ़िज़िक्स ऑव मौरल्स**, (अनु० बैक, शिकागो, १९५५) पृ० xi, १०५–७; **क्रिटीक ऑव प्रेक्टिकल रीज़न** (अनु० बैक, शिकागो, १९४९), पृ० २०३।

सत्य-ज्ञान से तुलनीय अनिवार्यता और सार्वभौमता प्रदान करती है। यहां संकल्प की प्रामाणिकता केवल आकारिक है और इस आकार—निरपेक्ष विधिरूपता—को ही पारमार्थिक कहा जा सकता है। संकल्प की विषय-वस्तु या विधेय एष्य-कोटि से बहिर्भूत नहीं होता। ज्ञान के क्षेत्र में बुद्धि प्रतिभास के विषयतया अवधारण के लिये मूल विकल्प देती है, आचार के क्षेत्र में वह परमार्थ के संकल्पन को विधिरूपता देती है। बुद्धि-संगत संकल्प का विषय आदर्श अथवा कर्तव्य के रूप में व्यक्त होता है। इस प्रकार के संकल्प का लक्षण तद्गत विधि की निरपेक्षता या अहेतुकता है। अभीष्ट मात्र के संकल्प में यह लक्षण नहीं मिलता। जहां विकल्प प्रतिभास-विषयक होने से व्यवहार-साधक किन्तु 'शुद्ध' बुद्धि के लिये अपर्याप्त ज्ञान देता है, संकल्प प्रतिभास से असंस्पृष्ट परमार्थ की कर्तव्यता या साध्यता के आकारमात्र से सूचना देता है। इस प्रकार की सूचना—या शुद्ध लक्षण—आचार के व्यावहारिक संशयों को कैसे दूर करेगी और स्वयं अपने अन्दर से कर्तव्य या साध्य का स्वरूप कैसे स्पष्ट करेगी? कान्ट की 'शुद्ध बुद्धि' का उपयोग व्यवहार में सिद्ध होता है, उसकी 'व्यावहारिक बुद्धि' का उपयोग शुद्ध लक्षण-विचार में।

आस्वाद-मीमांसा में कान्ट सौन्दर्य की अनुभूति का वैलक्षण्य प्रतिपादित करते हैं। सौन्दर्यानुभूति में प्रियता का भाव अनासक्तिपूर्वक होता है, विषय विकल्पों से अनवधारित, कल्पना की स्वच्छन्दता का प्रकाशक और एक सार्थकता का व्यंजक होता है।[1] इस प्रकार का आस्वाद विषयि-निष्ठ होते हुए भी वैयक्तिक नहीं होता, वह सर्वसाधारण विषय-स्वरूप पर आधारित होने के कारण पर-प्रत्याय्य,[2] परत्र संक्राम्य होता है। एक ओर वह प्रतिविशिष्ट होता है, दूसरी ओर व्यंग्यतया सार्वभौम। मनुष्य की सुख-दुःख के अनुभव की शक्ति—वेदना या भावना शक्ति—बुद्धि अथवा विवेक से अनुप्रविष्ट होकर कलास्वाद में रूपान्तरित होती है। कान्ट का आस्वाद-विवेचन आस्वाद्यता का मूल तत्त्व सार्थकता या सप्रयोजनता के आभास में पाता है। इस निरपेक्ष सार्थकता या मूल्यत्व को वस्तुतः विषय-निष्ठ सिद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु प्रकृति को बुद्धिगम्य करने के लिये उसकी कल्पना आवश्यक मानी जा सकती है।[3]

---

१ कान्ट, क्रिटीक ऑव जजमैन्ट, (अनु० बर्नर्ड, लन्दन १९३१) पृ० ४६-४८, ५५-५७, ६९-७०)।

२ अभिनवगुप्त की पदावली में, 'उपास्येय'

३ तु० एच० डब्लू०, कासिरेर, ए कमेन्ट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑव जजमैन्ट (लन्दन, १९३८), पृ० १३१ प्र०।

फलतः ज्ञान के क्षेत्र में बुद्धि की विश्लेषण–गम्य स्वतन्त्रता केवल नियम विधान में रहती है, वस्तु-विधान में नहीं। यहां वस्तु-स्वरूप अविदित रहता है, ज्ञान केवल आकारतः बौद्धिक होता है। आचार के क्षेत्र में बुद्धि को अपनी स्वतन्त्रता का क्रियात्मक बोध होता है और उसका नियम-विधान पारमार्थिक स्वरूप पर आश्रित रहता है। किन्तु यह विधान आकारिक होता है और साध्य को आदर्शमात्र अथवा कर्तव्यमात्र के रूप में प्रस्तुत करता है। आस्वाद के क्षेत्र में बुद्धि विषयान्तराल में उसकी आरोपित अर्थवत्ता के मूल में अपने स्वरूप को कल्पित करती है। कान्ट के तीन विवेचन मानों बुद्धि की अपने स्वरूप की खोज है जो तभी विरत होती है जब बुद्धि विषय को स्वनिर्मित मानने की कल्पना करती है। हेगेल ने यह स्पष्ट किया है कि बुद्धि की अपनी खोज और परमार्थ की खोज में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि बुद्धि के विकल्प ही वस्तुओं के तत्त्व हैं।[1] अवधारण-प्रकार और अवधार्य स्वरूप में अन्ततः कोई अन्तर नहीं है। बुद्धि के नियमों और तत्त्वों की खोज बुद्धि के स्वरूप तक ले जाती है और वह बुद्धि का स्वरूप है अनन्त परामर्शात्मक स्वसंवेदन।[2] यह सविशेष परमार्थ-सत् स्वसंवेदन ही स्वतन्त्रता की उपलब्धि है और एकमात्र सम्पूर्ण अवधारणा है। हेगेलीय तर्कशास्त्र के पहले दो खण्डों में अवधारण-प्रत्यय मूल्यावधारण नहीं हैं क्योंकि वे प्रत्यक्ष और विकल्पना के व्यापार हैं, विवेक बुद्धि के नहीं। तीसरे खण्ड के अवधारण आत्म-सम्बद्धता के साथ मूल्यबोध का अवतारण करते है।[3] हेगेल ने कान्ट के 'वस्तुस्वरूप' और 'वस्तुप्रतिभास' का अन्तर केवल अवधारणात्मक अन्तर या ज्ञान स्तरीय अन्तर बताया हैं, मौलिक अन्तर नहीं। सभी वस्तु और प्रत्यय बुद्धि-विवर्त-मात्र हैं। इस विवर्त का एक निश्चित द्वन्द्वात्मक क्रम है जो निष्कल सत् के बोध से अनन्तकल आत्मपरामर्श तक विस्तृत है। यही प्रत्ययात्मक विकास इतिहास में व्यक्त होकर मानव की मूल्य-साधना बन जाती है। जैव मूल्यों के स्तर को हेगेल विषयि-मानस का स्तर कहता है, सामाजिक मूल्यों को विषय-मानस का स्तर, और सांस्कृतिक मूल्यों को निरपेक्ष-मानस का स्तर। हेगेल का बुद्धिवाद एक प्रकार का विज्ञानवाद है जो पुरुष और प्रकृति, आत्मा और जगत्, सभी का ग्रास कर

---

१ हेगेल एन्सिक्लोपेदी, पृ० ६७ प्र०।
लवेनवर्ग, सं० हेगेल सैलेक्शन्स (चार्ल्स स्क्रिबनर्स, १९२९), पृ० १०२–०३;
तु० स्टेस, दि फिलौसफ़ी ऑवहेगेल (डोवर, १९५५), पृ० ७० प्र०।
२ हेगेल, तर्कशास्त्र (अनु० वॉलेस) पृ० ३०४।
३ वही पृ० ३५२।

लेता है । किन्तु क्या सत् केवल चिद्विषयता ही है ? क्या चित् निर्विषय नहीं हो सकती ? क्या चित् सदा सविशेष एवं सविकल्प होती है ? क्या बौद्धिक तत्त्व-विचार या दार्शनिक अनुसन्धान ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है ? इन संशयों से लगता है कि कान्ट के संकोचों को छोड़ कर हेगेल ने एक अति-बौद्धिकता अपनाई है । दूसरी ओर कान्टीय बुद्धि और विकल्प, संकल्प और एषणा, संवेदन और आस्वादन की खाइयों को हेगेल ने द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धान्त से पूर कर एक निश्चित दार्शनिक प्रगति की उपलब्धि की है। कान्ट ने बुद्धि के मूल स्वरूप को स्वनियमानुसार निर्णय देना बताया था किन्तु उन्होंने बौद्धिक नियमों को वस्तु-तन्त्र नहीं माना है। हेगेल ने बुद्धि और बोध्य के भेद को बुद्धिगत बताकर बुद्धि को वस्तुनिरूपक और वस्तु को बुद्धि संगत विज्ञापित किया। साथ ही उन्होंने बुद्धि का मूल स्वरूप द्वन्द्वात्मक बताया । एक ओर बुद्धि अपने विषय के अन्तर्गत विरोधी अन्तों को विश्लेषण से प्रकट करती है, दूसरी ओर वह विरोध-परिहार के लिये एक अपूर्व समन्वय प्रस्तुत करती है। बुद्धि अपने नियमों में स्वतन्त्र है या वस्तु-तन्त्र, इस कान्टीय प्रश्न का हेगेल के लिये कोई मूल्य नहीं है क्योंकि यह बुद्धि और वस्तु के सम्बन्ध को ठीक न समझने के कारण उत्पन्न होता है । अतएव हेगेल के लिये मुख्य प्रश्न है बुद्धि के स्वतन्त्र नियमों या शुद्ध अवधारणा-प्रत्ययों का पूर्णतया पता लगाना—सभी शुद्ध प्रत्यय बुद्धि की द्वन्द्वात्मक आत्मपर्येषणा के अवस्थानमात्र है। अतएव द्वन्द्वात्मक विचार-प्रक्रिया का अनुसरण ही उनके पता लगाने के लिये आवश्यक और पर्याप्त है ।

बुद्धि-मीमांसा के उपर्युक्त मतों में जो कि पाश्चात्य धारा की मूर्धन्य उपलब्धियाँ हैं, बौद्धिक विवेचन प्रायः विषय-विवेचनात्मक बुद्धि व्यापार का विवेचन रहता है, उसमें बुद्धि-व्यापार का आत्म-विषयक विवेचन अनुपस्थित रहता है । हेगेल बुद्धि के अतिरिक्त किसी आत्मा का स्वीकार नहीं करते, कान्ट के लिये आत्मा एक अज्ञेय वस्तु रह जाती है । सांख्य-वेदान्त धारा के प्रतिपादन में साक्षित्व आत्मा में और विषय-कल्पना बुद्धि में रहती है और विवेक मूलतः एक प्रकार का आत्मबोध है जिसके प्रकाश में विषयों की प्रतीयमान इष्टता अथवा अनिष्टता विवेचित होकर उनकी बुद्धिसंगत हेयोपादेयता में परिणत होती है। आत्मबोध की विशिष्टता उपाधिकृत होती है । उपाधियां अन्ततः वासनात्मक होती हैं और व्यवसायात्मक बुद्धि का वासनात्मक मन से सम्बन्ध ही मूल्यबोध को उसका अनन्त वैचित्र्य प्रदान करता है । पाश्चात्य आदर्शवादी चिन्तन में इस सम्बन्ध के विवेचन में बुद्धिवादी पक्षपात और भोगवादी चिन्तन में वासनात्मक मन का पक्षपात दृष्टिगोचर होता है । भारतीय चिन्तन-परम्परा में या तो विषय-कल्पना

का मूल वासना को ही बताया गया है,[1] अन्यथा अवधारणात्मक प्रत्ययों को वस्तु-मूलक या तात्विक माना गया है।[2] वासना-निरपेक्ष और वस्तु-निरपेक्ष विशुद्ध बौद्धिक अवधारण-प्रत्ययों को स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि निर्वासन बुद्धि को निर्विकल्प और परमार्थ-प्रतिष्ठ माना जाता है।

मूल्य-सृष्टि :

वस्तुतः आत्मा और अनात्मा का अध्यास मानवीय चेतना के मूल में है और इस कारण उसमें विषयानुसन्धान और आत्मानुसन्धान भी परस्पर अध्यस्त रहते हैं। विषयान्तराल से आत्मा का आभास और आत्मा के आभास में विषयात्मक आवरण, इस संयुक्त परस्परोपराग से मानव-मूल्यों की सृष्टि होती है। सृष्टि चैतन्याश्रित व्यापार है जो चेतना के अन्तर्निहित भाव को उसके समक्ष विषय का रूप प्रदान करता है।[3] यह व्यापार ज्ञान, रचना और क्रिया का सम्पिण्डित रूप है। चेतना से सृष्ट विषय चेतना के लिये अर्थवान् और सप्रयोजन होते हैं। सृष्टि अपूर्णता के भाव से भी होती है और पूर्णता के भाव से भी। पहली स्थिति में स्रष्टा अपेक्षात्मक इच्छा से प्रेरित हो अपने व्यक्त स्वरूप से बहिर्भूत उपादान के स्वरूप को जानकर कर्म में प्रवृत्त होता है और अपने स्तर के नीचे स्तर के किन्तु ममत्वसिक्त विषय का उत्पादन करता है। व्यवहार में मानव जीव की यही स्थिति होती है। वह अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति के लिये प्रकृति को ज्ञान के द्वारा स्वायत्त कर भोग-साधनों का निर्माण करता है। पूर्णता के भाव से सृष्टि स्वातन्त्र्य-पूर्वक और लीलात्मक होती है एवं अर्थवाही संकेतों की रचना करती है। पहली सृष्टि व्यवहार दशा है जिसमें बहिर्मुख स्रष्टा कालान्तर से कर्ता और भोक्ता होता है और उत्पाद्य एवं भोग्य विषय की अर्थक्रिया अपेक्षा-पूर्ति होती है। दूसरी सृष्टि सात्त्विक दशा है जिसमें स्रष्टा तत्काल द्रष्टा भी होता है और उसका आभिमुख्य अन्तर्बाह्य होता है। यहां विषय की अर्थक्रिया संकेत, छन्द और योजना से अप्रत्यक्ष अर्थ की अभिव्यंजना है। ये विषय मानों सुखावती[4] की रचना करते हैं। यदि व्यावहारिक-मूल्य उत्पाद्य एवं भोग्य हैं, तो ये सात्त्विक मूल्य अन्वेष्य एवं उपास्य।

१ उदा० विज्ञानवाद में।

२ उदा० न्याय में।

३ तु० ईशसृष्टि और जीव-सृष्टि पर पञ्चदशी, ४.१९।

४ अमिताभ बुद्ध का लोक

औपाधिक आत्मबोध से सृष्ट अर्थ या मूल्य विशिष्ट अर्थक्रिया से युक्त विषयों में मूर्त होते हैं। वस्तुतः विषयता का अवधारण अर्थक्रिया के द्वारा ही होता है और विषय-कल्पनाएं अर्थ-कल्पना पर ही आश्रित होती हैं। इसीलिये विज्ञानवादी और नव्य सौत्रान्तिक सम्प्रदायों ने बुद्धि-परिकल्पनाओं को अन्ततः वासनात्मक माना है। कान्ट की दृष्टि से इसे मनोविज्ञान और ज्ञान-मीमांसा की दृष्टियों का संकर कह कर आक्षिप्त किया जा सकता है। वासना चित्त का आगन्तुक और परिहार्य धर्म है एवं उसमें कारकता होते हुए भी वह स्वरुपेण ज्ञान-प्रक्रिया का अंग नहीं है। कारणादि अथवा कर्तव्यादि पदार्थों की कल्पना इसीलिए वासनामात्र न होकर ज्ञान एवं विवेक की स्वरूपघटक पूर्वावश्यकताएं और बुद्धि के स्वातन्त्र्य के नियत प्रकार हैं। इसी आधार पर कान्ट ने ह्यूम का खंडन किया था। वस्तुतः इस तर्क में वासना-विषयक एक भ्रामक अर्थ-द्वैत छिपा है। कान्ट वासना को अनुभव-मूलक विशिष्ट विषय-वासना समझते हैं क्योंकि ह्यूम ने उसे वैसा ही समझा था। किन्तु वासना का एक मूलरूप है जिसे अविद्या और अस्मिता का उत्तर भाग कह सकते हैं। अस्मिबोध ही में अर्थबोध निहित रहता है और अर्थ के विभूत-परामर्श के लिये रहती है उसके विषयीकरण की प्रवृत्ति। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के अनुरूप ज्ञानीयादि विषयताओं का प्रभेद यहीं से आरम्भ होता है। इन सभी विषयताओं में एक सामान्य अस्मिविषयता या विषयतात्व व्याप्त रहता है। विषयतामात्र का इस सामान्य भाव से सूत्रपात होता है।[1] यह सामान्य भाव है अस्मिकेन्द्रिकतया अन्विति, विषयि-सापेक्षता या पुरुषार्थता। इस प्रकार विषयमात्र के मूल में अर्थ या 'विषयी के लिये होना' विद्यमान रहता है जिस प्रकार विषयिमात्र में साक्षित्व या द्रष्टापन रहता है किन्तु अस्मिबोध के सोपाधिक होने के कारण यह साक्षिभान असंग न होकर औपाधिक अर्थिभाव से आरोपित होता है। एषणा या अभ्यर्थना ही अस्मिमूलक अर्थप्रवृत्ति का आदिपर्व है। अर्थ का आक्षेप करने में इच्छा उसके वैशिष्ट्य, अभाव और सत्ता-योग्यता का भी आक्षेप करती है। वैशिष्ट्य युक्त अर्थ का बोध प्रमातृ-प्रमेय-भाव का आक्षेप करता है। जहां इच्छा में विषयिगत स्वातन्त्र्य प्रतीत होता है, ज्ञान में विषयगत। कुछ विचारक इसके विपरीत कहते हैं कि इच्छा में विषयी विषय के आकर्षण का दास होता है, ज्ञान में वह स्वरूपावस्थित और स्वतन्त्र। वस्तुतः स्वातन्त्र्य आत्मा में ही होता है, अनात्मा में नहीं, किन्तु अविद्या के कारण विषयिभाव में स्वातन्त्र्य और औपाधिक पारतन्त्र्य मिले जुले रहते हैं। ज्ञान के विषय-पारतन्त्र्य का

---

१ तु० रमण महर्षि का मत कि सब प्रत्यय अहं प्रत्यय के अनुचर है उदा० सद्दर्शनभाष्य, पृ० ८६—६० ।

अर्थ केवल ज्ञान की नियत-विषयकता ही होती है । यह प्रमातृभाव की विशेषता है कि उसमें चेतना द्विधा विभक्त-सी रहती है—एक ओर निष्क्रिय द्रष्टा के रूप में, दूसरी ओर नियमानुसार विषय-विकल्पक बुद्धि के रूप में। जहाँ तक ये नियम शुद्ध अवधारणा-विकल्प-गत हैं, इनका मूल वाग्व्यवहार की मौलिक संकेत-संरचना, या संक्षेप में, शब्द वासना प्रतीत होती है।[२] वाक्-संरचना के मूल में क्रियात्मक व्यवहार में उपलब्ध अव्यभिचरित सम्बन्धों के संस्कार रहते हैं या अनादि कल्पनाएं रहती हैं। क्रियाबोध के आधार पर ही वस्तु-कल्पना होती है। यह कहा जा सकता है कि प्रमातृभाव में ज्ञान के नियम अव्यभिचारी कल्पित होते हैं जबकि उपर्युक्त हेतु-पद्धति से उनकी नियत अव्यभिचारिता सिद्ध नहीं होती । इसका उत्तर बौद्ध विचारक तो ज्ञान की वस्तुकार्यंता को प्रस्तुत करने से देते हैं। जहां तक ज्ञान वस्तुस्वरूप का कार्य होता है उसमें अर्थाव्यभिचारिता होती है । जहां तक वह अर्थ से असम्बद्ध होता है, उसमें शब्दवासनात्मक कल्पनाएं ही नियामक होती हैं। किन्तु तो भी 'नियताव्यभिचारिता' की धारणा निर्मूल रहती है। वस्तुतः इस धारणा का मूल आत्मोपलब्धि में ही है। आत्मोपलब्धि में सदा ही एक अनपोह्य अव्यभिचारी अर्थ का भान होता है क्योंकि यही आत्मा का स्वरूप है। किन्तु इस प्रकार का अर्थ विषयरूप से प्रवृत्ति में उपलब्ध नहीं होता। इसीलिये प्रवृत्ति के तीनों पर्व—इच्छा, ज्ञान और क्रिया—आत्मा के नित्यसिद्ध धर्मों को अपने विषयों में साध्यवत् खोजते हुए नित्यत्व, अव्यभिचारित्व और नियतत्व के आदर्शों का अनुसन्धान करते हैं। इन आदर्शों को खोजने में ही बुद्धि पुरुष-स्वातन्त्र्य का उपकार करती है । स्वातन्त्र्य बुद्धि के लिये एक आदर्श है, उसका सिद्ध धर्म नहीं, जबकि आत्मा के लिये वह स्वरूपसिद्ध है। आत्मबोध की स्वरूपावस्थिति में ही बुद्धि की साधना चरितार्थ हो सकती है किन्तु इसके लिये बुद्धि के परावर्तन की आवश्यकता है।

ज्ञान और तत्त्व :

पाश्चात्य बुद्धिमीमांसा में एक पक्ष बुद्धि के विश्लेषण को 'सामर्थ्य-विश्लेषी मनोविज्ञान' बना देता है, और उसके सब नियमों को सांस्कारिक या वासना-मूलक प्रतिपादित करता है, दूसरा पक्ष बुद्धि की 'स्वतन्त्र संरचना' को विभिन्न विद्या-प्रस्थानों के शुद्ध अवधारणों और नियमों में खोजता है। पहला पक्ष, अन्तःकरण की अन्विति का विस्मरण करता है, दूसरा पक्ष यह

---

२ तु० 'विकल्पयोनयः शब्दाः' (दिङ्नाग); न्यायबिन्दु, १.५ ।

सिद्ध नहीं कर सकता कि उसके आविष्कृत 'नियम' बुद्धिमूलक हैं कि वस्तु-मूलक। उनकी मुख्य युक्ति यही रहती है कि इन नियमों की 'अनिवार्यता' उनकी बुद्धिमूलकता सिद्ध करती है। किन्तु इस 'अनिवार्यता' का अर्थ क्या है? कान्ट अन्यथानुपपत्ति को अनिवार्यता बताते हैं। 'विश्लेषणात्मक वाक्यों' में तो अन्यथानुपपत्ति व्याघात के द्वारा सिद्ध होती है किन्तु वह केवल संकेतरचनात्मक नियम सूचित करती है। 'संश्लेषणात्मक वाक्यों', में इस प्रकार की 'अनिवार्यता' का अस्तित्व ही संदिग्ध है। सभी वैज्ञानिक नियम अनुभवमूलक और निरन्तर परिष्कार्य होते हैं। गणित के नियम अब विश्लेषणात्मक ही अधिक माने जाते हैं।[1] वस्तुतः जहां अन्यथानुपपत्ति व्याघात-सिद्ध नहीं है, वहां वह अनुभव से ही सिद्ध की जा सकती है। जहां वह व्याघात-सिद्ध होती है, वहां वह 'विश्लेषणात्मक वाक्य' का ही गुण होती है। सच तो यह है कि ज्ञान में जो कुछ 'अनिवार्यता' है वह उसकी प्रामाणिकता ही है। यह सही है कि प्रामाण्य के संदिग्ध होने पर अनुमान और अनुमान के समर्थन के लिये तर्क प्रस्तुत किया जाता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि असन्दिग्ध प्रत्यक्ष तर्क-सिद्ध न्याय से कम प्रामाणिक है। ज्ञान अनुभूतिसिद्ध हो चाहे हेतुसिद्ध प्रामाणिक होने पर वे तुल्यबल हो ठहरते हैं। स्वतः सिद्धता अवश्य अनपोह्यता का आक्षेप करती है किन्तु 'विश्लेषणात्मक वाक्यों' के अतिरिक्त स्वतःसिद्धता आत्मा में ही होती है।

कान्ट ने जब बुद्धि और वस्तु का भेद करते हुए विशुद्ध विकल्पों को बुद्धिमूलक कहा तो वस्तु स्वरूपेण अविदित छूट गई। हेगेल ने जब बौद्धिक अवधारणों को वास्तुतात्त्विक बताया तो वस्तु और ज्ञान का भेद एक विज्ञानाद्वैत में विलीन हो गया। ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा को वस्तुतः अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु कान्ट ने तत्त्वमीमांसा को ही असम्भव बता दिया है, हेगेल ने दोनों को एक, क्योंकि उनके लिये 'सत् बुद्धिसंगत है, बुद्धिसंगत सत्'। कान्ट और हेगेल दोनों ही ज्ञान का आकारिक निरुपण करते हैं। उसके विषयिरूप का या उसके स्वसंस्थ ज्ञानघन रूप का या उसके द्वारा अर्थप्रवृत्ति के नेतृत्व का वे पर्याप्त उल्लेख नहीं करते। भारतीय चिन्तन में ज्ञान के इन रूपों पर जिनसे बुद्धि भाव और इच्छा से सम्पृक्त

---

१ द्र० मेरा लेख ' दि नेचर ऑव मैथेमैटिक्स (**मौडर्न लॉजिक एन्ड फिलौसफी**, सं० दयाकृष्ण); कान्ट में गणित और तर्क का मौलिक अन्तर है जिसका उलटा मत **प्रिन्सिपिया मैथेमैटिका** का प्रतिपाद्य है, द्र० पौलवोल्फ **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० २१, रसल, **इन्ट्रोडक्शन टु मैथेमैटिकल फिलौसफी** (लन्दन, १९२९) पृ० १४५।

होती है, विशेष जोर दिया गया है। क्योंकि ज्ञान-साधना का उद्देश्य आध्यात्मिक परिवर्तन था, न कि बाह्य परिवर्तन। पाश्चात्य चिन्तन-धारा में बुद्धि के द्वारा आदर्श विषयों के अनुसन्धान में ज्ञान की प्रधानता मानी जाती रही है। बुद्धि-ज्ञान की साधना आत्म-स्मारक, आत्मावभासी विषयों से परावृत्त होकर कभी आत्मा के समक्ष समर्पित होने की साधना में परिवर्तित होगी, इस सम्भावना पर उसमें जोर नहीं है। प्लेटो ने जब बुद्धि को ऐन्द्रिय-गुहा से निवृत्त होकर आकारों और उनके द्रष्टा से परे उनके भासक की ओर बढ़ने की सलाह दी, तो उन्होंने बौद्धिक मूल्य-साधना का मर्म प्रकाशित किया था।[1]

---

१ प्लेटो, रिपब्लिक ७. ५१४ प्र०।

६

नैतिक मूल्य

'नैतिक' शब्द मुख्यतः कर्म एवं शील का विशेषण है। कर्म और शील के विषय में सत् और असत् का विवेचन ही नैतिकता का मुख्य प्रश्न है। ये प्रश्न सदा और सर्वत्र महत्त्वपूर्ण रहे हैं और इनमें लौकिक एवं दार्शनिक चिन्तन का निकट संस्पर्श रहता है। नीतिशास्त्र दर्शन का कोई 'गजदंती बुर्ज' या 'खयाली पुलाव' नहीं है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि नैतिक विवेचन नैतिक चेतना का आत्मविमर्श है। नैतिक-चेतना सामाजिक संस्कारों, मतों और व्यवस्थाओं के अन्तराल से सिद्ध होती है। सामाजिक वैभिन्न्य के कारण नैतिक चेतना भी अनेक रूप होती है। इन सब विभेदों के होते हुए नैतिक विवेचन में सार्वभौम सिद्धान्तों की प्राप्ति कितनी दुष्कर है, यह अनायास समझा जा सकता है। एक कठिनाई यह होती है कि ये सिद्धान्त जितने सार्वभौम होते हैं उतने व्यवहार में अनुपयोगी होने लगते हैं, और जितने व्यवहार के निकट होते हैं उतने ही सार्वभौमता से दूर। नीतिशास्त्र नैतिक चेतना के आदर्श स्वरूप के निरूपण और व्यवस्थापन मात्र से कृतकृत्य नहीं हो जाता, उसे इस आदर्श चेतना और लोकसिद्ध चेतना के बीच एक सेतु का निर्माण करना भी आवश्यक है। प्लेटो ने ज्ञानी के लिये प्रत्यावर्तन—'काटाबासिस'—आवश्यक बताया है, इस बात को नैतिक विवेचन में याद रखना चाहिए।

क्या नैतिक सत् एक अविश्लेष्य गुण है ?

नैतिक सत् और असत् के भेद के आधार के विषय में तीन मुख्य विकल्प सम्भव हैं। कर्म सत् और असत् स्वतः हो सकते हैं, अपने परिणामों के द्वारा हो सकते हैं, अथवा अपने हेतुओं के कारण हो सकते हैं। पहले

विकल्प के समर्थन में दो मुख्य प्रकार की युक्तियां दी जाती हैं। एक प्रकार का युक्ति-कलाप एक व्यापकतर स्थापना से कर्मविषयक निष्कर्ष निकलता है। यह व्यापकतर स्थापना यह है कि 'सत्' अपरिभाष्य है, वह किसी अन्य धर्म अथवा जाति के द्वारा समझा नहीं जा सकता। 'सत्' की अन्य-व्यावृत्त स्वविशेषित पृथक् जाति है। दूसरे प्रकार की युक्ति के अनुसार सत् और असत् अन्तःकरण की एक विशेष वृत्ति के द्वारा जिसे विवेक या 'कौन्शेन्स' कहते हैं, साक्षात् पहचाने जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सत् और असत् कर्मगत विशेष हैं जो अन्य विशेषों से भिन्न हैं और अन्तःकरण की एक विशेष वृत्ति के द्वारा साक्षात्कृत होते हैं। जनसाधारण भी कर्मों को सत् अथवा असत् बहुधा बिना युक्ति के ही पहचानते हैं[1] और इन विशेषणों का प्रयोग 'प्रिय' अथवा 'अप्रिय', 'उपयोगी' अथवा 'अनुपयोगी' आदि अन्य विशेषणों से भिन्नतया करते हैं। जो लोग 'सत्' के विषयगत-वैशेष्य को अस्वीकार करते हैं, उन्हें अपने अस्वीकार के लिये युक्ति देनी चाहिए। उन्हें 'सत्' के विश्लेषण से यह दिखाना चाहिए कि उसे अन्य अवधारणों के द्वारा समझा जा सकता है। किन्तु जिस भी अवधारणा को अथवा अवधारणात्मक विश्लेषण को वे सत् का समानार्थक बताएंगे उसके ही विषय में सत् का विधान किया जा सकेगा और यह प्रश्न भी सार्थक होगा—क्या वह सत् है? इस विधान एवं प्रश्न की सार्थकता से उस अवधारणा की सत् से भिन्नता तत्काल स्पष्ट हो जाएगी[2]। यह भी विचारणीय है कि यदि किसी कर्म अथवा अर्थ को उसके स्वरूप को छोड़ कर किसी अन्य कारण से सत् बताया जाय, तो उस अन्य कारण के विषय में पुनः वही प्रश्न उठेगा। इस प्रकार की अनवस्था को हटाने के लिये कहीं न कहीं यह स्वीकार करना पड़ेगा कि

---

१ तु० "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" = (**शाकुन्तल**)।

२ मूअर की यह प्रमुख युक्ति है जिससे वह 'प्राकृतिकता का हेत्वाभास' प्रदर्शित करते हैं। उदाहरण के लिये यदि हम 'अच्छाई' को 'सुखोत्पादकता' कहें तो 'सुखोत्पादकता अच्छी बात है', 'क्या सुखोत्पादकता अच्छी बात है?' इत्यादि वाक्यों का सार्थक प्रयोग न कर पाएंगे, जैसा कि हम करते हैं। मूअर के तथाकथित हेत्वाभास की अनेकधा आलोचना हुई है—फ़ैन्केना, **माइन्ड** जि० ४८, नई सीरीज, संख्या, १९२ 'प्राकृतिकता; का हेत्वाभास' प्रायर, **लौजिक एण्ड दि बेसिस ऑव ऐथिक्स** अध्याय १। यह स्मरणीय है कि **ऐथिक्स** के प्रारम्भ ही में अरस्तू ने सब अच्छाइयों में अच्छाई के एक सामान्य लक्षण को विस्तार से दुष्प्रतिपाद्य और अनुपयोगी बताया है।

अमुक कर्म अथवा अर्थ आदि स्वतः सत् हैं। शेष के लिये 'सत्' विशेषण का प्रयोग गौण अथवा औपाधिक हो जाएगा। चूंकि स्पष्ट ही 'सत्' प्राकृतिक या प्रत्यक्ष धर्म नहीं है, उसका बोध अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा ही संभव है। यह वृत्ति एक साक्षात्कारात्मक वृत्ति ही हो सकती है क्योंकि अनुमान असाधारण स्वरूप को नहीं बताता केवल सम्बन्ध को बताता है[1]।

इस धारणा का मूल प्राचीन है। प्लेटो ने नैतिक सत् (**तो आगाथोन**) को एक पृथक् सामान्य निरूपित किया था और सामान्यों के सोपान में उसे सर्वोच्च स्थान दिया था।[2] किन्तु नैतिक सदात्मक सामान्य किस प्रकार परम सामान्य हो सकता है, यह दुर्बोध है।[3] प्लेटो वस्तुतत्व को बुद्धिगम्य मानने के कारण सामान्यात्मक मानते हैं, और सामान्यों को इन्द्रियगम्य विशेषों के स्वरूपादर्श। किन्तु अरस्तू ने युक्त ही आपत्ति की थी कि सामान्य और विशेष सापेक्ष होने के कारण अविभाज्य हैं।[4] यूनानियों के प्रयोग में बुद्धि तर्क-बुद्धि और विवेक-बुद्धि, दोनों का ही समुच्चित नाम है। कालान्तर में तर्क-बुद्धि के द्वारा नैतिक सत् की अगम्यता के स्पष्ट होने पर एक पृथक् विवेक-बुद्धि की कल्पना आकर्षक बन गई। बटलर की चिन्तन-धारा में

---

१ सदर्थ-निर्देशक नैतिक वाक्यों को मूअर 'साक्षात्कारात्मक' (इन्टुइशन्स) कहते हैं किन्तु इसका अर्थ उनके लिये सिर्फ इन वाक्यों की स्वतः सिद्धता है। 'उन्हें यह पता नहीं कि इस प्रकार का ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, न वे ये मानते हैं कि किसी वृत्ति-विशेष के व्यापार से अवगत होने के कारण नैतिक सत्य प्रामाणिक हैं बल्कि वे इस पर जोर देते हैं कि जिस भी द्वार से सत्य पहिचाना जाता है, असत्य भी पहिचाना जाता है, **प्रिन्सिपिया ऐथिका**, भूमिका, पृ० ८–१०।

२ फाइडो में कहा गया है कि सुकरात 'आगाथोन काई दे ऑन' (सत् और कर्तव्य) को सर्वविधारक अथवा विश्वव्यवस्थापक मानते थे। यह धारणा 'ऋत' अथवा 'धर्म' की धारणा के सदृश हैं। **रिपब्लिक** में 'हे तू आगाथू इदेआ' को ज्ञान का सर्वोच्च विषय बताया गया है।

३ स्वयं प्लेटो ने **पार्मेनिदीज़** में 'इदेआ' के सिद्धान्त की पर्याप्त आलोचना की है। किन्तु यह स्मरणीय है कि **रिपब्लिक** में 'आगाथोन' को सत्तातिक्रान्त और ज्ञान तथा ज्ञेय का भासक कहा गया है। इस प्रकार के 'सत्' का 'डायलैक्टिक' से पता चलता है। वह न्याय के सत्तारूपी परम सामान्य से भिन्न और उपनिषदों के ब्रह्म-तत्त्व के सदृश है।

४ 'इदेआ' के सिद्धान्त का अरस्तू ने विस्तार से खण्डन किया है। द्र० **अरिस्टौटल सेलैक्शन्स**, सं० रौस, पृ० ४५–४६।

विवेक-बुद्धि ही नैतिक सत् की परम निर्णायिका है।[1] कान्ट में विवेक-बुद्धि (प्राक्तिशे फेरनुन्फ्त) को तर्क-बुद्धि (राइने फेरनुन्फ्त) से पृथक् किन्तु अभाग्य वश संकल्पात्मक माना गया है।[2] मूर और रौस ने नैतिक सत् का विषय-गुण के रूप में उपर्युक्त प्रकार से सयुक्तिक प्रतिपादन किया है। मूर ने पहले सदर्थ को ही अविश्लेष्य कहा था और सत्कर्म को 'सदर्थ का उत्पादक कर्म', इस प्रकार परिणामाश्रित विश्लेषण किया था। किन्तु पीछे उन्होंने रौस के मत को मान लिया था कि सत्कर्म भी सदर्थ के समान अविश्लेष्य है। रौस का कहना है कि "मैंने इस बात को मानने के लिये पर्याप्त कारण दिये हैं कि 'सत्कर्म' में सत् को हम जिस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं उसका स्वरूप नैतिकता-बहिर्गत पदों के किसी भी समवाय के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। ....ऐसे ही मैंने यह भी दिखाने का यत्न किया है कि अन्य नैतिक विशेषण, जैसे सदुत्पादकता, भी सत्कर्मगत सत् के अभिप्रेत अर्थ का विश्लेषण नहीं कर पाते भले ही उन नैतिक विश्लेषणों से युक्त कर्म सत्कर्म हों और उनसे वियुक्त न हों। यदि ये तर्क ठीक हैं तो नैतिक अच्छाई एक अपरिभाष्य लक्षण है और यदि वह अनुकूलतावत् एक व्यापकतर सम्बन्ध की अन्तर्गत जाति भी हो तो भी उसका व्यावर्तक लक्षण सिवाय 'नैतिक अच्छाई' अथवा उसके पर्यायों के दुहराने के बताया नहीं जा सकता, जैसे कि यद्यपि 'लाल' रंग की अवान्तर जाति है किन्तु उसे अन्य रंगों से क्या विभक्त करता है, इसे यही कहने से बताया जा सकता है कि यह रंग ही लाल है।"[3] कार्मिक अच्छाई के प्रस्तावित लक्षणों को रौस प्रायः कर्मों को अच्छा मानने के लिये युक्तियां बताते हैं, न कि उनकी अच्छाई के प्रत्यय के घटक। उदाहरण के लिये 'सदुत्पादकता' अथवा 'परिस्थिति की अनुकूलता' कर्म को अच्छा बताते हैं किन्तु यह नहीं बताते कि कर्म को अच्छा मानने में हम ठीक क्या मानते हैं?

---

१ उदा० ब्रौड, फाइव टाइप्स ऑव ऐथिकल थियरी पृ० ७६ प्र०।

२ "प्रकृति में सब नियमानुसार कार्य करते हैं। केवल बौद्धिक प्राणी में नियम के प्रत्यय अर्थात् तात्त्विक ज्ञान के अनुसार कार्य करने की क्षमता है। यह क्षमता संकल्प ('विल') है। चूंकि नियमों से कर्तव्यों को निकालने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है, संकल्प 'व्यावहारिक बुद्धि' (विवेक) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" (फाउन्डेशन्स ऑव दि मेटाफिजिक्स ऑव मौरल्स, पृ० ७२)

३ रौस, फाउन्डेशन्स ऑव ऐथिक्स, पृ० ३१६।

इस मत की तीन स्थापनाएं हैं—१. नैतिक गुण अविश्लेष्य हैं, २. मूल नैतिक प्रतिपत्तियां स्वतः सिद्ध हैं, ३. नैतिक गुण विषय-गत अद्वितीय गुण है। इनमें तीसरा पहले दो पर आश्रित है, और दूसरा जिसका केवल व्यावृत्यात्मक अर्थ अभिप्रेत है, पहले पर। इस प्रकार मूल स्थापना नैतिक गुण की अविश्लेष्यता ठहरती है। इस प्रकार की स्थापना सिद्ध किस प्रकार की जा सकती है? अविश्लेष्यता स्वयं अविश्लेष्य, निरवयव, एकरस, पारमाणविक धर्म नहीं है, न उसका निश्चय प्रतीतिमात्र से हो सकता है। तत्तत् विश्लेषणों की परीक्षा उन्हें सम्भवतः असन्तोषजनक सिद्ध कर सकती है किन्तु इससे सब सम्भव विश्लेषणों की अपर्याप्तता सिद्ध नहीं होती क्योंकि सब सम्भव विश्लेषणों का कोई संग्राहक-नियम विदित नहीं है। इस अविश्लेष्यता को सिद्ध करने के लिये अन्ततः जो दो निम्नोक्त 'तर्क' शेष रहते हैं वे समीचीन नहीं प्रतीत होते—'जिसमें सत् विश्लिष्ट किया जाएगा, उसके विषय में भी प्रश्न हो सकता है कि क्या वह सत् है'? 'कर्म की अच्छाई जिससे लक्षित होती है, वह अच्छाई का ज्ञापक होगा, न कि अच्छाई का स्वरूप।' पहले के उत्तर में यह कहना है कि हम सदा ही अज्ञानवश ऐसे प्रश्न पूछ सकते हैं जो कि निरर्थक या पुनरुक्तिमात्र हों। दूसरे के उत्तर में यह कहना है कि सभी प्रस्तावित लक्षणों को ज्ञापकमात्र सिद्ध करने में वे ही कठिनाइयां हैं जो सभी विश्लेषणों की अपर्याप्तता सिद्ध करने में।

दूसरी ओर यदि नैतिक गुण एक विषयगत विशेषता है तो यह बताना चाहिए कि हमें उसका ज्ञान किस प्रकार होता है। स्पष्ट ही यह ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा सम्भव नहीं है अन्यथा नैतिक मतभेद नगण्य रह जाते। विकल्प और अनुमान के द्वारा भी उसका बोध सम्भव नहीं है क्योंकि जो प्रत्यक्ष के अयोग्य है, उसका अध्यवसायात्मक या आनुमानिक ज्ञान भी संभव नहीं है। फलतः नैतिक गुण को मानस-प्रत्यक्ष का विषय मानना होगा। इसके लिये या तो नैतिक गुण को मानस या आत्मिक गुण मानना होगा, या मन के अभौतिक, अमानसिक विषय मानने होंगे।[1] दूसरे विकल्प में विषय को अविश्लेष्य, अकल्पित विशेष मानना उसके मानस प्रत्यक्ष को एक प्रकार की साक्षात्कारात्मिका प्रतिभा बना देगा, जो कि इन विचारकों को पसन्द नहीं है।[2] यदि यह कहा जाय कि नैतिक गुण प्राकृतिक न होते हुए भी ऐन्द्रिय

---

१ यह स्मरणीय है कि बौद्धगण इन्द्रियगोचर 'रूप' के व्यतिरेक में मनोगोचर 'धर्म' स्वीकार करते थे। द्र० रोज़ेनबर्ग **दी प्रोब्लेमे देर बुद्धिस्टिशेन फिलोसोफी**, श्चेरबात्स्कि, **दि बुद्धिस्ट कन्सैप्शन ऑव धर्म**।

२ प्लेटो सत् के ज्ञान को तर्कपूर्वक मानते हैं, कान्ट उसे ज्ञान नहीं मानते।

अथवा मानस प्रत्यक्ष के विषयों पर आश्रित धर्म है और उन विषयों के बोध के साथ ही अथवा विचारानन्तर उसका बोध होता है, तो भी इस आश्रयाश्रेय सम्बन्ध का विश्लेषण करना होगा। प्राकृतिक और अप्राकृतिक धर्मों का सम्बन्ध जोड़ना उतना ही कठिन होगा जितना प्रत्यक्ष देह के साथ अप्रत्यक्ष देही का। अप्राकृतिक धर्म का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, और जो अप्राकृतिक धर्म प्राकृतिक धर्म से न कार्य-कारण-भाव के द्वारा, न तादात्म्य के द्वारा जुड़ा हुआ है, उसका अनुमान भी सम्भव नहीं है।

यदि नैतिक गुण अविश्लेष्य है तो उसे मन अथवा आत्मा का साक्षात्कार्य धर्म-विशेष माना जा सकता है किन्तु मन अथवा आत्मा के स्वरूप से भिन्न नहीं, जैसा कि मूअर आदि का कहना है। उनका कहना मानने पर कि नैतिक गुण किसी वस्तु का स्वभाव नहीं है किन्तु स्वलक्षण विषय है, यह मानने पर कि नैतिक गुण का ठीक विश्लेषण सम्भव नहीं है, यह सन्देह उठना स्वाभाविक है कि क्या 'नैतिक गुण' कुछ है भी, या उसकी खोज केवल काकदन्त-गवेषणा है। मूअर ने अपने मत का विकास नीतिशास्त्र की पिछली मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के खण्डन के द्वारा किया था। उनके खण्डन ने नैतिक सत् को सब आधारों से विलग स्वतः सिद्धता के एक ऐसे प्रतनुसूत्र से अवलम्बित कर दिया कि उसकी पृथक् सत्ता के चिरन्तन विरोधियों के लिये अब सफलता के मार्ग में इतना ही शेष रहा कि वे उस प्रचलित नैतिक विवेक को–जो मूअर आदि के लिये अकाट्य तत्व है–प्राप्त मानसिक तत्वों के प्रकट मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण की प्रक्रिया का एक उदाहरण बताएं।

क्या नैतिक सत् वस्तुत: कोई पृथक् धर्म है ?

इस मत के समर्थक सदा ही रहे हैं कि नैतिक नियम या 'धर्म' कोई विलक्षण या अलौकिक व्यवस्था न होकर लोक-संवृति[1] और कानूनी विधि पर आश्रित है। सामाजिक मान्यताएं ही व्यक्तियों में संस्कार उत्पन्न करती हैं और इन संस्कारों के अनुरूप व्यक्ति अपने को नियन्त्रित करते हैं। सामाजिक निन्दा-प्रशंसा एवं कानूनी दण्ड का भय लोगों में नियम मानने का संस्कार डालते हैं जिसके अनुसार वे एक आचार व्यवस्था को अच्छी, अन्य को बुरी कहने लगते हैं। ये संस्कार व्यक्ति के मन में इतने गहरे होते हैं कि वे इन नियमों को अहेतुक-रूप से, स्वतः सिद्धवत् मानते हैं। संस्कार-मूलक इस अन्तर्मन

---

१ बौद्धगण 'संवृति' को लोक मान्यता के अर्थ में प्रयुक्त करते है।

के अवरोध के कारण ही नैतिक नियम और सत् अविश्लेष्य प्रतीत होते हैं। वस्तुतः उनके सुविश्लेष्य प्रतीत होने पर उनका मानस पर अपर्यनुयोज्य अधिकार ही घट जाएगा। अतएव उनकी अविश्लेष्यता की प्रतीति का वही मनोवैज्ञानिक प्रयोजन है जो सैनिकों के लिये इस उपदेश में रहता है "तुम्हें बस करना है और मरना है। तुम्हें कभी प्रश्न नहीं उठाना है।"

यदि नैतिक और गैर-नैतिक का भेद मौलिक पदार्थ भेद पर आश्रित नहीं है तो नैतिक अवधारण गैर-नैतिक मानसिक-सामाजिक प्रत्ययों के जोड़-तोड़ ही हो सकते हैं। आधुनिक पॉजिटिविस्ट्स या प्रत्यक्षवादियों का कथन है कि 'सिर्फ गणित और प्रत्यक्षमूलक विज्ञानों के वाक्यों में अर्थ होता है, शेष वाक्य सब निरर्थक होते हैं'।[1]

नवीन प्रत्यक्षवादी मत की आलोचना

गणित-वाक्य अनुभव-निरपेक्ष होते हैं किन्तु वे वस्तुतः पुनरुक्तिमात्र या अभ्युपगत का रूपान्तर में अनुवादमात्र होते हैं। फलतः नैतिक वाक्य अनुवाद-मात्र हो सकते हैं या प्रत्यक्ष-परीक्ष्य कल्पनाएं हो सकती हैं। किन्तु दोनों ही विकल्प ठीक नहीं हैं क्योंकि किसी कार्य अथवा कर्म को सत् अथवा असत् कहने में हमारा भाषा-सिद्ध अभिप्राय ऐसा नहीं होता। अतएव प्रत्यक्षवादियों का कहना है कि नैतिक वाक्य कथमपि तार्किक या वस्तुनिरूपक ज्ञान-वाक्य नहीं होते। एयर, स्टीवेन्सन आदि का कहना है कि वे भावनाओं या जज्बात का विस्मय चिन्ह के समान प्रकाशन करते हैं। कार्नप और राइशेनबाक का कहना है कि वे व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से नियोग वाक्य होते हैं।[2] नियोग-वादी मत की भ्रान्ति अनायास प्रदर्शित की जा सकती है। जब हम कहते हैं 'उसे यह कर्म करना चाहिए,' 'तुम्हें यह कर्म करना चाहिए था', 'मुझे यह कर्म करना चाहिए', इन वाक्यों को नियोगात्मक रूप में रखने पर स्पष्ट ही निरर्थकता उत्पन्न हो जाती है क्योंकि नियोज्य को सम्मुख होना चाहिए और नियोग तात्कालिक होता है। दूसरे, वाक्य जहां नैतिक नियोगात्मक होते हैं अथवा लगते हैं, वहां भी वे सामान्य लौकिक नियोगों के समान सिर्फ एक व्यक्ति की दूसरे की प्रेरयित्री इच्छा ही नहीं होते हैं। 'तुम कुए में डूब जाओ,' 'उसकी हत्या कर दो' इत्यादि वाक्य नियोगात्मक या प्रेरणात्मक

---

१ कार्नप, फिलोसफी एण्ड लौजिकल सिन्टेक्स, पृ० ३६।

२ तु० क्लीबैन्स्की, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६२–६३।

होते हुए भी नैतिक वाक्य नहीं है। नैतिक विधियों पर आश्रित नियोग नियोक्ता की इच्छा पर निर्भर न होकर नियोज्य व्यक्ति के अधिकार और नियोज्य कर्म के औचित्य पर निर्भर होते हैं। यथा, 'तुम्हें (पिता को) पुत्र के हित-सुख का ध्यान रखना चाहिए' 'तुम्हें (नागरिक को) देश-सेवा करनी चाहिए', 'तुम्हें (मनुष्य मात्र को) सच बोलना चाहिए,' इस प्रकार के नियोगों का आधार विधि-वाक्य होते हैं जो प्रेरणा के साथ औचित्य का ज्ञापन करते हैं। उनकी प्रेरणा की सामर्थ्य उनके औचित्यज्ञापन पर निर्भर करती है, न कि उनके ज्ञापित कर्म का औचित्य उनके प्रेरक की इच्छा पर।

'नियोग' एक व्यक्ति की दूसरे विद्यमान व्यक्ति को कर्म में प्रेरित करने वाली इच्छा की अभिव्यक्ति का वाक्य होता है। स्पष्ट ही न सब नियोग नैतिक होते हैं, न सब नैतिक वाक्य नियोग। वैयक्तिक, अथवा सामुदायिक इच्छा की प्रेरणामात्र से नैतिक प्रेरणा सम्पन्न नहीं होती है। किन्तु क्या ईश्वर की इच्छा या उसकी प्रेरणा नैतिक नहीं कही जाएगी? किन्तु ईश्वर स्वतः परमसदर्थ, एवं उसकी इच्छा स्वतः नैतिक स्वीकार की जाती है। इसमें यह स्वीकार्य है कि प्रेरणा की नैतिकता इच्छा की नैतिकता पर और इच्छा की नैतिकता उसके आधारभूत चरित्र की नैतिकता पर निर्भर करती है। ईश्वर-नियोग को नैतिकता का मूल मानने में यह अभ्युपगत नहीं है कि नैतिकता नियोगमात्राश्रित होती है बल्कि यह कि नैतिकता सदिच्छा के द्वारा सत्पुरुष की अभिव्यक्ति होती है।

नियोग—'तुम यह करो', इस प्रकार की आज्ञा और विधि—'वह यह करे' इस प्रकार की प्रवर्तना में भेद करना आवश्यक है। विधि में प्रेरणा (मीमांसकों की भावना) होती है किन्तु वह पुरुषेच्छात्मिका नहीं होती[1] और न वह विद्यमान पुरुष विशेष को लक्ष्य कर होती है। विधि विधेय पुरुष को लक्षण-विशेष या अधिकार के द्वारा विहित कर्म में प्रेर्य मानती है, अर्थात् विधि विशिष्ट वर्ग के लिये विशिष्ट कर्म के कर्तव्य का प्रतिपादन करती है।[2] किन्तु जब तक उसमें औचित्य का बोध नहीं होता, वह विधि नैतिक

---

१ "मैं चाहता हूं कि वह यह करे" और "वह यह करे" ये दो भिन्नार्थक वाक्य हैं। दूसरे में प्रेरणा शाब्दी है, न कि पौरुषेय।

२ यह विधि सापेक्ष भी हो सकती है, निरपेक्ष भी। उदाहरण के लिए सरकारी कानून ऐसी सापेक्ष विधि है जो दंडभय से प्रेरित करती है।

नहीं बनती। विधिमात्र एक साधारणीकृत अपौरुषेय प्रेरणा है और अपने मात्र में औचित्य न पैदा करती है, न जताती है। औचित्य-बोध नैतिक-विधि के विषय-बोध के साथ समवेत रहता है। इसका फल यह है कि नैतिक-वाक्य केवल नियोग, या विधि न होकर अपने में औचित्यज्ञापक वाक्य भी होते हैं–'सबको सच बोलना चाहिए' और 'यह उचित है कि सब सच बोलें,' इन समानार्थक वाक्यों में दूसरा स्पष्ट ही औचित्य की वस्तुस्थिति का निरूपक ज्ञान-वाक्य है, न कि आदेश-वाक्य। किन्तु नैतिक-वाक्यों में ज्ञान और विधि का दोहरापन उनकी विशेषता है। औचित्यज्ञापक वाक्य विधि आक्षिप्त करते हैं, नैतिक विधि-वाक्य औचित्य-ज्ञान का आक्षेप करते हैं।

इतना तो निश्चित ही है कि कार्नप के अनुसार जो नैतिक-वाक्यों को आदेशात्मक कह कर नैतिक बोध में ज्ञान-तत्त्व का निषेध है, वह युक्ति-युक्त नहीं है। अन्य प्रकार के निरूपणता-विरोधी प्रत्यक्षवादी एयर के अनुसार नैतिक-वाक्य नियोग न होकर स्वगत मनोवृत्ति के अभिव्यंजक होते हैं। किन्तु, जब हम किसी बात को अच्छा या बुरा कहते हैं, किसी कर्म को उचित या अनुचित, तो क्या हमारा आशय केवल यह कहना होता है कि हम उस बात को या कर्म को अनुकूल या प्रतिकूल महसूस करते हैं? अपने अनुकूल अर्थ को भी हम बुरा और प्रतिकूल अर्थ को भी अच्छा कहते हैं। अपने हित के विरुद्ध भी सच बोलना सत्कर्म रहता है, झूंठ बोलना असत्कर्म और ऐसा ही हम लोग अनुभव भी करते हैं। और फिर उसी विषय पर भिन्न-भिन्न लोगों की अभिरुचि और हित अलग होने से उनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता भी भिन्न होती है किन्तु उनके लिये सत् और असत् का विवेक भी अलग-अलग होता है, ऐसा व्यवहार में नहीं माना जाता। 'मुन्डे-मुन्डे मतिर्भिन्ना', यह प्रचलित है, किसी को मीठा अच्छा लगता है, किसी को खट्टा, किसी का हित उद्योग के सामाजिकीकरण में है, किसी का वैयक्तिक पूंजी-विनियोग के अमर्यादित होने पर, किन्तु इस रुचि-भेद से या हित-भेद से नैतिक प्रश्न गतार्थ नहीं होते।

नैतिकता की नियोगपरक या अभिरुचिपरक व्याख्या करने में प्रत्यक्ष-वादियों ने कोई नवीन मत प्रस्तुत नहीं किया है, उन्होंने एक पुरानी विचार-सरणि को एक नया तर्क प्रदान किया है। वह तर्क यह है कि ज्ञान केवल प्रत्यक्ष-विषयों का होता है अथवा अभ्युपगत का रूपान्तर से अनुवाद होता है। अतएव जहां आदर्शवादी नैतिक विचारक नैतिकता की अप्रत्यक्षविषयता से उसे विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान के अन्तर्गत करते हैं, आधुनिक प्रत्यक्षवादी उसी

तथ्य को नैतिकता की ज्ञानबाह्यता की सिद्धि के लिये प्रस्तुत करते हैं। पुराने प्रत्यक्षवादियों के लिये गणितादि की 'अनिवार्य' एवं 'सार्वभौम' प्रतिपत्तियों को समझाना टेढ़ी खीर थी। नये प्रत्यक्षवादियों ने इस अनिवार्यता को 'याथार्थ्य' से अलग कर इस कठिनाई का हल निकाल दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या नैतिकता का स्वरूप नैतिक-वाक्यों के आकार-प्रकार परखने से ही ठीक पता चल सकता है, आकारतः नैतिक-वाक्य निरूपणात्मक भी होते हैं, नियोगात्मक भी होते हैं, विध्यात्मक भी होते हैं—"पिता के लिये पुत्र की देखरेख करना उचित है" 'तुम (पिता) पुत्र की देखरेख करो', "पिता को पुत्र की देखरेख करनी चाहिए।" सार्थक होने पर यह आकार-भेद नैतिकता की ज्ञान, क्रिया और इच्छा, तीनों से अन्विति दिखलाएगा। दूसरी ओर इन प्रयोगों को समझने में अक्षरानुसारिता को छोड़ा भी जा सकता है और नैतिकता को मूलतः औचित्य-ज्ञान अथवा इच्छा-विशेष या संकल्पविशेष भी माना जा सकता है, और शेष अभिव्यक्तियों को इस मूल तत्त्व के रूपान्तर से उपचारतया सम्बद्ध। भाषा के प्रयोग की अप्रत्याशित स्वच्छन्दताओं को देखते हुए यह संदिग्ध है कि केवल उसका अवलोकन नैतिकता के तत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डालेगा।

स्टीवैन्सन के मत की आलोचना :

स्टीवैन्सन ने कार्नप की नियोगात्मता और एयर की मनोवृत्तिपरकता दोनों को जोड़ कर नैतिकता की एक रागपरक व्याख्या प्रस्तुत की है जिसके अनुसार "यह अच्छा है", इसका अर्थ दोहरा होता है—"मैं इसका अनुमोदन करता हूँ, तुम भी करो।"[१] नैतिक वाक्य-गत अनुमोदन विश्वास और मनोवृत्ति दोनों पर आधारित होता है और दूसरों को भी अपने साथ लेजाना चाहता है। फलतः नैतिक मतभेद अंशतः वस्तुविषयक विश्वासों के भेद पर निर्भर करते हैं और इस हद तक युक्ति द्वारा परिहार्य हैं, अंशतः वे रागात्मक भेद पर निर्भर करते हैं और इस क्षेत्र में उनका परिहार 'समझाने' के कौशल पर निर्भर करता है। स्टीवैन्सन शब्दों के निरूपणात्मक और रागात्मक अर्थों में भेद करते हैं। शब्दों की शक्ति या स्वभाव अंशतः व्यक्ति के संस्कारों पर आश्रित होते हुए भी शब्दों की भावोद्बोधकता को उनका रागात्मक अर्थ-प्रतिपादन का व्यापार कहा जा सकता है। नैतिक वाक्य शब्दों के इस रोगोद्बोधक व्यापार के द्वारा ही सार्थक हो पाते हैं। फलतः उनके प्रयोग

१ एथिक्स एंड लैंग्वेज, १६४४, पृ० ५१।

की सफलता अथवा नैतिक मत-भेद का परिहार न केवल अपने विश्वास के परत्र संक्रामरण अपितु मुख्यत: शब्दों के व्यंजनाकुशल प्रयोग के द्वारा होता है।

मूलतः यह मत नवीन न होकर बहुत ही पुराना है। अलंकारशास्त्रवादी सोफिस्ट-गरण और ह्यूम में इसके पूर्व रूप स्पष्ट देखे जा सकते है।[1] स्टीवैंन्सन ने इसके समर्थन में कोई नया तर्क प्रस्तुत नहीं किया है और न अपने विरोधियों के तर्कों का उत्तर दिया है। उन्होंने अपने मत के अनुसार 'नैतिक' वाक्यों के विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं, अपनी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-पद्धति को समर्थित करने के लिये उन्होंने एक भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त की कल्पना की है जिसमें भी कोई नवीनता नहीं है, और अपनी बात मनवाने के लिये वाग्मिता का सहारा लिया है, यद्यपि उनके शब्द 'न मित है, न सारवान्।' किन्तु उनके दंश में कोई कमी नहीं है। उनका कहना है "सोफिस्ट-गरण ने बहुत कुछ देखा जो प्लेटो ने नहीं देखा किन्तु उन्होंने पूरा नहीं देखा। प्लेटो के काल्पनिक सूर्य से—जो कि मनुष्यों को कुछ समय के लिये नहीं बल्कि सदा के लिये अन्धा रखेगा—उन्होंने अन्धा बनना अस्वीकार कर सामान्य वैज्ञानिक दृष्टि की प्रारम्भिक अवस्थाओं में यथार्थ के वे कठोरतर पक्ष पहिचाने जिन्हें रूमानी विचार-धारा ढ़क देती है।"[2] मूअर के विषय में उन्होंने कहा है कि मूअर को स्वयं अपने मत पर अन्ततः सन्देह होने लगा था।[3]

स्टीवैन्सन ने नैतिक शब्दों और वाक्यों के प्रयोग के नैतिक और व्यक्तिरिक्त सन्दर्भों में पर्याप्त भेद नहीं किया है। सामान्य सन्दर्भ में करना चाहिए', 'उचित' आदि का अनेकार्थक प्रयोग सुविदित है और उसके सन्दर्भ

---

१ स्टीवेंसन स्वयं अपने मत का मूलाधार ह्यूम और उनके उत्तराधिकारी नवीन प्रत्यक्षवादियों को मानते हैं। वे इस विषय में ह्यूम का निम्न उद्धरण देते हैं— "हमारी स्वीकृत कल्पना सीधी है। इसके अनुसार नैतिकता भावना से तय होती है। जो कोई मानसिक क्रिया या गुण द्रष्टा में अनुमोदन की अनुकूल भावना उत्पन्न करता है, उसे यह सद्गुण परिभाषित करती है। और उसके विपरीत को दुर्गुण।' ह्यूम से उद्धरण, वही, पृ० २७३ :

२ वही, पृ० १०६।

३ वही, पृष्ठ २६२, पादटिप्पणी, ४२।

के लिये स्टीवेंसन के द्वारा विश्लेषित अर्थ-द्वैत—अनुमोदनात्मक और प्रेरणात्मक-प्रायः पर्याप्त है। सामान्य जीवन, पत्रकारिता, कचहरी, राजनीति, सार्वजनिक वाद-विवाद आदि स्थलों में नैतिक-ध्वनि से युक्त शब्दों का प्रभावशाली प्रयोग एक कला है जिसे प्राचीन सोफिस्ट-गण सिखाते थे और जिसके विरोध से सुकरात ने अपनी चर्चा का श्रीगणेश किया था। स्टीवेंसन इस व्यवहार-क्षेत्र में अपने विश्लेषण से वैशद्य लाना चाहते हैं। 'कांग्रेस को मत दीजिए', 'इन्दिरा गांधी की नीति का समर्थन उचित है', 'हमारे पड़ौसी सज्जन हैं', 'विधवा-विवाह अनुचित है', 'युद्ध अनैतिक है', इत्यादि वाक्य सभी मिथ्याज्ञान पर आधारित होते हुए भी हमारे स्वार्थों के अनुकूल होने के कारण हमसे अनुमोदन प्राप्त कर उसे प्रचारित करने में व्यापृत हो सकते हैं। इन वाक्यों को समझने में हम सामान्यतः न केवल सच-झूठ का विचार करते हैं अपितु वक्ता के अभिप्राय को, उसके अव्यक्त अभिप्राय को भी, समझना चाहते हैं। इस व्यावहारिक सन्दर्भ में नैतिक प्रश्न शुद्ध नैतिक नहीं होते, अतएव नैतिकता का स्वरूप पहिचानने के लिये ये दृष्टान्त अनायास भ्रामक सिद्ध हो सकते हैं। 'सबको सच बोलना चाहिए', 'दया अच्छा भाव है', 'कर्त्तव्य का पालन इच्छापूर्ति से श्रेष्ठ है', 'ज्ञानी पुरुष श्रेष्ठ है' आदि वाक्य शुद्ध नैतिक वाक्य हैं। इन शब्दों में हम अपने अनुमोदन को वाक्य का अर्थ नहीं मानते। वस्तुतः इन वाक्यों का अर्थ किसी वक्ता की अपेक्षा ही नहीं रखता और इन वाक्यों की अर्थ-महिमा के समक्ष हम अपने आपको नगण्य ही समझ सकते हैं। जब मीमांसक गण धर्म-प्रतिपादक वाक्यों को अपौरुषेय और नित्य कहते हैं,वे शुद्ध नैतिक सत्य की आत्मनिर्भरता को व्यक्त करते हैं। हम नैतिक वाक्यों का अनुमोदन उन्हें नित्य मानने के कारण करते है, हमारा अनुमोदन उनके अर्थ अथवा उसके सत्य का कोई भाग नहीं होता।

निरूपणताविरोधियों में इस बात का अहसास कुछ नये लेखकों में देखा जा सकता है कि नैतिक-वाक्य सिर्फ नियोग,राग-द्वेष या मनोवृत्तिमें ही विश्लेष्य नहीं होते। उन्होंने यह प्रश्न किया है कि अनुमोदन आदि का ठीक अर्थ भी क्या है ? हेयर का कहना है "जिन वाक्यों में 'अनुमोदन' शब्द रहता है उनका विश्लेषण इतना कठिन होता है कि 'अनुमोदन' की धारणा के सहारे नैतिक निर्णयों के अर्थ को समझाना एक उलटी बुद्धि की बात लगती है। इसी तरह से 'आज्ञार्थक अभिव्यक्ति-प्रकार' : इम्पैरेटिव मूड या लोट्-

लकार : का अर्थ इच्छा, भाव या मनोवृत्ति के द्वारा समझना उलटी बात होगी।[1]

हेयर के मत की आलोचना :

इस वर्ग के लेखकों में यह मान्यता है कि 'नीति-वाक्यों का व्यापार न निरूपणात्मक है, न आदेशात्मक', न भावव्यंजनात्मक किन्तु उनका अपना व्यापार होता है जो सलाह, विधान, संस्तुति आदि में व्यक्त होता है। इस तरह के वाक्यों के विश्लेषण के लिये उनके प्रयोग के सूत्रों को स्पष्ट करना आवश्यक होता है।' उन्हें पुराना अपविश्लेषण अबुद्धिवादी लगता है। इस नयी दृष्टि में तीन प्रधान अभ्युपगम हैं—(१) यद्यपि नैतिक विचार में वस्तुपरक प्रतिज्ञाएं हेतु के रूप में प्रयुक्त हो सकती है, वे पर्याप्त नहीं होतीं। (२) किसी विशिष्ट कर्म को नीतिसंगत ठहराने के लिये प्रस्तुत की गई युक्ति सम्बद्ध विधि का आक्षेप करती है। (३) जहां विधि नैतिक मानी जाती है वहां वह साधारणीकरणीय मानी जाती है, यद्यपि साधारणीकरणीयता नैतिकता के लिये पर्याप्त नहीं है।[2]

हेयर के अनुसार नीतिशास्त्र नैतिक भाषा का तार्किक अध्ययन है। नैतिक भाषा प्रवर्तनात्मक है और उसका प्रयोजन कर्म-विचिकित्सा को दूर करना है। प्रवर्तनात्मक वाक्य केवल निरूपणात्मक वाक्यों से नहीं निकाले जा सकते। प्रवर्तनात्मक वाक्य के निष्कर्ष के लिये कम से कम वैसा वाक्य आधारभूत वाक्यों में होना चाहिए। प्रवर्तन को 'इच्छा की अभिव्यक्ति' आदि बताकर निरूपण के प्रकारान्तर में विश्लेषित करने को हेयर मूअर के 'प्राकृतिकता के हेत्वाभास' का रूपान्तर कहते हैं।[3] आधारभूत प्रवर्तक-वाक्य जो नैतिक तर्क में केन्द्रीय होते हैं, कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त या 'न्याय' कहे जा सकते हैं। ये सिद्धान्त अनुभव के द्वारा ही उपलब्ध हो सकते हैं किंतु ये वस्तुओं के परिज्ञान नहीं है। वे वस्तुओं के परिवेश में अपने विभिन्न कार्यों और अनुभूतियों के आधार पर अपने मानवीय बोध पर आधारित

---

१ हेयर, दि लैंग्वेज ऑव मौरल्स, १६६४, पृ० १२।

२ क्लीबैन्स्की, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६३।

३ ''प्राकृतिकता का हेत्वाभास''-हेयर, लैंग्वेज ऑव मौरल्स, पृ० ८४ प्र० : ''यदि च अच्छा चित्र है' का यह अर्थ माना जाता है कि 'च एक चित्र है और च क है' तो चित्रों की क होने के लिये प्रशंसा करना असम्भव होगा; यही कहना संभव होगा कि ''चित्र क है'' वही पृ० ८५।

सामान्य कल्पनाएं हैं जो मनुष्य को कर्म में दिशा-ज्ञान देती हैं । सामान्य नियोग और नैतिक नियोग में समानता इस बात की है ही कि दोनों ही सफल प्रवृत्ति के सिद्धान्तों पर आश्रित हैं किन्तु नैतिक नियोग मनुष्य की मानवीय सफलता की ओर उद्दिष्ट होता है ।

हेयर प्रेरणा-वाक्य को दो भागों में बांटते हैं—कार्यांश और प्रेरणांश । 'द्वार बन्द करो' में 'द्वार बन्द होना' कार्य है, 'करो' प्रेरणा है । कार्यांश एक सम्भाव्य स्थिति का निरूपण करता है, जिसको यथार्थ करने की प्रेरणा वाक्य का दूसरा अंश देता है । निरूपण-वाक्य में संभाव्य स्थिति की यथार्थता कही जाती है, प्रेरणा-वाक्य में संभाव्य स्थिति के विषय में "मैं क्या करूं ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है । जैसे वर्णन को स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जा सकता है ऐसे ही प्रेरणा को । किन्तु प्रेरणा की स्वीकृति उसके अनुसार कार्य करने को बाध्य करती है । इस प्रकार निरूपण और प्रेरण में जातीय भेद होते हुए भी एक तार्किक समानान्तरता है ।[1]

'कर्तव्य', 'औचित्य' और 'सत्' इन तीन नैतिक शब्दों में 'कर्तव्य' का अर्थ नियोग-वाक्यों में सबसे आसान ढंग से कहा जा सकता है । कर्म-विकल्प होने पर नियोग अवधारण के द्वारा कर्तव्य का ज्ञान कराता है । औचित्य को कर्तव्य के द्वारा कहा जा सकता है । 'सत्' में दो अर्थ रहते हैं—एक वर्णनात्मक, दूसरा प्रशंसनात्मक । नैतिक प्रयोग में पहला साक्षात् अपेक्षित नहीं होता किन्तु जब हम किसी पदार्थ में प्राशस्त्य देखते है तो अवश्य ही हम एक प्रशस्त रूप को मानदण्ड के समान बुद्धिस्थ रखते हैं । यह 'प्रशस्त रूप' वस्तु से ऐसे सम्बद्ध होता है जैसे कारक शब्दों से उनकी व्यापार-क्षमता । उदाहरण के लिये 'पाचक' की तारीफ उसकी दीखने वाली सूरत से न होकर उसके काम की खूबी या सीरत में होती है । मनुष्य की अच्छाई

---

१ 'यदि हम यह समझें कि आदेश, वर्णनों से कितने भी भिन्न हों, इसमें उनके समान हैं कि वे किसी को कुछ बताते हैं, न कि उसको प्रामाणित करना चाहते हैं, तो आदेशों और नैतिक वाक्यों के बीच समानता की ओर ध्यान दिलाने में कोई हानि नहीं है ।" (हेयर, **लैंग्वेज, आॅव मौरल्स**, पृ० १५) फ्रेस्टिक-सम्भाव्य-निर्देश, और न्यूस्टिक, यथार्थता या कार्यता का निर्देश (पृ० १८) । नियोगात्मक निष्कर्ष के लिये न्यायवाक्य में नियोगात्मक वाक्य होना आवश्यक है—पृ० २८ ।

उसकी उन खूबियों में होती है जिनसे वह मानवीय कामों में सफलता प्राप्त कर सके। अच्छाई एक सहज वस्तुगत गुण न होकर उन पर आश्रित एक विशेषता है।[1]

हेयर में अनेक पुराने मत एक विचित्र संयोग में मिलते हैं–अरस्तु की धारणा कि मनुष्य की अच्छाई उसके विशिष्ट कर्म का उत्कर्ष है, आजकल की प्रचलित धारणा कि नैतिक चेतना एक बदलते समाज का प्रतिबिम्ब है,[2] मूअर की धारणा कि नैतिक और तद्व्यरिक्त तत्व मूलतः पृथक् हैं, कार्नप की धारणा कि नैतिक वाक्य नियोगात्मक है, नैतिकता को समझने के लिये वाक्य–विश्लेषण की पद्धति का स्वीकार। हेयर ने नैतिकता की पृथक्ता 'नियोगात्मक' और 'प्रशंसात्मक' अर्थों की शुद्ध वस्तु-वर्णनात्मक अर्थों से विशिष्टता पर आधारित की है। हेयर के मत का यह पक्ष तो पद और वाक्य के विश्लेषण पर निर्भर करता है। किन्तु हेयर के मत का दूसरा पक्ष मनोवैज्ञानिक है–जिसमें वह मानवीय स्वभाव, अनुभव, कर्म और करण की जटिल प्रक्रिया का विकास बताते हैं और जिसमें नियोगात्मक और प्रशंसात्मक सूत्र दिशा बताते हैं। साक्षात् रूप से शंसन और आदेशन रूचि अथवा इच्छा की व्यक्ति न भी हों तो भी उन्हें परम्परया उन पर अथवा विवेक पर आधारित मानना होगा और यह हेयर के मत के मनोवैज्ञानिक पक्ष के अनुकूल होते हुए भी उसके वाक्य-विश्लेषणात्मक पक्ष के

---

१ "मैंने यह कहा है कि 'सत्' शब्द का मूल व्यापार शंसन (प्रशंसन) है। अतः हमें यह पूछना चाहिए कि 'प्रशंसन का क्या अर्थ है?' जब हम किसी बात की प्रशंसा या निन्दा करते हैं तो सदैव, कम से कम परम्परया, अपने या औरों के वर्तमान के या भविष्य के, विकल्पों के बीच चुनने में पथ-प्रदर्शन के लिये कहते हैं। (वही पृ० १२६) नीति (उदा० 'सेना में किसी काम के लिये नाम देना ठीक नहीं है') और धर्म (उदा० 'अपना वचन नहीं तोड़ना चाहिए') में भेद का आधार उन सन्दर्भों का भेद है जिनके अन्दर तुलनापूर्वक हम किसी व्यक्ति या उसके कर्मों का शंसन करते हैं"। वही, पृष्ठ १४४। नैतिक शंसन में सत् शब्द का उपयोग सदा ही साक्षात् या परम्परया लोगों के शसन में होता है।" (वही)

२ "नैतिकता फिर से तब ऊर्ज्वस्वनी होती है जब सामान्य जनता स्वयं अपने लिये नये तौर से यह तय करती है कि किन सिद्धान्तों से जिया जाय और कौनसे सिद्धान्त अपने बच्चों को सिखाए जाएं।" वही पृ०, ७३। सत् एक परतन्त्र धर्म =सुपरवीनियेन्ट पृ० ८०।

लिये बाधक है। हेयर का वाक्य-विश्लेषणात्मक पक्ष मनोवैज्ञानिक तत्वों को छोड़कर नैतिक और नीति-व्यतिरिक्त का भेद ही कठिन कर देता है। नैतिकता को आदेश-वाक्य और अन्ततः निर्देश सिद्धान्तों के आधार पर समझने में कोई दोष नहीं है यदि हम उसके मनोवैज्ञानिक परिवेश को न भूलें। किन्तु हेयर में कानून, रूढ़ि, इच्छा और नैतिक कर्तव्य के आदेशों में भेद अनुपलब्ध या अविचारित है। 'मोर को मत मारो,' यह आदेश कानून की अभिव्यक्ति हो सकती है, रूढ़ि की, वक्ता अथवा आरक्षी की इच्छा की, और अहिंसा के एक उदाहरण की। हेयर का यह कहना कि आदेश इच्छा की अभिव्यक्ति से नितान्त भिन्न है, प्रमाण-विरुद्ध है। आदेश के पीछे प्रयोजन और हेतु के भेद से चेतना के कितने भिन्न आयाम हैं, इसका उन्होंने विश्लेषण नहीं किया है। और फिर उनके विवेचित कार्य-निर्देश के सिद्धान्तों में 'मोटर चलाने के सिद्धान्त,' 'सफलतापूर्वक जहर देने के सिद्धान्त' और 'सदाचारी जीवन बिताने के सिद्धान्तों' में मौलिक भेद ही नहीं दीखता।[1]

जहां कार्नप और एयर नैतिकता को ज्ञान-व्यतिरिक्त और वैयक्तिक प्रवृत्तिमात्र मानते हैं, स्टीवेंसन और हेयर नैतिकता को ज्ञान-व्यतिरिक्त मानते हुए भी उसे युक्ति-प्रतिपाद्य स्थापित करते हैं। इन युक्तियों का आधार सामाजिक संस्कारों और प्रयोजनों के सन्दर्भ में उपात्त अनुभव ही कहा जा सकता है। साक्षात् अथवा परम्परया ये सभी मत अनुभववाद या प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत होते हैं। इनमें नीति और धर्म, रूढ़ि और कानून, इनमें आकारिक भेद स्वीकार होते हुए भी मूलतः ये सभी सामाजिक सन्दर्भ में कर्म-निर्देश करते हैं।

क्या नैतिक सत् स्वार्थरूपी हेतु से निर्धारित होता है ?

'मनोवैज्ञानिक स्वार्थवादी' कहते हैं कि इन सभी कर्म-निर्देशों में साध्य नित्य-व्यवस्थित रहता है और वह है प्रत्येक व्यक्ति का सहज स्वार्थ। फलतः रूढ़ि हो या कानून, धर्म हो या नैतिकता, सभी अन्ततः एक नीति या

---

१ तु० "इसका यह अर्थ नहीं है कि नैतिक सिद्धान्तों में और सफलतापूर्वक विष-प्रदान के सिद्धान्तों में कोई भेद नहीं है। जैसा हमने देखा, हम मनुष्य होने से बाहर नहीं हो सकते, और इसलिये नैतिक सिद्धान्त जो मनुष्य के मनुष्य की हैसियत में आचरण के सिद्धान्त है—न कि विषप्रदायी या शिल्पी या बल्लेबाजी की हैसियत में—उन्हें अपने आचरण से सम्बद्ध माने बिना हम स्वीकार नहीं कर सकते।" वही (पृ० १६६)।

उपायमात्र ही हो सकते हैं। जब एक व्यक्ति या समाज दूसरे की अपेक्षा अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है, तो उसे सभी नीति या 'उपायविद्या' कहते हैं। जब व्यक्तियों की सहज और अपरिहार्य स्वार्थ-प्रवृत्तियों के संघर्ष को एक सामुदायिक संवाद में बदलना होता है तो उपयुक्त नीति कानून और नैतिकता के रूप धारण करती है। स्वार्थ जीवन का सहज साध्य है, नीति उसकी प्राप्ति का बुद्धि से सुचिन्तित उपाय है। व्यक्ति-संघर्ष का कथंचित् स्थगन कर सामुदायिक जीवन को जन्म देने वाली नीति ही केवल लोकापवाद के भय से समर्थित होने पर सामाजिक रूढ़ि या प्रथा, राजदण्ड से समर्थित होने पर कानून, ईश्वरीय दण्ड के भय से पालनीय होने पर 'धर्म' और अहेतुक आन्तरिक बाध्यता के भाव से समर्थित होने पर नैतिकता कही जाती है।

सहज स्वार्थ क्या है? सर्वप्रथम प्राण-रक्षा, और फिर वे सब स्थितियां जो प्राण के अनुकूल हैं और जैव स्तर पर प्रायः सुख के रूप में पहिचानी जाती हैं, उनकी प्राप्ति एवं उनके विपरीत का परिहार, तीसरे स्थान में शक्ति जिससे अभीष्ट की प्राप्ति हो सके और उसकी हानि रोकी जा सके, एवं कीर्ति जिसकी प्रत्येक मनुष्य को सहज अभिलाषा होती है। सुरक्षा, सुख, शक्ति और कीर्ति, इनकी खोज में मनुष्य अथक लगा रहता है और इन्हें अन्तहीन रूप में चाहता है। सहज स्वार्थ की खोज अन्तहीन संघर्ष की ओर ले जाती है किन्तु जो बुद्धिकौशल स्वार्थ-सिद्धि के उपाय खोजने से प्रारम्भ हुआ वही इस संघर्ष से मनुष्य को बचाता भी है। बुद्धि की सलाह मनुष्यों को पारस्परिक स्वार्थों की और अधिक सुरक्षा के लिये एक व्यक्त या अव्यक्त सामाजिक समझौते की ओर ले जाती है। नितान्त स्वार्थ से प्रारम्भ कर बुद्धि-संगतता, पारस्परिकता, समझौता, वचनबद्धता, नियमानुवर्तिता आदि सामाजिक-नैतिक तत्त्वों का इस दृष्टि में उदय एक प्रकार के बौद्धिक व्यापार या 'कल्पित इतिहास' के माध्यम से किया जाता रहा है।

हौब्स इस मत का प्रतिनिधि कहा जा सकता है।[1] उसका मनुष्य एक सामान्य मानव प्राणी है जो औरों को अपने बराबर और प्रतिद्वन्द्वी मान कर उनसे भयभीत रहता है। वह अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिये अपने को उनसे अधिक शक्तिशाली बनाना चाहता है। स्वभावतः स्वार्थी होते हुए भी वह बुद्धि के द्वारा अपने और औरों के लक्ष्यों, सामर्थ्य

---

१ द्र० हौब्स, लैवायथन, भाग एक, अध्याय–११–१५।

और दुर्बलताओं की समानता देख कर यह विचार अपनाता है कि पारस्परिकता के आधार पर सबके द्वारा बराबर त्याग सबके लिये हितकारी है क्योंकि वह संदिग्ध अमर्यादित लाभ के स्थान पर निश्चित मर्यादित लाभ को रखता है। सामाजिकता स्वार्थबुद्धि की ही एक तरकीब है, और नैतिकता एवं कानून सामाजिकता के ही पक्ष हैं। नैतिकता यहां प्रबुद्ध स्वार्थ से 'परस्पर हित के लिये बराबर स्वार्थ-त्याग की वचनबद्धता' के रूप में उत्पन्न होकर उस पर आधारित सामुदायिक नियमों के अनुसरण की बाध्यता के रूप में परिणत होती है। गैर-नैतिक मनुष्य की बुद्धि से उपज कर नैतिकता समाज-निर्माण का आधार बन जाती है।

स्पिनोजा के 'सहज स्वार्थवाद' में मनुष्य देही के अतिरिक्त बुद्धिजीवी भी है और उसका विशिष्ट मानवीय स्वार्थ साक्षात्कार-पर्यवसायी 'विशद और युक्त' ज्ञान की प्राप्ति है। जहां एक ओर प्राण-रक्षा का अभिनिवेश मनुष्य के लिये सहज है, और सुख–दुःख उसके लिये लक्ष्य न होकर लक्षण-मात्र हैं, दूसरी ओर जिज्ञासा उसके लिये उतनी ही सहज है। सुख और दुःख के विषय में भी स्पिनोजा ने आंशिक और सार्वांगिक का भेद किया है। सुख-संवेदन शरीरांशिक सुख है, सौमनस्य सर्वांगीण प्राण की वृद्धि का लक्षण है, ऐसा ही भेद दुःख के विषय में भी किया हुआ है। स्पिनोजा के लिये विशद और युक्त' ज्ञान सलक्षण, सहेतुक और युक्तियुक्त ज्ञान है। इस प्रकार के ज्ञान को वह 'उत्तर–कोटिक ज्ञान' कहता है, जबकि 'प्रथमावस्थिक ज्ञान' में वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कल्पना, मति आदि को रखता है। ज्ञान की दो अवस्थाओं के समानान्तर ही भाव की दो अवस्थाएं हैं—विक्रियात्मक एवं क्रियात्मक।[1] विक्रियात्मक भाव जिनमें मनुष्य विकार्यमात्र होता है प्रथमावस्थिक ज्ञान के समान अपने हेतुओं के बोध से रहित होता है। यह स्थिति भय, द्वेष, उत्कट राग, ईर्ष्या आदि उद्वेगों में होती है। ये विकार मनुष्य के बन्धन हैं। क्रियात्मक भावों में मन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट ज्ञान से युक्त होता है। इन सक्रिय भावों में दो मुख्य हैं—'अनिमोसितास' या प्रबुद्ध-आत्मका[illegible]' और 'गैनेरोसितास' या 'प्रबुद्ध उदारता या परोपकारिता'। 'सक्रिय भावों' और 'उत्तरावस्थिक ज्ञान' की अवस्था मनुष्य की मुक्ति की अवस्था है। सर्वोत्तम ज्ञान परम सत् का साक्षात्कार या स्वतः सिद्ध ज्ञान है और यह ज्ञानात्मक संराधन या 'बौद्धिक प्रेम' ही मनुष्य जीवन की सर्वोच्च

---

१ स्पिनोजा, ऐथिक्स, २.३६–४२; ५.३।

दशा है।[1] स्पिनोजा पुरुषकार अथवा कर्म-स्वातन्त्र्य को नहीं मानते और व्यक्ति को अनिवार्यता स्वार्थी मानते हैं।[2] तो भी उनकी मनुष्य के 'स्व' की व्याख्या ऐसी है कि उनके लिये मुख्य 'स्वार्थ' ज्ञान एवं प्रबुद्ध भाव बन जाता है। पुरुषकार न मानते हुए भी वे मनुष्य की मूढभावों से ज्ञानार्जित मुक्ति के पक्षपाती हैं। उनके लिये नैतिकता का आधार यह नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना साध्य माना जाय बल्कि उनके लिये प्रत्येक अन्य को अपने-लिये साधन ही मान सकता है। उनके लिये नैतिकता का आधार मनुष्य की बुद्धि-प्रधानता और सत्यार्थिता है। बुद्धि स्वभावतः समदर्शिनी और सार्वभौम, नित्य और समग्र के दर्शन के लिये उत्सुक, एवं सामाजिक होती है। वह एक ओर समाज का आक्षेप करती है, दूसरी ओर मनुष्य को सत् का द्रष्टा बनाती है। "ते हि अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।"

हौब्स का भोगार्थी मानव और स्पिनोजा का ज्ञानार्थी मानव 'अतिमात्र बौद्धिक हैं' और उनकी 'सहज असामाजिकता' निरी कल्पना है। मनुष्य का स्वभाव किसी सिद्धान्त के अनुरोध से सीधा सपाट न बना देना चाहिए, ताकि सामाजिकता और नैतिकता को कृत्रिम व्यवस्थाएं मानना पड़े, जो कि स्पष्ट ही अनुभव-विरुद्ध है।

हौब्स और स्पिनोजा मनुष्य को चेतन प्राणी के रूप में अन्ततः एक अणु-सत्ता मानते हैं। यह अणु-सत्ता अन्य सत्ताओं के साथ एक दोहरे सम्बन्ध से जुड़ी है। ज्ञान उसे द्रष्टा बनाता है, भोग उसे विकार्य और कर्ता। भोक्ता और कर्ता के रूप में मनुष्य कार्य-कारण-नियमों के अधीन है, और इन नियमों को ज्ञान के द्वारा पहिचान सकता है। हौब्स के अनुसार भोग ही मनुष्य का अर्थ है और ज्ञान साधनमात्र; मनुष्य का कर्तव्य भी प्राकृतिक प्रवृत्ति के साथ तादात्म्य के रूप में ही है। समस्त विश्व ही नाना भौतिक पिण्डों की गतियों से निर्मित है और प्रत्येक पिण्ड की गति कारण-शृंखला के अन्तर्गत है। मानव-व्यक्ति की भी ऐसी ही स्थिति है। उसके अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध गतिकारणिक होते हैं। सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि इन गतिकारणिक सम्बन्धों के कुछ विदित घटक हैं। व्यक्ति-पिण्डों से समाजरूपी अधिपिण्ड के निर्माण को हौब्स इन्हीं गतिकारणिक सम्बन्धों और घटकों पर आश्रित मानते हैं। इस प्रक्रिया में आरम्भ से अन्त तक

---

१ वही, ५.३३–३८।

२ वही, २.४८।

नैतिकता से अछूती प्राकृतिक क्रियाओं और कारणों का व्यापार है। मनुष्य का अन्तरंग जीवन भी यहां बहिरंगवत् निरुपित है। कर्म का नियामक संकल्प और संकल्प का नियामक उसका विषय, दोनों ही इस निरुपण में मनुष्य के किसी आध्यात्मिक या शुद्ध बौद्धिक 'स्व' के अधीन होने के स्थान पर पिण्ड–समभिघात, अनुकूल–प्रतिकूल प्रतिक्रिया आदि पर निर्भर करते हैं। हौब्स मनुष्य के मनोवैज्ञानिक, नैतिक, सामाजिक जीवन को एक भौतिक याँत्रिक दृष्टि से देखते हैं और उसमें व्याप्त नियमों को अन्ततः कारणतामूलक मानते हैं और उनके लिये व्यक्ति इस कारण-जाल की गांठें मात्र हैं। जैसे एक अणु के अन्य अणुओं से सम्बन्ध नितान्त बाहरी और आकर्षण-विकर्षण मय होते हैं, ऐसे ही व्यक्तियों के भी। व्यक्तियों के एक स्वाधीन अन्तःसम्बन्ध के रूप में नैतिकता हौब्स के लिये सम्भव नहीं है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हौब्स के लिये किसी प्रकार की व्यवस्था सम्भव नहीं है। पर जिस ढंग की व्यवस्था की हौब्स कल्पना करते हैं, वह निरी काल्पनिक है। मानव अणु बिना भाव के स्थिर रूप से नहीं जुड़ सकते और यह भाव भयमात्र नहीं हो सकता।

स्पिनोजा में सभी विकृतियां एक अद्वय प्रकृति के अन्तःसूत्र से जुड़ी हुई हैं और मानव-व्यक्ति द्रष्टा के रूप में इस अखण्ड सत् में अपना मूल और परमार्थ उपलब्ध करता है। इस उपलब्धि की महिमा में उसकी अणुता लुप्तवत् हो जाती है। दूसरी ओर विश्व की नियत व्यवस्था में कहीं भी व्यक्ति के स्वतंत्र कर्तव्य के लिये स्थान नहीं है। इस स्थिति में विधि-निषेध धर्माधर्म, किसी का भी कोई आध्यात्मिक मूल नहीं है, और न ये प्राकृतिक हैं। इस प्रकार के तथाकथित नैतिक नियम केवल राजशासन पर ही आधारित हो सकते हैं।

नैतिकता और उपयोगिता

हौब्स और स्पिनोजा के समान ह्यूम के लिये भी नैतिकता एक तरकीब या उपाय है किन्तु वह कोरी बौद्धिक नहीं है। मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी भी है, परार्थी भी। यह मिश्रित स्वभाव ही उपयोगिता के पथ पर नैतिक नियमों को जन्म देता है। हौब्स और स्पिनोजा तत्व–निरूपण को अर्थ–निरुपण के लिये पर्याप्त आधार मानते हैं। ह्यूम ने[1] पहले पहल इस बात का खंडन किया कि वस्तुतत्व का ज्ञान या कथन स्वयं किसी प्रकार का

---

१ एन एन्क्वायरी कन्सर्निंग दि प्रिन्सीपल्स ऑव मौरल्स।

साध्य-निर्णय दे सकेता है। गणितादि में उपलब्ध आकारिक सामान्यों का ज्ञान एक बात है, प्रत्यक्ष-मूलक वस्तु-निर्णय दूसरी बात है, और भावना-मूलक अर्थ निर्णय या साध्य-निर्णय तीसरी बात है। मनुष्य में सहज अनु-मोदन एवं अपनोदन के भाव हैं और इनके विषय ही सत और असत् कहलाते हैं। व्यवहार से यह पता चलता है कि अनुमोदन उन विषयों का किया जाता है जो अपने को या औरों को तत्काल या कालान्तर में सुख देते हैं। दूसरों के सुख-दुःख के प्रति मनुष्य सहज रूप से सहानुभूति रखता है और घटनाओं एवं कार्यों के परिणामों का बुद्धिपूर्वक विवेचन करता है। अन्ततः अधिक सुखावह परिणाम उत्पन्न करना ही किसी चीज की उपयोगिता है। अतः सत् और असत् अन्ततः उपयोगी और अनुपयोगी सिद्ध होते हैं।

नवीन प्रत्यक्षवादी और सहज स्वार्थवादी विचारक मानवीय स्वभाव एवं विश्व-रचना में नैतिकता का कोई मूल आधार नहीं पाते हैं। उन्हें नैतिकता में एक तरकीब या वाक्य प्रकार मिलता है जो अन्ततः गैर नैतिक तत्त्वों में विश्लेष्य होता है। ह्यूम ने, जिन्हें नवीन प्रत्यक्षवादी अपना मूल आचार्य मानते हैं, जिस मत की उद्भावना की है, वह नैतिक और विनैतिक का भेद एक मौलिक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति पर आधारित मानता है और उसमें भावना एवं विवेचन दोनों का ही मिला जुला स्थान स्वीकार करता है। इस सब में न 'सत्' अविश्लेष्य गुण है, न सर्वथा विश्लेषण-शून्यीकार्य प्रतीति है। वह नैतिक भावनाओं के उपयोगिता-विवेचन से परिष्कृत रूप के विषय का विशेषण है। सत् को मूल्यांक कह सकते हैं जहां मूल्य-निर्धारण भाव और विवेक के संयुक्त व्यापार से होता है। व्यक्ति यहां भी पृथक्-पृथक् अणु है। और किसी अतिवैयक्तिक मानस का यहां स्वीकार नहीं है, तथापि यहां व्यक्तियों को बीच कोई अलंघ्य दीवार नहीं है। जैसे अणुओं का रचना-साम्य उनमें एक सहस्पन्दनीयता उत्पन्न करता है ऐसे ही व्यक्तियों के बीच सहानुभूति का सूत्र उनमें सामाजिकता का सहज बीज है। इसी के कारण सुख-दुःख की अनुभूतियां स्व-पर-भेद का अतिक्रमण कर उपयोगिता के सामान्य विवेचन का अंग बनती हैं। इस दृष्टि में नैतिकता कर्मों के सुख-दुखात्मक परिणामों के विवेचन पर आधारित होती है।

सामाजिक हितों के व्यावहारिक निर्णय के लिये इस दृष्टि की उप-योगिता व्यवहार सिद्ध है किन्तु इसकी तात्विक कमियां उतनी ही प्रसिद्ध हैं। किसी कार्य को उसके परिणामों से जांचने में हम उसके अभिप्रेत परि-णाम देखेंगे या उसके वास्तविक परिणाम ? प्राणरक्षा के लिये की गई शल्य-चिकित्सा का वास्तविक परिणाम प्राण-हानि हो सकती है, और प्राण

दण्ड दिलाने के लिये दी गई झूंठी गवाही कभी छुटकारा पाने का कारण बन सकती है। ऐसी स्थितियों में स्पष्ट ही हम नैतिक निर्णय अभिप्राय के आधार पर करते हैं, न कि परिणाम के आधार पर। ऐसे ही किसी कार्य के तात्कालिक और कालान्तरीय परिणामों में भी बहुत विरोध हो सकता है। औषध, शल्य-चिकित्सा, युद्धनीति, अर्थनीति आदि में यह परिणाम-वैपरीत्य बहुधा सोचना पड़ता है और एक संदिग्ध स्थिति में ही निर्णय लेना पड़ता है। सुदूर परिणामों का हिसाब लगाने में एक दोहरी सन्दिग्धता रहती है। परिणाम-परम्पराएं अन्य परिणाम-परम्पराओं से अलग नहीं रह पातीं और स्वयं प्रतिक्रिया के रूप में अपने विरोधी परिणामों को जन्म देती हैं। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में प्रत्येक नीति प्रतिद्वन्द्वी की नीति में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। जहां तक कार्य के परिणाम पहले से देखे जा सकते हैं और कार्य को उपयोगी सिद्ध करते हैं, वहां तक वे प्रतिद्वन्द्वी के द्वारा भी देखे और विफल किये जा सकने के कारण उस कार्य को अनुपयोगी भी सिद्ध करते हैं। वास्तविक परिणामों की संदिग्धता के कारण कार्यों में एक जोखिम रहता है जिसका हिसाब लगाने के लिये 'क्रीडा-सिद्धान्त' (गेम-थियरी) एक नये प्रकार का सूक्ष्म और जटिल नीति-विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जहां परिणाम भौतिक और स्पष्टतः प्रत्यक्षीकार्य अथवा मेय होते हैं, वहां तक ये नवीन परिष्कार 'भविष्य की संदिग्धता' का भी हिसाब लगा सकते हैं, किन्तु जहां परिणाम मानवीय भावों को प्रभावित करते हैं उनकी इस प्रकार की गणना सम्भव नहीं है और यह स्पष्ट है कि नैतिक क्षेत्र में इस प्रकार के परिणाम विशेष महत्व रखते हैं। फलतः व्यावहारिक नीति-निर्णय में परिणाम-विवेचन बहुत उपयोगी होते हुए भी नैतिक विवेचन में उतना उपयोगी नहीं है। व्यावहारिक निर्णय प्रत्यक्ष परिणामों से बदले और सुधारे जाने की स्थिति में होते हैं, जबकि नैतिक निर्णयों में इस प्रकार की प्रत्यक्ष संस्कार्यता विरल होती है। बिना संकल्प-चेतना के पूरी तरह से असंदिग्ध हुए निर्णय पूरी तरह से नैतिक हो ही नहीं पाता।

संदिग्धता के प्रश्न को छोड़ने पर भी उपयोगितावाद की कठिनाइयां दूर नहीं होतो। परिणामों का विवेचन किस कसौटी पर किया जाएगा? बैन्थम ने इस कसौटी को सुख और दुःख की मात्राओं का अन्तर बताया था।[1] किन्तु उसी व्यक्ति में भोगावस्था के अनुसार उसी विषय से सुख और

---

१ द्र० बैन्थम, एन इन्ट्रोडक्शन टु दि प्रिन्सिपल्स आव मौरल्स एन्ड लेजिस्लेशन, अध्याय १।

दुःख की अनुभूत मात्रा में परिवर्तन होता रहता है और विभिन्न व्यक्तियों में अनुभूतियों की तुलनीयता का अर्थ ही स्पष्ट नहीं होता। इन दोनों कठिनाइयों को–सुख की आवस्थिक और वैयक्तिक सापेक्षता को छोड़ने पर भी एक अपरिहार्य आपत्ति शेष रहती है। सुखों में मात्रा के अतिरिक्त गुण-भेद भी देखा जा सकता है। उत्कृष्ट सुख की कम मात्रा और निकृष्ट सुख की बहुत मात्रा, इनमें कौन श्रेष्ठ है? सुख में गुण-भेद मानते ही सुख स्वयं निरपेक्ष रूप में मूल्य नहीं रहता और उसके साथ ही सुखोत्पादकता रूप उपयोगिता मूल्य-विवेचन की पर्याप्त कसौटी नहीं रहती।[१]

उपयोगिता वस्तुतः व्यवहारिक मूल्य का मान है, न कि शुद्ध नैतिक मूल्य का। अभीष्ट-पूर्ति व्यावहारिक मूल्य का स्वरूप है जिसमें प्रबुद्धता व्यक्ति और समाज, तत्काल और दीर्घकाल के बीच सेतु बनती है। इस प्रक्रिया में जहाँ तक वैयक्तिक स्वार्थ का समुदाय के लिये और प्रवृत्ति का बुद्धि के लिये त्याग किया जाता है, वहां तक ही नैतिकता का आक्षेप होता है। व्यावहारिक और सामाजिक नीति-निर्णय के सिद्धान्त से उपयोगिता को ऊपर उठाकर सार्वभौमिक स्तर पर नैतिकता का एकमात्र सिद्धान्त बताना उपयोगितावादियों की भूल रही है। इस प्रयत्न में उन्होंने प्रबुद्धता के द्वारा व्यक्ति के तत्काल स्वार्थ के संकीर्ण घेरे को भेदने का प्रयत्न किया है किन्तु उनकी अणुवादी व्यक्तित्व की धारणा और कोरी हिसाबी बुद्धि की धारणा उन्हें इस प्रयत्न में सफल नहीं होने देती। हौब्स स्वार्थ और बुद्धि के संयोग को आनुबन्धिक नैतिकता का मूल बताते हैं और आनुबन्धिक नैतिकता को भय से समर्थित कर सामाजिक-व्यावहारिक नियमवर्तिता का आधार कहते हैं। ह्यूम तात्कालिक सुख-बोध या अनुमोदन, सहानुभूति एवं परिणाम-विवेचन को संयुक्त रूप से नैतिकता का मूल कहते हैं। बैन्थम, मिल और सिजविक व्यक्तिगत सुख की सद्रूपता प्रत्यक्षसिद्ध (सिजविक इसके समर्थन में 'तर्क' भी प्रस्तुत करते है), और सामाजिक सुख की सहृदयता को इस प्रत्यक्ष एवं बुद्धि के सहारे साध्य मानते हैं। व्यक्तिगत सुख का लक्षण सामाजिक सुख में किस प्रकार संक्रान्त होता है, इस पर इन विचारकों ने अनेकधा युक्ति प्रस्ताव किया है। मिल का कथन है "क्यों सामान्य सुख अभीष्ट है,

---

२ जैसा सुविदित है स्वयं जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस कठिनाई को स्वीकार किया है—**यूटिलिटेरियनिज्म**, अध्याय–२; सुखों के गुणभेद को तय करने के लिए उनकी कसौटी है—'दो सुखों में यदि दोनों के अनुभवी लोग स्वच्छन्दता से एक का निश्चयात्मक वरण करते हैं, तो वह उन दो में अधिक एषणीय सुख है।' (**वही**)।

इसका सिवाय इस बात के कोई कारण नहीं दिया जा सकता कि प्रत्येक व्यक्ति जहां तक वह उसकी प्राप्ति सम्भव मानता है, अपने सुख को चाहता है, किन्तु इस तथ्य के स्वीकार होने पर, 'सुख हित है,' इसकी सिद्धि के लिये यथासम्भव और यथेष्ट प्रमाण हमें उपलब्ध है—प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिये हित है, अतएव सामान्य सुख सब व्यक्तियों के समुदाय के लिये हित है।" "चूंकि 'क' का सुख हित है, 'ख' का सुख हित है' 'ग' इत्यादि का सुख हित है, अतएव इन सब हितों का समूह भी हित होगा।"[1] यह तर्क स्पष्ट ही समासात्मक' हे त्वाभास है-व्यक्तिगत गुण व्यक्ति-समूह के गुण नहीं हो जाते।

सिजविक नीतिशास्त्र के मूल में तीन स्वत: सिद्ध सत्य मानते हैं- अवैषम्य : 'हम जिस कार्य को अपने लिये ठीक मानते हैं उसे अर्थापत्ति से समान अवस्था में अन्य सब समान व्यक्तियों के लिये भी ठीक मानते हैं;' प्रबुद्ध स्वार्थ : 'प्रत्येक को अपने सर्वांगीण सुख के लिये चेष्टा करनी चाहिए' ; प्रबुद्ध परोपकारिता–'विश्व की दृष्टि से एक व्यक्ति का हित औरों के हित से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और इसलिये एक विवेकी प्राणी होने के नाते मैं इसके लिये बाध्य हूँ कि जहां तक सम्भव है मैं सामान्य हित के लिये प्रयत्नशील बनूं, न कि सिर्फ उसके एक अंश के लिये।'[2] स्वार्थ और परोपकार की संगति को सिजविक एक मूलभूत स्वतः सिद्ध सत्य मानते हैं। 'रेखा गणित और अंकगणित के स्वत: सिद्ध सत्यों की भांति ही मैं इस बात को निस्संशय रूप से और स्पष्टतया देखता हूँ कि मेरे लिये औरों से वैसा बर्ताव करना ठीक और युक्त है जैसा उन परिस्थितियों में मैं अपने साथ किया जाना ठीक समझूंगा। ऐसे ही मेरे लिये वह करना ठीक है जो अन्तत: सबके हित और सुख के लिये ठीक हो।' सिजविक के द्वारा प्रस्तावित उपयोगिता और स्वत: सिद्धता का यह अपूर्व संयोग मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद के अनुरूप नहीं रहता।

अभी तक समीक्षित, और नैतिक सत् में एक पृथक् सार्थकता स्वीकार करने वाले मतों में मूअर और रौस नैतिक सत् को अप्राकृतिक पर वास्तविक विषय बताते हैं, हौब्स और स्पिनोजा नैतिक सत् और असत् के भेद को अप्राकृतिक पर काल्पनिक बताते हैं, सुख-संवेदनवादी और उपयोगितावादी नैतिक सत् को प्राकृतिक एवं वास्तविक बताते हैं। इन मतों के विवेचन से निम्नांकित तथ्य उपलब्ध होते हैं—

---

१ डेविडसन, दि यूटिलिटेरियन्स पृ० १८४-८५।
२ सिजविक, दि मैथड्स आव एथिक्स।

१. नैतिक बोध के कर्म-विचिकित्सा के समाधान होने के कारण उसमें विवेकपूर्वक निश्चयात्मकता और अतएव ज्ञानात्मकता स्वीकार करनी होगी। २. इस ज्ञान में विषय, विधि और औचित्य का अन्वय होता है। किन्तु ३. बुद्धिग्राह्य पर अतटस्थ होने के कारण नैतिक ज्ञान मूलतः न ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष है, न तर्क। अतएव ४. नैतिक ज्ञान में एक प्रकार का मानसिक प्रत्यक्ष, युक्तिबोध एवं शाब्द-बोध समुचित मिलते हैं। मानसिक प्रत्यक्ष भावात्मक होने से ५. नैतिक बोध को सुखानुभूति से जोड़ता है, किन्तु यह ६. सुखानुभूति सुखसंवेदन से भिन्न है। ७. नैतिक ज्ञान का शाब्द-बोध प्रेरणात्मक होने से नैतिक संकल्प को जन्म देता है। ८. नैतिक संकल्प 'अहं' को किसी बृहत्तर सत्ता के अधीन करता है। फलतः नैतिकता को ऐसा व्यवहार-विषयक भावात्मक विवेक कह सकते हैं जो चेतना में आत्मा का आदर्श प्रस्तुत कर अहंकार की निचली प्रवृत्तियों के उत्सर्ग का संकल्प उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से कर्मों में सत्–असत् का भेद न स्वतः है, न परिणामतः अपितु उनके मानस हेतुओं पर आश्रित है। नैतिकता के घटक होने पर ये हेतु भाव, विवेक एवं संकल्प की आत्मोत्सर्गी आदर्शोन्मुख संसृष्ट मनोवृत्तियां होती हैं जिनकी दो अवस्थाएं स्पष्ट देखी जा सकती हैं—एक तो अपने स्वार्थ पर अंकुश लगा कर, अपने एवं औरों के सुख को तुल्य रूप से आदर्श मानकर प्रवृत्त मनोवृत्तियां जैसे संयम, सहयोगिता, सौहार्द, स्नेह, समीक्ष्यकारिता, दूरदर्शिता आदि। दूसरे, स्वार्थ का परार्थ के लिये उत्सर्ग करने वाली वृत्तियां जैसे करुणा, प्रेम, त्याग, सेवा आदि। पहली अवस्था के हेतु व्यावहारिक नैतिकता को जन्म देते हैं, दूसरी अवस्था के सात्विक या आदर्श नैतिकता को। व्यावहारिक नैतिकता सकाम सामाजिक कर्मों में प्रयुक्त होती है और कानूनों और नीतियों में अनुप्रविष्ट रहती है, आदर्श नैतिकता निष्काम कर्म में व्यक्त होती है और निरपेक्ष कर्तव्य-बोध एवं सहज आध्यात्मिकता में विकसित होती है। दोनों ही नैतिकताएं विवेकी संकल्प से उत्पन्न होती हैं और न्यूनाधिक मात्राओं में स्वार्थ को मर्यादित कर कर्म को प्रेरित करती हैं, एक सामाजिक हितसुख की ओर, दूसरी आत्मशुद्धि की ओर।

नैतिकता और संकल्प :

इस विवेचन से नैतिकता का सार पारिणामिक, न होकर आभिप्रायिक सिद्ध होता है। नैतिकसत् विषय का न स्वगत गुण है, न विषयि-सापेक्ष गुण, वह विषय का गुण ही नहीं है। वह संकल्प-विषयि का गुण है। कान्ट का कहना था कि सत्संकल्प के अतिरिक्त नैतिक सत् का और कहीं निवास नहीं

होता। नैतिक सत्-असत् कर्म के ही विशेषण होते हैं और कर्म की अच्छाई-बुराई न उसके स्वरूप पर न उसके परिणाम पर बल्कि उसके मूल में विद्यमान संकल्प पर ही निर्भर करती है। 'चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा' इस नागार्जुनीय उक्ति में बुद्ध के भी इसी प्रकार के मन्तव्य का संकेत मिलता है। संकल्प अथवा मानसिक कर्म (तु० संकल्पो मानसं कर्म, अमर)के दो पक्ष हैं– विषय-पक्ष और विषयि-पक्ष। संकल्प का विषय साध्य अर्थ होता है जो कि रागादि के द्वारा अर्पित हो सकता है अथवा विवेक के द्वारा अर्पित हो सकता है। संकल्प का विषयी इच्छा, ज्ञान, कर्तृत्व आदि के विशिष्ट संस्कारों से निर्मित चित्त का प्रातिस्विक स्वभाव या चरित्र होता है। कान्ट के अनुसार रागादि प्रकृतिसिद्ध अभिसंस्कारात्मक धर्म और विवेक-बुद्धि में नितान्त विरोध है। इच्छादि धर्म मानसिक प्रत्यक्ष की विषयता में बन्दी होने से कार्य-कारण श्रृंखला के अन्तर्गत परतन्त्र धर्म हैं।[1] उनको साध्य रूप से मानने पर संकल्प भी परतन्त्र हो जाता है और इच्छापूर्ति का प्रयत्न मात्र बन कर नैतिकता के पद से हट जाता है। कान्ट के लिये बुद्धि की एक ज्ञान–वृत्ति है, एक विवेक–वृत्ति। पहली सिद्धान्त-निरूपण और शास्त्र-निर्माण करती है, दूसरी आचार-निर्देश। पहली देश, काल और निमित्त की परिधियों में घिरे हुए नियत रूप से प्रतीयमान परतन्त्र विकल्प-जगत् को प्रस्तुत करती है और अर्थतः उसमें इच्छापूर्ति की क्रिया को प्रेरित और समर्थित करती है; दूसरी आत्मिक परमार्थ के स्वातन्त्र्य का कर्तव्य रूप में बोध प्रस्तुत करती है। जैसे संकल्प–विषय की इष्टता या प्रियता उसके पारतन्त्र्य का लक्षण है, संकल्प-विषय की कर्तव्यता उसके स्वातन्त्र्य या नैतिकता का लक्षण है। अथवा यह कहना चाहिए कि विवेक-बुद्धि का स्वातन्त्र्य ही तदनुसारी संकल्प की नैतिकता है। शुद्ध संकल्प और विवेक मूलतः एक ही हैं।[2] दोनों की सहज अन्विति को कान्ट 'दिव्य' या 'पवित्र' संकल्प कहते हैं।[3] जब संकल्प स्वतः विवेकमात्र से निर्धारित नहीं होता किन्तु अन्य प्रेरणाओं की अपेक्षा विवेक के निर्देश का अनुसरण करता है, तब वह कर्तव्य के बोध से बाध्य होता है। विवेक का कर्तव्य-निर्देश एक आदेश होता है।[4] आदेश विशेषात्मक या सामान्यात्मक हो सकता है। यथा

---

१ तु० बैक (अनु०), क्रिटीक ऑव प्रेक्टिकल रीज़न एण्ड अदर राइटिंग्स, पृ० १०२, २०५–२०८।

२ बैक (अनु०), फ़ाउन्डेशन्स ऑव दि मेटाफ़िसिक्स ऑव मौरल्स, पृ० ७२।

३ बैक (अनु०), क्रिटीक पृ० ९६।

४ वही, पृ० १०८।

'तुम यह करो,' 'सबको ऐसे करना है'। सामान्य आदेश या विधि भी सापेक्ष हो सकती है अथवा निरपेक्ष, यथा 'यदि स्वर्ग की कामना है तो यज्ञ करना चाहिए', 'मिथ्या नहीं बोलना चाहिए'। निरपेक्ष कर्तव्य-विधि ही कान्ट के लिये नैतिक संकल्प का नियम है और विवेक की प्रेरणा का लक्षण है। ऐसे संकल्प का विषय रागादि से प्राप्त नहीं होता, वह विवेक की स्वतन्त्र उपलब्धि होती है। इसीलिये वह विवेकी होने के नाते प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्यतया बाध्य करती है। यह विवेक-बाध्यता या निरपेक्ष कर्तव्य-बोध ही मानवीय स्वातन्त्र्य एवं नैतिकता है। इस प्रकार के कर्तव्य-बोध में यह आक्षिप्त होता है कि उसका विषय सार्वभौम नियम के पद पर अभिषिक्त किया जा सके। नैतिक विधि की निरपवादता उसका अनिवार्य और स्पष्ट लक्षण है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या विवेक-बुद्धि नैतिक विधि में कर्तव्यता के विशिष्ट बोध-प्रकार के अतिरिक्त उसके विशिष्ट विषय का भी अपने अन्दर से ही आविष्कार कर सकती है? कर्तव्य-विषय केवल विवेक-वृत्ति का विषय नहीं होता, वह ज्ञान-वृत्ति का भी विषय होता है और इसी नाते कर्म-विषय बनता है। ज्ञान और कर्म के विषय विकल्प-जगत् के अन्तर्गत होते हैं, फलतः उनके सामान्य रूप ही बुद्धि-सृष्ट होते हैं, न कि उनके विशिष्ट स्वरूप-धर्म जो कि प्रत्युपस्थित होते हैं। ज्ञान के क्षेत्र के समान ही विवेक के क्षेत्र में संकल्प का विषय बाह्योपस्थित और उसका कर्तव्याकर्तव्य रूप विवेक-सृष्टि होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है और संकल्प का विषय भी बुद्धि-प्रसूत है तो बौद्धिक विवेक और व्यावहारिक कर्म असम्बद्ध हो जायेंगे। और नैतिक क्षेत्र में वही कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी जिसे ज्ञान-क्षेत्र में बचाने के लिये कान्ट ने अपनी दर्शन-रचना प्रारम्भ की थी। बुद्धि-प्रसूत अनिवार्यता और प्रत्यक्ष-वस्तु-जगत् को जोड़ने के लिये ही कान्ट ने रूप और वस्तु, कल्पना और प्रतिभास में भेद किया था एवं उनके संयोग को ही व्यवहार्य विषय कहा था। नैतिक क्षेत्र में भी यह मानना चाहिए कि विवेक मूल नैतिक कल्पनाओं (कैटीगोरीज) और नियमों को अपने स्वातन्त्र्य से देता है और उन प्रकारों से अनुविद्ध संकल्प-विषयों को अनिवार्यता प्रदान करता है।

वास्तव में इच्छा और विवेक को सर्वथा पृथक् कर कान्ट ने अपनी आचार-मीमांसा में उस भ्रान्ति को समाविष्ट कर दिया है जिसका उन्होंने ज्ञान-मीमांसा में प्रत्यक्ष और विकल्प-बुद्धि को समन्वित कर सावधानतापूर्वक परिहास किया है। वस्तुतः संकल्प में इच्छा और विवेक जुड़े रहते हैं, इच्छा नाना विषय प्रस्तुत करती है और विवेक आत्मबोध के सन्दर्भ में उनकी साध्यता,

वरणीयता, कर्तव्यता आदि का निर्णय करता है। यह आत्मबोध निष्प्रपंच या पारमार्थिक आत्मबोध नहीं होता, जैसा कान्ट भ्रमवश मानते हैं।[1] यह आत्मबोध चरित्र-विशेष की उपाधि से युक्त विषयी का बोध होता है, इसीलिये मानव विवेक आत्यन्तिक, सार्वभौम और अभ्रान्त नहीं होता। कान्ट के अनुसार नैतिक बोध में मनुष्य का आत्मबोध प्रपंचशुद्ध, बुद्ध (विवेकी), स्वतन्त्र (मुक्त) अनेक, और समान होता है। इस बोध के कारण नैतिक संकल्प इच्छा-परवशता से मुक्त, निरपवाद और मनुष्य को स्वयं अपना साध्य मान कर प्रवृत्त होता है।[2] वस्तुतः ये लक्षण नैतिक संकल्प को सामान्यतया परिभाषित करते हैं किन्तु उसको अर्थ या साध्य नहीं प्रदान करते। वे सिर्फ उसके सब सम्भव साध्यों की नैतिकता के पूर्वाभ्युपगम हैं अर्थात् बिना इन लक्षणों के कोई साध्य नैतिक नहीं हो सकता। किन्तु इससे साध्य विषयों के स्वरूप का पता नहीं चलता, इससे सिर्फ यह पता चलता हैं कि नैतिक चेतना की विषयता कैसी होती है, यह नहीं कि नैतिक चेतना के विषय क्या होते हैं।

नैतिकता और आदर्श

हेगेल ने कान्ट की नैतिकता को इसीलिये लक्ष्य-निर्देश-रहित लक्षण मात्र में पर्यवसित बताया है।[3] लक्षण-विश्रान्त लक्ष्य-रहित नैतिक चेतना उतनी ही अपूर्ण रहती है जितनी कि लक्ष्यमात्र का परामर्श करने वाली अभीष्ट-मात्र को लक्षणानभिज्ञ चेतना। जैसे-जैसे चेतना के प्रयोजन बौद्धिक विवेचन और व्यवस्थापन से एक समंजस इकाई बनते हैं, संकल्प अपने विषय और विषयी के निकट आने से स्वाधीन बनता जाता है और नैतिकता का विकास अभीष्ट अर्थों और प्रयोजनों के जगत् पर विवेक के आधिपत्य के स्थापन के द्वारा सम्पन्न होता है। हेगेल ने इस प्रकार कान्ट की लक्षण-प्रधान नैतिकता को सामाजिक अर्थों और हितों के विश्व[4] के साथ जोड़ दिया। ग्रीन में नैतिकता की यह बुद्धिवादी और आदर्शवादी व्याख्या व्यक्ति और समाज के विकास के सिद्धान्त को आत्मसात् करती है।[5] स्पेंसर का

---

१ वही, पृ० २१८–१९।

२ वही, पृ० ९५।

३ नौक्स (अनु०), हेगेल्स फिलौसोफी ऑव राइट (आक्सफोर्ड १९५३) पृ० ८९–९०।

४ जिल्लिशकाइत, वही, द्र० पृ० १०६ प्र०।

५ ग्रीन : प्रोलेगोमेना टु एथिक्स (आक्सफोर्ड, पंचम सं०) खंड ३, अध्याय ४–५।

प्राकृतिक विकासवाद नतिकता को भी मानवीय प्रकृति-परतंत्रता में बदल देता है।[1] ग्रीन चेतना को प्रकृति की पूर्वापेक्षा सिद्ध करते हैं। प्रकृति घटनाओं के पीछे सम्बन्धों की एक स्थिर व्यवस्था है और सम्बन्ध भेद में अभेद स्थापित करते हैं। इस प्रकार का अन्वयन चेतना ही कर सकती है और यह चेतना एक विराट और नित्य विश्व-चेतना ही हो सकती है।[2] मानवीय चेतना प्रकृति और इस चेतना के बीच की स्थिति में रहती है। उसमें मानो दिव्य और नित्य चेतना अपने आप को एक अनित्य प्रवाह में पुनरुत्पादित करती है।[3] अथवा यह कहा जाय कि मानवीय चेतना के अर्ध-प्राकृतिक प्रवाह में उसका विषयी और अन्वयी आत्मबोध दिव्य चेतना का प्रकृति के गर्भ में जन्म ग्रहण करना है। मानवीय चेतना का केन्द्रबिन्दु आत्मबोध है जो अपने को अधूरा पाता है और पूरा करना चाहता है। वह प्रकृति के माध्यम से उसकी आधारभूत और अपनी आदर्शभूत दिव्य चेतना का साक्षात्कार करना चाहता है, यही मनुष्य की 'आध्यात्मिक तत्व' (स्पिरिचुअल प्रिन्सिपल) की खोज है, उसकी अपने आपकी, अपने आदर्श की खोज है। इसका एक पक्ष ज्ञानानुसन्धान है, दूसरा धर्मानुसन्धान अर्थात् नैतिकता का अनुसन्धान। प्रवृत्तियों से इच्छाओं का, इच्छाओं से संकल्प का और संकल्प का विवेक के अनुसार विकास होता है और उसके पग-चिन्ह मनुष्य के सामाजिक और नैतिक इतिहास में दृष्टिगोचर होते हैं। संकल्प में विषयी का उस विषय की कल्पना के साथ तादात्म्य स्थापित होता है जिसमें आत्म-तृप्ति खोजी जाती है और उस संकल्प का नैतिक गुण उस विषय के स्वरूप पर निर्भर करता है। यदि हित को इष्टता से परिभाषित करें तो सच्चा हित या नैतिक सत् वह होगा जो नैतिक कर्ता को तृप्त करे।[4] नैतिक सत्य अपनी पूर्णता में क्या है, यह तो नहीं बताया जा सकता किन्तु उसके विकास को दिशा मानवीय अनुभूति के विवेचन में स्पष्ट होती है—मनुष्य अपने मूलभूत नित्य चैतन्य का प्रतिबिम्ब होने के कारण अपने स्वरूप में निहित सम्भावनाओं को चरितार्थ करने की ओर उद्दिष्ट होता है। मनुष्य का नैतिक जीवन उसकी आत्मनिहित पूर्णता को चरितार्थ करने की साधना है। आदर्श को संकल्पित करना नैतिकता का मर्म है।

---

१ स्पेंसर, फर्स्ट प्रिन्सिपल्स ऑव ए न्यू सिस्टम ऑव फिलौसोफ़ी (न्यूयॉर्क १९०३) अध्याय १४–१७।

२ उदा० ग्रीन, पूर्वनिर्दिष्ट पृ० ७५–७६।

३ वही, पृ० ११०, १९८–९९।

४ वही, पृ० १९४।

आदर्श और सद्गुण :

नैतिक सत् सत्संकल्प है और सत्संकल्प आदर्श-विषयक संकल्प है। आदर्श का अवधारण उसके इच्छा के विषयमात्र होने से नहीं होता बल्कि साध्यता के बुद्धि-सम्मत लक्षण का विषय होने से होता है। संकल्प का विषय इच्छा और ज्ञान दोनों का विषय होता है किन्तु नैतिक संकल्प में ज्ञान नेतृत्व करता है और उसके द्वारा लक्षित साध्य ही आदर्श रूप में स्वीकृत होता है। आदर्श इच्छा के वास्तविक लक्ष्यों के लिये मान बनता है, और उसका अनुसारी संकल्प नैतिक। आदर्श साधना की दिशा पहचानना बताता है। यह ही दिशा मनुष्य की स्थायी आत्म-तृप्ति की दिशा है। यह स्थायी आत्म–तृप्ति न सुख की खोज में मिलती है, न भोग-संग्रह में प्रत्युत यह सद्गुणों में उपलब्ध होती है। चारित्रिक सद्गुणों की साधना ही नैतिक साधना है और इसमें व्यक्तित्व एवं समाज दोनों का समंजित विकास स्वतः सिद्ध होता है।[1]

सद्गुण और सद्भाव

चारित्रिक सद्गुणों में एक मूलभूत इकाई होती है जिसे ही अन्ततः सद्गुण कहा जा सकता है। सभी सद्गुणों का मूल मन का सत् की ओर आभिमुख्य है, उसका यह संकल्प है कि वह 'उत्कृष्ट और उदात्त को चाहेगा।'[2] ग्रीन ने नैतिक संकल्प को आदर्श-विषयक, आदर्श को सद्गुण और सद्गुण को अन्ततः सत्परकता कहा है। इस प्रतिपादन में एक आत्माश्रयी दोष है जिसे एक रूप में ग्रीन ने स्वयं देखा है किन्तु वे उसे अपरिहार्य मानते हैं।[3] उनका कहना है कि नैतिकता चेतना की अपने उत्कर्ष की साधना है और चेतना के अनुसन्धान की विशेषता के द्वारा ही उसकी व्याख्या हो सकती है। किन्तु वस्तुतः उत्कर्ष–मात्र की साधना नैतिक साधना नहीं है। उत्कर्ष की साधना की अनेक दिशाएं हैं जैसे ज्ञान अथवा कला के अनुसन्धान में।[4] नैतिकता के लक्षण के रूप में उत्कर्ष-साधना अतिव्याप्त है। और फिर 'उत्कर्ष' एवं 'सत्' पद स्वयं मूल्यगर्भ हैं और उनका निवेश व्याख्या को आत्माश्रयी बनाता है। यदि उत्कर्ष का अर्थ स्वाभाविक सम्भावनाओं का विकास है तो मानव चेतना के अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशों

---

१ ग्रीन, **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० २८४ प्र०।

२ अरस्तू, **निकोमेकियन एथिक्स**, ४ . २ . ७।

३ ग्रीन, वही, पृ० २२३–२६।

४ तु० वही, पृ० ३४३।

का भी विकास क्या अभीष्ट है? अथवा उन्हें अस्वाभाविक कहा जायेगा? यदि उत्कर्ष का अर्थ नित्य चेतना में सिद्ध पूर्णता का सामाजिक-ऐतिहासिक स्तर पर क्रमिक विकास है, तो यह विकासवाद, लिबिरलज्म और आइडिया-लिज्म का एक असाध्य संमिश्रण होगा। मानव-समाज में उस प्रकार के विकास की धारणा सिद्ध नहीं की जा सकती। न समाज को आत्मिक चेतना (पर्सनल कौनशसनैस, सैल्फ कौनशसनैस) कहा जा सकता है। फिर आदर्श की नित्य चेतना में सिद्धि क्या है? नित्य चेतना की इच्छा अथवा ज्ञान का विषय किस कारण सत् है? स्वरूपतः अथवा नित्य चेतना का विषय होने के कारण? नित्य चैतन्य प्रकृति का आधार और आदर्श है किन्तु विकास प्रकृतिगर्भ चेतना में होता है। अब प्रश्न यह है कि मानव-चैतन्य का विकास किस बात में होता है—प्रकृति के उत्कृष्ट होने में, या चैतन्य के उससे अलग होने में, या चैतन्य के उसमें आत्मदर्शन करने में, या चैतन्य के उसके द्वारा ईश्वरदर्शन करने में? क्या प्रकृति के अतिरिक्त चैतन्य का कोई अपना अलग स्वभाव है? ग्रीन सामाजिक व्यक्तित्व के विकास के सूत्र से सन्तुष्ट हो जाते हैं[1] किन्तु इस विकास को सच्चरित्रता के विकास के अतिरिक्त वे नहीं बता पाते हैं और सच्चरित्रता अथवा सद्गुणों को मनुष्य के सामाजिक इतिहास के सहारे पहिचानते हैं। वास्तव में ग्रीन का नीतिदर्शन सामाजिक प्रगति की 'विकटोरियन' मान्यता के उपपादन के लिये आइडियालिस्टिक मैटाफिजिक्स की प्रस्तावना है। उसमें मानव इतिहास और स्वभाव के के कठोर निषेधात्मक पक्ष की ओर अत्याशावादी गजनिमीलिका है।

चैतन्य का मूल स्वरूप क्या है, नित्य चेतना का प्रकृति से क्या संबंध है, मानव-चैतन्य के विकास का इतिहास से क्या सम्बन्ध हैं इत्यादि प्रश्न तत्व-मीमांसा के जटिल और विवादास्पद प्रश्न हैं किन्तु सौभाग्यवश नैतिकता की व्याख्या के लिये उनकी व्याख्या आवश्यक नहीं प्रतीत होती। नैतिकता संकल्प को प्रेरित करने वाले हेतुओं पर निर्भर करती है।[2] ये हेतु जहां तक निस्वार्थ भाव होते है वहीं तक उनसे प्रेरित संकल्प सद्भाव पर आश्रित माना जा सकता है और उस पर आधारित शील सदाचारी। मानवीय भावों में एक विभाग स्पष्ट दीखता है—एक ओर राग, द्वेष, लोभ, मोह, हिंसा आदि, और दूसरी ओर प्रेम, करुणा अहिंसा आदि। व्यावहारिक नैतिकता के स्तर पर दोनों प्रकार के भाव उपयोगी होते हैं क्योंकि वह

---

१ ग्रीन चित्त-चैत्त के अतिरिक्त किसी आत्मा को नहीं मानते (द्र० वही, पृ० १११-११२) आत्मा = स्वभावयुक्त और विकासयुक्त चित्त।

२ अभिधर्म में तीन मूल 'कुशल हेतु' कहे गये हैं—अलोभ, अद्वेष, अमोह।

स्वार्थ-पोषण, वैयक्तिक अथवा सामुदायिक, बना रहता है। आदर्श नैतिकता के स्तर पर प्रेम आदि वर्ग के भाव ही स्थान पा सकते हैं और उनके सहारे ही यह स्तर परिभाषित होता है। इन अक्लिष्ट भावों की स्वतः सिद्ध सद्रूपता ही समस्त नैतिक जीवन और निष्ठा की मौलिक आधार-शिला है। यह बहुधा कहा जाता है कि सच्चे आत्मज्ञान से अथवा नैरात्म्य-ज्ञान से अक्लिष्ट भाव उपजते हैं। यह कहना शायद अधिक उपयोगी होगा कि सर्व-विदित अक्लिष्ट भाव जिस आत्मबोध को जन्म देते हैं, वही सच्चा आत्मबोध है। शील-साधना कर्म द्वारा भावशोधन का अभ्यास है, वह अध्यात्म विद्या पर निर्भर न होकर, स्वयं अध्यात्मविद्या का अधिकार देती है। अपने बृहत्तर अथवा उच्चतर 'स्व' के आदेशभूत कर्तव्य का आचरण एवं अक्लिष्ट धर्मों का परिशीलन, यही अच्छा करना और होना है। अशोक ने कहा है कि धर्म का सार संयम और भावशुद्धि है और वह चरितार्थ होता है उपकार करने में, अपकार न करने में। धर्म और अधर्म का भेद लक्षणमूलक है, न परिणाममूलक; वह अन्ततः हृदय की अक्लिष्टता अथवा भाव की निस्स्वार्थता में पहिचाना जाता है। प्रत्येक भाव एक प्रकार का मूल्य-बोध होता है। राग-द्वेष, लोभ-भय आदि घोर और मूढ वृत्तियों में विचारा-सहिष्णु आकुलता और वेग होते हैं, और करुणा आदि शान्त और निसर्गतः विवेकोज्जवल भाव होते हैं। उनमें निस्स्वार्थता का मूल्यात्मक बोध रहता है। जहां रागादि का आकुल वेग तात्कालिक, क्लेश–बहुल और प्रमादप्रवण होता है, प्रेमादि का शान्तवाही, स्थायी, प्रासादिक और विवेक-सहचरित होता है। नैतिकता कर्मापेक्षी शुद्ध भाव में ही उपजती है। उसकी पहचान अपने हृदय में एवं महापुरुषों के जीवन में होती है। इसीलिये सत्संग से हृदय–शुद्धि और हृदय–शुद्धि से धर्माचरण माना जाता है। "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।"

७

सौन्दर्य-बोध और कला

सौन्दर्य का अर्थ

'सौन्दर्य' एवं उसके पर्यायवाची शब्द किस अर्थ के द्योतक हैं, इसका निर्णय करने के लिये उनके सामान्य भाषा में प्रयोग की परीक्षा से आरम्भ करना उचित होगा क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग सभी करते हैं और इससे अन्दाज लगता है कि उसके अर्थ से भी वे किसी न किसी मात्रा तक परिचित होंगे। विशिष्ट प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों के लिये और विशिष्ट प्रकार की मानव आकृतियों के लिये 'सुन्दर,' आदि शब्द विशेषण के रूप में बराबर प्रयुक्त होते हैं[1] 'मनोरम', 'रमणीय'—रमने के योग्य, 'कमनीय'-चाहने के योग्य, 'प्रासादिक'-जो मन को स्वच्छ करे, 'मनोहर'—जो मन को छीने, 'मोहक'-जो मन के स्वतन्त्र चिन्तन को लुप्त कर दे, 'चमत्कारी'-जो मन को विस्मित और आप्लावित करे इत्यादि विशेषण-शब्द अपने विशेष्य को द्रष्टा के मन के साथ सम्बन्ध के द्वारा सूचित करते हैं। सुन्दर विषय मन को इस तरह प्रभावित करता है कि वह विषय अपूर्व लगता है, प्रिय लगता है, आकर्षित करता है। स्पष्ट ही वह विषय मन में अनुभूत प्रभावों का अदृष्ट अथवा उपेक्ष्य कारण नहीं बल्कि अनुभूति का प्रत्यक्ष विषय भी है। यह प्रत्यक्ष विषय रूप अथवा आकार की ऐसी विशेषता है जिससे उसका प्रत्यक्ष मनोगत प्रभाव-विशेष का हेतु बनता है। यहां

---

१ स्वयं 'सुन्दर' शब्द में 'सु' उपसर्ग नर-गत विशिष्टता का द्योतक है किन्तु 'सु' उपसर्ग प्रशस्यता मात्र का द्योतन करता है, उसमें नैतिकता एवं रसनीयता के आयामों का भेद नहीं करता है। यह स्मरणीय है कि एक दृष्टि के अनुसार यह भेद पारमार्थिक है भी नहीं। प्लेटो के लिये 'कालोन' और 'आगाथोन' एक ही

रूप अथवा आकार अपने उत्पादित प्रत्यक्ष को विशिष्ट बनाने वाले प्रभाव का आलम्बन-प्रत्यय बनता है और उसकी इस अन्तरंगता के कारण प्रभाव के निरूपक शब्द योग्यता क्षेत्र के द्वारा अथवा उपचार से आलम्बन के निरूपक बन जाते हैं। उदाहरण के लिये, 'लुभावना रूप', यहां रूप में मन को लुभाने की योग्यता का आक्षेप है, 'रूप-माधुर्य' या 'रूप-लावण्य' यहां रसनेन्द्रिय के आस्वाद से कथंचित् तुलनीय प्रभाव का रूप में उपचार है। इस प्रकार सामान्य-भाषा में सौन्दर्य की चर्चा एक ओर 'रूप' की विशेषता के रूप में होती है, दूसरी ओर उसका निरूपण मनोगत प्रभाव के वर्णन के द्वारा किया जाता है। स्पष्ट ही सौन्दर्य का प्रत्यय विषय और विषयी दोनों के सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। वह चेतना में विशेषता अर्पित करने वाली विषय की विशेषता है। यह अवधेय है कि सब विशेषता विशेष्यमात्र-निष्ठ गुण नहीं होती, वह अन्यापेक्ष कर्म और सम्बन्ध की योग्यता भी हो सकती है।

विषय की वह विशेषता अपने में क्या है, इसकी सामान्य भाषा के

सौर-बिन्दु से निस्सृत रश्मियां हैं। कीट्स की प्रसिद्ध पंक्ति 'ब्यूटी इज़ ट्रूथ, ट्रूथ ब्यूटी' अथवा कालिदास की 'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः' अथवा टालसटाय का कलाविषयक सिद्धान्त, इसी दृष्टि के उदाहरण हैं। आपाततः तो 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' यह दृष्टि अनुभव-विरुद्ध है क्योंकि सुन्दर नर-नारी दुराचारी भी पाये जाते हैं और सुकरात जैसे सदाचारी कुरुप। तापसिक दृष्टि तो सौन्दर्य को शैतान का फन्दा, मार-पाश ही घोषित कर देती है। किन्तु वस्तुतः सौन्दर्य विषयक ये मत—कि वह सत् से अभिन्न अथवा यह कि वह अनर्थ है—एक ही मूलभाव के दो पक्ष हैं शीलरहित अथवा शीलविरोधी सौन्दर्य एक मुलम्मा या प्रवंचना लगती है क्योंकि वह हमें असत्पुरुष को मूल्य देने की ओर प्रेरित करती है। दूसरी ओर शीलवान् पुरुष की अपरुपता में भी शील के प्रकाशक भाव का सौन्दर्य दीखता है। इस शीलाग्रही धारणा को तिरस्कृत न करते हुए सौन्दर्याग्रही धारणा यही कह सकती है कि सच्चा सौंदर्य सच्चे शील का भी आक्षेप करता है। स्पष्ट ही मनुष्य के विशेषण के रूप में सौंदर्य आदि शब्द उसके रूप एवं शील, दोनों के ही विशेषण बन जाने से रूप-सौष्ठव की विशिष्टता को द्योतित नहीं करते। रूप और शील का भेद करते हुए भी हम दोनों के ही सौन्दर्य की चर्चा करते हैं और इस प्रकार सुन्दर आदि शब्दों को इस सन्दर्भ में सामान्यतः मूल्य-द्योतक के रूप में प्रयुक्त करते हैं। यह स्मरणीय है कि कान्ट ने सौन्दर्य को सादृश्य के द्वारा नैतिक सत् का प्रतीक कहा है—**क्रिटीक आव जज्मैंट**, पृ० २५१–२५२।

सौन्दर्यवाची शब्दों में कोई सूचना नहीं मिलती। उन शब्दों से एक सापेक्ष धर्म का ही पता चलता है और इससे यह अन्दाज लगता है कि शायद सौन्दर्य कोई बाह्य प्राकृतिक गुण नहीं है। दूसरी ओर सौन्दर्य के मानसिक प्रभाव के कुछ पक्ष इन शब्दों से साफ उभरते हैं। 'सुन्दर विषय' मन में अपने अनुभव के लिये इच्छा उत्पन्न करता है किन्तु क्या यह इच्छा प्राकृतिक भोगेच्छाओं में से एक है? यदि सौन्दर्य ही प्रकृति-विलक्षण सिद्ध हो तो यह किस प्रकार सम्भव होगा? सामान्य भाषा में सौन्दर्य को दर्शनीय, नयन-सुभग आदि माना जाता है, न कि स्पर्शनीय, भोग्य आदि। सौन्दर्य आंखो को और मन को छकाता है, तरसाता है। यह तरसाना किसी अन्य शारीरिक क्रिया के लिये उकसाना नहीं है, यह सिर्फ मन का सौन्दर्य दर्शन से न अघाना है।

यह कहा जा सकता है कि नर-नारी के सौन्दर्य के विषय में कमनीयता, रमणीयता आदि शब्द प्रायः भोगपरक भी लिये जाते हैं। किन्तु इन्हीं शब्दों के प्राकृतिक दृश्यों के लिये प्रयुक्त होने से यह भोगपरक अर्थ कादाचित्क सिद्ध होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि प्राकृतिक दृश्यों के लिये प्रयुक्त ये शब्द औपचारिक होते हैं क्योंकि उपचार मानने के लिये मूल अर्थ का बाध सिद्ध होना चाहिए। यदि कमनीयता आदि का मूल अर्थ भोगपरक मानकर उनके प्रकृतिपरक प्रयोगों को औपचारिक मान भी लिया जाय, तो यही उपचार उनके सुन्दर नर-नारी के विषय में प्रयोग होने पर भी माना जा सकता है। सौन्दर्य-सन्दर्भ में ये शब्द प्राकृतिक दृश्यों और मानवीय आकृतियों में समानतया प्रयुक्त होने चाहिए। एक पक्ष में (प्राकृतिक दृश्यों में) उपचार के स्पष्ट और दूसरे में संदिग्ध होने से, दोनों में ही उपचार मानना लघुतर होगा। वस्तुतः नर-नारी के सौन्दर्य के प्रसंग में कमनीयता आदि की भोगपरकता का ग्रहण एक आध्यासिक भ्रान्ति है। नारी सुन्दर भी हो सकती है और भोग्य भी। इन दो भिन्न विशेषताओं में अविवेक से कमनीय आदि शब्दों की द्व्यर्थकता भ्रामक हो जाती है। यह बात इससे सिद्ध हो जाती है कि भोग-बुद्धि असुन्दर को भी अपना विषय बनाती है और सुन्दर में कभी स्पष्टतः भोग्यता की प्रतीति कुंठित होती है। माता, कन्या आदि की सुन्दरता भी अनुभूत होती है और इस अनुभव के वाचक शब्दों की व्याख्या भोगबुद्धि के सन्दर्भ में करना सामान्य प्रयोग में विदित वाचकता-भेद को भूल जाना होगा।

यह सही है कि मनोविश्लेषण के कुछ आचार्य एक सामान्य भोग-प्रवृत्ति को अशेष इच्छाओं और भावों का मूल मानते है किन्तु वे भी मानते

हैं कि इस मूल वासना के दमन और उदात्तीकरण से ही सौन्दर्य-बोध और कला-सृजन को प्रेरणा मिलती है। यह दमन और उदात्तीकरण प्रकृति का कार्य न होकर सामाजिक संस्कृति का कार्य है। फलतः इस दृष्टि से भी सौन्दर्य सहज प्रवृत्ति के द्वारा ग्राह्य प्रकृति का गुण न होकर प्राकृतिक गुणों का 'उपरिवर्ती' (सुपरवीनियन्ट, औपाधिक) चेतनापेक्ष गुण है।

सौन्दर्य को संस्कृति-सापेक्ष धर्म मानने के विरोध में यह कहा जा सकता है कि पशु-जगत् में भी नर-मादा के प्रजननात्मक सम्बन्ध की सहायता के लिये प्रकृति अलंकरणात्मक सौन्दर्य की रचना करती हुई सौन्दर्य को जैव साधन के रूप में प्रदर्शित करती है। यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृतिक दृश्यों में सौन्दर्य-बोध प्रत्यक्षतः विषयगत प्राकृतिक गुण का बोध प्रतीत होता है। इनमें पहले तर्क के विरोध में यह अवधेय है कि अलंकृत वस्तु की उपयोगिता अलंकरण के सौन्दर्य को उपयोगिता नहीं बना देती है। नितान्त जैव स्तर पर रंगों और रूपों में आकर्षकता निरी दैहिक उत्तेजकता हो सकती है। मोरनी के लिये प्रकृति ने मोर-पंखों में एक 'सूचना' 'कूटबद्ध' की है। इस प्रकार के सूचना-कूटों के वाहक संकेतों या सिगनलों के सहारे ही जैव-प्रक्रियाएं सम्पन्न होती हैं। इस सन्दर्भ में हम प्रकृति की रचना को जैव-सूत्रों में निबद्ध नितान्त भौतिक संरचनामात्र मानते हैं। प्रकृति को अचेतन और भौतिक सत्ता मानने पर इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प भी नहीं है। बुद्धिस्तरीय चेतना प्रकृति की रचनाओं में यदि कलात्मक अर्थ की उद्‌भावना करती है तो वह अर्थ पूर्व परिभाषित प्रकृति का अंग नहीं बनता। 'प्रकृतिगत सौन्दर्य' उतना ही औपचारिक प्रयोग है जितना 'प्रकृति की कलाकारिता' या 'प्रकृति की बुद्धिमत्ता'।

गुण-भेद

यदि समस्त आन्तरिक और बाह्य विश्व की रचना-शक्ति को ही प्रकृति की संज्ञा दी जाय, तो स्थिति भिन्न होगी, किन्तु तो भी प्रकृति के अन्दर बोध-भेद से अथवा विश्लेषण-भेद से गुणों में स्तर-भेद करना होगा। अंग्रेज दार्शनिक लौक ने परिमाण, दैर्घ्य, आकृति आदि गुणों को मौलिक, एवं इन्द्रिय-सापेक्ष तन्मात्रों को गौण कहा था।[१] इसी परम्परा में कुछ विचारक सौन्दर्य को 'तृतीयकोटिक' गुण कहते हैं।[२] वस्तुतः लौक के

---

१ लौक एन एस्से कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टैन्डिग, खंड २ अध्याय ८।

२ द्र० लेयर्ड, पूर्वोद्धृत।

मौलिक गुण प्रदत्त वस्तुगत गुण नहीं हैं, वे मान-निर्धारण की एक जटिल प्रक्रिया से निर्धारित होते हैं और अनुभव-निरपेक्ष नहीं माने जा सकते हैं। वास्तव में गुणों का भेद अनुभव के साधनों के अनुसार होना चाहिए यथा ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के गोचर गुण नीलादि, मानस प्रत्यक्ष के गोचर गुण सुखादि, विकल्प-बुद्धि के गोचर गुण सम्बन्ध आदि, भावना, विवेक प्रज्ञा, प्रतिभा आदि साक्षात्कारात्मक बुद्धि के भेदों के गोचर गुण सौन्दर्य, धर्म आदि। मानस-प्रत्यक्ष और बौद्धिक साक्षात्कार में अपरोक्षता, विशेषार्थता और अबाध्यता समान होते हुए भी इससे भेद होता है कि बौद्धिक साक्षात्कार में बुद्धि के स्वातन्त्र्य, विषय के अनन्यथाभावित्व, और ज्ञान के सार्वभौमिकत्व का भान होता है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि बौद्धिक साक्षात्कार में अपरोक्षता और निर्णयात्मकता दोनों का समन्वय मिलता है। किन्तु यह स्मरणीय है कि जैसे प्रत्यक्ष शब्द-संकीर्णता के द्वारा विकल्पित हुए बिना स्मृति, विचार और प्रतिपादन के योग्य नहीं होता, ऐसी ही स्थिति बौद्धिक साक्षात्कार की भी है। विचार के स्तर पर शुद्ध साक्षात्कार्य रूप विकल्प के लिये एक आदर्श सीमा मात्र ठहरती है।

रूप और रचना–तत्व :

प्राकृतिक सौन्दर्य के बोध में क्या सौन्दर्याधायक तत्वों को प्राकृतिक तत्वों में विश्लेषित किया जा सकता है? उदाहरण के लिये किसी व्यक्ति को कोई खास रंग पसन्द हो सकता है किन्तु क्या इससे यह कहा जा सकता है कि अमुक रंग स्वतः एक सुन्दर तत्व है? किसी भी रंग बिरंगे दृश्य के सौन्दर्य बोध में, चाहे वह सांध्य गगन का हो, पतझर की पत्तियों का हो, या वर्षा के गिरि–वन का हो, अनेक रंग एक दूसरे को प्रभावित करते लगते हैं और उनकी समष्टि में ही सौन्दर्य का आभास होता है। सांध्य गगन की रक्तिमा, पीतिमा और नीलिमा, पतझर की पीतिमा, रक्तिमा, और हरीतिमा, वर्षा के गिरि–वन की हरीतिमा, नीलिमा और धूमिलता विभिन्न संसृष्ट चित्र उपस्थित करते हैं और अपने अन्तर्विभक्त वैचित्र्य से चमत्कारी बनते हैं। शारद गगन की अथवा महासागर की नीलिमा भी दृश्य अथवा स्मृत अन्य रंगों अथवा रंग-आभाओं (टोन्स) से अपना अलगाव सूचित करती हुई ही सुन्दर प्रतीत होती है। यही स्थिति दृश्य संस्थानों की भी है। ऋजु रेखा, ऋजु रेखा के बहुकोण, वृत्त, अंडाकार, परवलय आदि मूल ज्यामितीय संस्थानों में स्वतः सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। सुन्दर प्रतीत होने के लिये सांस्थानिक रूप में विभेदों की ऐसी समन्विति चाहिए जो जटिल होते

हुए भी सरल प्रतीत हो, जिसमें देखने वाले की एक भाग को देखने से उत्पन्न शेष की ओर प्रत्याशा अप्रत्याशित से चमत्कृत हो। ऐसा प्रतीत होता है कि सौन्दर्यशाली रूपों के सौन्दर्य-विधायक तत्व उनकी रचना में निहित होते हैं, न कि उसकी प्राकृतिक प्रदत्तता में अथवा तन्मात्रिक विशेषता में।

सौन्दर्यशास्त्रीय ग्रन्थों में रचना-सौष्ठव के तत्वों का अनेकधा विश्लेषण किया गया है।[1] रचना के विभिन्न अवयवों का पारस्परिक मेल या संवाद होना चाहिए जो कि पूर्ण अथवा आंशिक सादृश्य की आवृत्ति से उत्पन्न होता है। मेल के समान ही महत्वपूर्ण स्थान सन्तुलन का है जो कि सुडौलपन अर्थात् दोनों ओर की बराबरी, अथवा विरोध या प्रतिपक्षता से उत्पन्न होता है। सादृश्य और वैषम्य की बारी बारी से संसृष्टि छन्द उत्पन्न करती है। समूचे की अन्विति कहीं केन्द्रित होकर उभरती है। यह समन्विति इस तरह से अनेक भागात्मक भी हो सकती है कि उसका एक स्थिर केन्द्र न होकर मानो वह एक प्रवाह अथवा विकास के सूत्र में पिरोई हो।[2]

सौन्दर्य–रचना का इस प्रकार का विश्लेषण वास्तव में अवयविगत

---

१ बाउमगार्टन ने इस्थैटिक्स ('प्रत्यक्षविज्ञान') का सर्वप्रथम प्रयोग किया और उनका मूल विचार था कि जैसे न्याय-विद्या बौद्धिक ज्ञान का विश्लेषण करती है ऐसे ही 'इस्थेटिक्स' को 'अवर-ज्ञान' या इन्द्रिय-ज्ञान का विश्लेषण करना चाहिए किन्तु स्वयं उन्होंने अपनी **इस्थेटिका** नाम की पुस्तक में जो १७५०–५८ में प्रकाशित हुई, इस्थेटिक्स की परिभाषा की "कला-मीमांसा·····ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विज्ञान"। उनका मन्तव्य था कि ऐन्द्रिय-बोध की पराकाष्ठा सौन्दर्य-बोध में होती हैं। ओस्बोर्न, सं०, **इस्थैटिक्स इन दि मौडर्न वर्ल्ड**, पृ० १५–१६। इस्थैटिक्स का वर्तमान प्रयोग एक साथ ही सौन्दर्यपरक और कलापरक है। यह ध्यान देने योग्य है कि प्लेटो और अरस्तू में इन दोनों अर्थों में कोई आवश्यक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया है। वस्तुतः यूनानी विचारकों में उपयोगी शिल्पों और आस्वाद्य कलाओं (फाइन आर्ट्स) में मौलिक अन्तर नहीं किया गया है और न सौन्दर्य और श्रेयस् के अनुसन्धान में मौलिक भेद किया गया है। उनके लिये बढ़ई और चित्रकार दोनों ही समाज के उपयोगी 'प्रमाण-कुशल' रचनाकार हैं और सौन्दर्यबोध एवं श्रेयोबोध दोनों ही ज्ञान की दो समानान्तर दिशाएं हैं। इस प्रकार वे कला की चर्चा रचना के प्रसंग में करते हैं, सौन्दर्य की ज्ञान के। मध्यकाल में भी सौन्दर्य को अन्य मूल्यों से स्वतन्त्र मूल्य नहीं माना गया था मध्यकालीन विचार में सौन्दर्य को प्रतीक के अन्तराल से निर्भासित 'सत्य की प्रभा' (स्प्लैन्डोर वेरितातिस) माना गया है।

२ तु० गौटशोल्क, **आर्ट एन्ड सोशल आर्डर**, (शिकागो, १९४७) पृ० १०८–२६।

रूपसम्पदा या लावण्य का आलंकारिक अवयवों या टुकड़ों में विश्लेषण है। इस प्रकार के विश्लेषण में एक बड़ी कमी है कि यद्यपि उसके विश्लेषित रूप उपलब्ध सौन्दर्य के वर्णन में सहायक होते हैं, स्वयं उनसे सौन्दर्य-रचना असम्भव है। आलंकारिक सिद्धान्तों के सहारे टुकड़े जोड़ कर रूढ़ और नीरस रचनाएं ही बन पाती हैं मानों वे प्राणहीन ढांचे हों। सौन्दर्यशाली रचनाओं में एक अपूर्व और अविश्लेष्य समन्विति होती है जो कि अवयवों और उनके सम्बन्धों से परे किसी अविभाज्य अर्थ का संकेत करती है। जब नीली रेखा आसन्न पीली रेखा में अथवा कोमल निषाद परवर्ती शुद्ध धैवत में एक नए प्रभाव को व्यक्त करते हैं तो उन्हें 'मूर्तिमान् आकारिक संकेत' कहा जा सकता है।[1] इस प्रकार की अन्तर्विभक्त अखण्डता और सांकेतिकता के बिना सौन्दर्यबोध सम्भव नहीं है। जो रूपनिष्ठ गुण सौन्दर्य की प्रतीति के हेतु होते हैं, वे किसी स्वभावनिष्ठ कारणता से वैसे नहीं होते, अपितु सन्दर्भ विशेष में वे मूर्त संकेत बन जाते हैं, अपनी रचनात्मक समग्रता के और उसकी सार्थकता या मूल्य के। अतएव रूप के सुन्दर होने के लिये उसमें रचना-सौष्ठव और सांकेतिकता या व्यंजकता, दोनों का अविभाज्य रूप में समावेश होना आवश्यक है।

रूप-रचना का विश्लेषण आलोचना के सिद्धान्त कथंचित् देता हुआ भी जो सृजन के सिद्धान्त नहीं दे पाता, इसका कारण उसकी ऐकान्तिक विषयपरकता है। शिल्प या कारीगरी के क्षेत्र तक उसकी उपयोगिता रचना में पूर्णतः होती है। नमूना, नाप और सामान मिलने पर कोई भी कपड़ा सी सकता है अथवा मेज-कुर्सी बना सकता है। ये विषय नियत योजना और नाप से बनते हैं और उनमें कोई अविश्लेष्य या अतर्क्य आयाम नहीं है। अंशतः वास्तु-रचना और सादृश्यमूलक रूप-विधान में भी यही स्थिति है किन्तु न पहले में आभियान्त्रिक प्रमाणज्ञता मात्र से, न दूसरे में सादृश्य के प्रमाणमात्र से सौन्दर्य उत्पन्न होता है। यह सही है कि रूपकारिता की विभिन्न परम्पराओं में मानवादि की प्रतिमाओं के 'लक्षणों' और 'प्रमाणों' का निर्देश मिलता है और प्लेटो जैसे विचारक ने इस 'लक्षण-प्रमाणज्ञता' को ही कलाकार की योग्यता माना है, तथापि यह मानना होगा कि यह वास्तव में कला के क्षेत्र में शिल्प की परम्परा है। पूर्व-निर्दिष्ट निश्चित लक्षणों और मानों से अभीष्ट रूप-जातियां (टाइप्स) बनती हैं जो कि

---

१ तु० चार्ल्स मौरिस, 'साइन्स आर्ट एन्ड टैक्नोलोजी', उद्धृत, विवास एन्ड क्रीगर, सं०, दि प्रोब्लम्स आव ईस्थैटिक्स (न्यूयार्क, १९५७) पृ० ११०।

अतर्क्य प्रतिभा से अनुप्राणित हुए बिना यांत्रिक-सी रह जाती हैं।[1] चित्र के षडंगों में 'टाइप' के लिये 'रूपभेद' का प्रयोग मिलता है। किन्तु षडंगों में यह स्वीकृत है कि 'प्रमाण' के साथ 'भाव-लावण्य-योजना' भी आवश्यक है। उसके बिना उसमें सौन्दर्य की 'असामान्यता' नहीं आती। कलाकार की समाहित चेतना ही में वह मन्त्र होता है जो उनमें प्राण-प्रतिष्ठा कर सकता है, जिससे वे कुछ करती हुई, किसी भाव से युक्त-सी प्रतीत होती हैं। यदि रूप-रचना का सौष्ठव या आकारिक मूल्य-प्रतीति सौन्दर्य का एक पक्ष है, तो उसमें प्रतीयमान अर्थ या भाव का अभिव्यंजन उसका दूसरा पक्ष है।

रचना और कल्पना

यद्यपि रचना विषयात्मक तत्व है, उसे भौतिक अथवा प्राकृतिक तत्व न समझना चाहिए। रचना सम्बन्धात्मक होती है और सम्बन्ध मन से गृहीत होते है।[2] आधुनिक भौतिकी में भूत-रचना के नियमों की गणित-वाच्यता उनकी शुद्ध आकारिकता सिद्ध करती है। नाना माध्यमों में वही सम्बन्ध एवं रचना व्याप्त हो सकती है। इसीलिये प्लेटो ने रचना-भेदों को तात्विक पक्ष में रखा था, न कि भौतिक पक्ष में और अरस्तू ने रचनात्मक रूपों को भूतात्मक उपादान से पृथक् किया है। प्रकृति उपादान है जो आकृति को व्यक्त करती है। अभिव्यक्ति चित्तसापेक्ष होती है और आकृति प्राकृतिक नहीं होती। प्रकृति अपने में निराकार एवं अव्यक्त शक्ति-लीला है—जिसमें निरन्तर विक्रिया होती रहती है।[3] उसमें जिन आकृतियों की अभिव्यक्ति होती है वे चित्त के द्वारा अवधार्य एवं विकल्पित होती हैं। दैशिक आकृतियों का अवधारण इन्द्रियों के प्रत्यक्ष से, कालिक आकृतियों का अन्तःकरणगत प्रत्यक्ष से, तार्किक आकृतियों का विकल्प के द्वारा होता है। मन की कल्पना-वृत्ति इन सभी रूपों या आकृतियों को वस्तु-ग्राहिता के बिना आन्तरिक प्रतिभासमात्र से उपस्थित कर सकती है। जैसे प्रत्यक्ष के साथ साथ बुद्धि की तात्विक विकल्प-वृत्ति न्यूनाधिक मात्रा में व्यापारित होती है, ऐसे ही

---

१ तु० कुमारस्वामी, दि ट्रान्सफोर्मेशन आव नेचर इन आर्ट (न्यूयार्क १६३४), पृ० १५–१८।

२ ग्रीन इसी युक्ति से प्रकृति के आधारभूत 'आध्यात्मिक तत्त्व' की स्थापना करते हैं।

३ योगभाष्य में अव्यक्त को 'न सन्नासन्निरसत्' कहा है।

स्वच्छन्द कल्पनावृत्ति भी। जैसे हम रंग और रूप के प्रत्यक्ष के समय ही उनके आश्रभूत द्रव्य का 'विकल्प' करते हैं जिससे 'यह हरी पत्ती है', इस प्रकार का 'सविकल्प ज्ञान' उत्पन्न होता है, ऐसे ही हम प्रदत्त रंग और रूप को उनकी पृष्ठभूमि से एक विभक्त दृश्य के रूप में कल्पित भी कर सकते हैं, जैसे हरी पत्ती को हरित आकृति के रूप में। यह कल्पना व्यावहारिक धरातल पर प्रायः प्रयोजनानुकूल संस्कारों से अभ्यस्त रूप में नियन्त्रित होती है। उदाहरण के लिये हम जंगल को लकड़हारे की दृष्टि से देख सकते हैं, जिसमें एक व्यावहारिक ज्ञान-वृत्ति का प्राधान्य रहता है। हम इन स्थलों में दृश्य नहीं व्यवहार्य वस्तु 'देखते' हैं। किन्तु जिस समय हमारी कल्पना व्यावहारिकता अथवा अभ्यस्त रूढ़ियों से मुक्त होकर स्वच्छन्द रूप में विहार करती है, उस समय प्रकृति हमारे समक्ष एक अपूर्व 'दृश्य' बन जाती है। उसका प्रकृति-पक्ष, विकार्य वस्तु-पक्ष, भूल जाता है, उसकी औपादानिकता आकृति के अभिव्यंजन में परिसमाप्त हो जाती है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन में हमारी कल्पना निश्चेष्ट नहीं होती बल्कि यह कहना चाहिए कि उसमें प्रत्यक्ष-प्रदत्त आकृतिक-सम्भावनाएं कल्पना के अतर्कित और अनायास व्यापार से एक विशिष्ट 'दृश्य' के रूप में अवधारित होती हैं। ज्ञान-वृत्ति द्रव्य-जगत् प्रस्तुत करती है, कल्पना-वृत्ति दृश्य-जगत्।

प्राकृतिक सौन्दर्य-बोध में दृश्य का एक कल्पनायोजित प्रतिभास होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि यह सौन्दर्य-बोध कहीं भी हो सकता है। सूर्यास्त अथवा फूल सबको सदा सुन्दर नहीं लगते। दूसरी ओर जिस समय मन एक अवस्था-विशेष में होता है और हमारी दृश्य-कल्पना अभ्यस्त और रूढ सरणियों की उपेक्षा करती है, सामान्य से सामान्य विषय अपूर्व सौन्दर्य की झलक देने लगते हैं—टूटा हुआ तांगा, गन्दी गली, बुझती सिगरेट। न सिर्फ वे विषय जो पहले सौन्दर्यहीन लगते थे, बल्कि वे सभी जो पहले कुरूप लगते थे, दृष्टि-परिवर्तन से क्षण भर में रूपान्तरित हो जाते हैं। यह रूपान्तर उनकी प्राकृतिक वास्तविकता का नहीं बल्कि उनकी दृश्य-कल्पना का होता है। यह इस पर निर्भर करता है कि उनके आभ्यन्तरिक एवं पारिवेशिक रूप किस प्रकार से कल्पना द्वारा समायोजित होते हैं जिससे कि उनके प्रत्यक्ष आकारों को एक अपूर्व अन्विति मिलती है। न्यूनाधिक रूप में सभी में विद्यमान यह स्वच्छन्द और अपूर्व कल्पना ही कला की सृजन शक्ति या प्रतिभा का बीज है। इससे स्पष्ट होगा कि चित्रकार का सादृश्य-करण किसी प्राकृतिक वस्तु के याथार्थ्य का अनुकरण नहीं है बल्कि कल्पना-आयोजित

प्रतिभास के अनुसार रचना है।[1] कल्पना की अतीव प्रौढ़ता, स्वच्छन्दता एवं विलक्षणता के होने पर उसके द्वारा समायोजित प्रतिभास बाह्य दृश्य का प्रायः सर्वथा परित्याग कर विश्वामित्र के समान एक नयी सृष्टि ही प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। इस स्थिति में चित्र साधारण अर्थ में सादृश्यकरण छोड़ कर अप्राकृत रूप-विधान अथवा अमूर्त-विधान बन जाता है।[2] दृश्य चाहे प्राकृतिक हो चाहे चित्रास्थित, दोनों ही दशाओं में वह मूलतः स्वप्नवत् चित्र-प्रतिभास अथवा कल्पनावभास होता है। चित्राकाश चित्ताकाश से और रूप कल्पना से अपृथक् होता है।

आभास और संकेत :

चिरन्तन प्राकृतिक सौन्दर्य के बोध में भी जिज्ञासा-लेश से एक अर्थ-संकेत का आभास मिलता है। 'न जाने नक्षत्रों से कौन/निमन्त्रण देता मुझको मौन।[3] इत्यादि में प्राकृतिक सौन्दर्य की संकेतवाहिता व्यक्त है। किन्तु इन दृश्यों में संकेत स्पष्ट होते हुए भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता जैसे कोई पर्दे के पीछे की ओर इशारा कर रहा हो। न यह सांकेतिकता अनुमानाश्रित होती है, न रूढ़ि या 'समय' पर आश्रित ; और न यह अर्थ बुद्धि-विकल्पित अर्थ होता है। यह अर्थ क्या है, इसका कोई उत्तर नहीं दे सकता सिवाय इसके कि वह हृदय को छूता है और भाव के द्वारा गृहीत होता है। यही व्यक्त पर अनुक्त अर्थ सौन्दर्य का स्वरूप-निहित रहस्य है। हिमालय के शुभ्र शिखर के सामने, महासागर की अपार जलराशि के सामने, शरज्ज्योत्स्ना में, तडित्स्फुरण में, कादम्बिनी के गर्जन में, सामान्य व्यक्ति भी एक अस्फुट भाव का अनुभव करता है जो उसे अपने दैनन्दिन व्यक्तित्व से परे किसी

---

१ तु० कुमारस्वामी, **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० ८–१५। जहां कुमारस्वामी के लिये कल्पना सादृश्य प्रस्तुत करने में गम्भीर अर्न्तदृष्टि के रूप में होती है, कान्ट के लिये "यह निर्णय करने के लिये कि कोई वस्तु सुन्दर है या नहीं, हम उसके आकार या सादृश्य को विकल्प-ज्ञातव्य विषय का आकार न मानकर सुख-दुःख-संवेदी विषयी से कल्पना द्वारा सम्बद्ध करते हैं।" (**क्रिटीक ऑव जज्मेंट**, अनु० बर्नर्ड, लन्दन, १९३१, पृ० ४५)। वस्तुतः कल्पना इन्द्रियों और शुद्ध बुद्धि (निराभास, निर्विकल्प बुद्धि) के अन्तराल में वासनात्मक मन का खेल है।

२ "प्रकृति और कला अलग-अलग होने के कारण एक चीज नहीं है। कला के द्वारा हम अपने उस खयाल को प्रकट करते हैं जिसका विषय प्रकृति से निराला है।" पिकासो, उद्धृत, ओस्बोर्न, वही, पृ० २४।

३ तु० "शुचिशीतल-चन्द्रिका-प्लुताश्चिरनिशब्दमनोहरा दिशः।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि कस्याप्यथ हेतुतां ययुः॥"

ऐसे मूल्य का आभास देता है जिसकी सन्निधि आनन्दमय और जिसका विरह वेदनामय स्थितियों में मिलता है। सौन्दर्य की रमणीयता या कमनीयता प्रस्तुत दृश्य की रमणीयता या कमनीयता में समाप्त न होकर उसके अन्त-निहित चिरन्तन रहस्याच्छन्न अर्थ में एक अनन्तता पाती है। कुछ विचारक इसे 'रहस्यवाद' कह सौन्दर्यबोध पर आरोपित एक दार्शनिक या धार्मिक आग्रह मानते हैं। सौन्दर्यबोध में रहस्य की झलक अवश्य मिलती है, उसे 'किस' वाद से समझना चाहिए, यह बात दूसरी है। इस रहस्य के बिना सौन्दर्य चिर-विमृश्य, चिर-नवीन अनन्त बात न रह कर एक 'अनुकूल संवेदनीयता' मात्र रह जाती है जो उबाने लगती है।

रूप और लक्षण :

अपारदर्शी असांकेतिक रूप अपने में परिसमाप्त लक्ष्यमात्र होता है। ऐसे रूप की आदर्श-रचना या सौष्ठव के कोई सिद्धान्त निर्धारित नहीं किये जा सकते। मेल, सुडौलपन, सन्तुलन, छन्द, एकान्विति, प्रवाह आदि सिर्फ इतना ही बताते हैं कि रूप की रचना में सादृश्य और वैसदृश्य, एकता और अनेकता, दोनों मिलते हैं। इतने मात्र से प्रमाण-संयोग के बिना रचना कैसे होगी ? कितना सादृश्य, कितना विरोध, यह कैसे तय होगा ? रूपवादी या तो सुरुचि की दुहाई देते हैं या फिर कोई शास्त्रीय मान-व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। यथार्थवादी अथवा प्रभाववादी प्रकृतिदत्त पदार्थों को रूप के आदर्श मान के लिये प्रस्तुत करते हैं। किन्तु नाना स्त्रियों को देखने से यह पता नहीं चल सकता कि आदर्श स्त्री-रूप क्या है। वस्तुतः रूप के लिये इस प्रकार के सामान्य आदर्श की खोज ही निरर्थक है क्योंकि रूप जिसे प्रति-बिम्बित करता है उसके अनुसार ही उसकी रचना होना युक्त है। इसका यह अर्थ नहीं है कि रूप आवश्यकतया किसी बाह्य बिम्ब की अनुकृति होता है। रूप किसी अन्य का प्रतिरूप न होकर स्वयं ही बिम्ब हो सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में भी उसकी 'अर्थ'-प्रतिबिम्बता नष्ट नहीं होती। रूप जिस ओर संकेत करता है वही उसका अर्थ है और उस अर्थ का रूप लक्षण या मूर्तिमान् संकेत होता है। अपने लक्षित होने से वह किसी और बात को लक्षित कराता प्रतीत होता है। इस प्रकार रूप को एक सामान्य लक्ष्य मात्र न समझ कर एक अर्थद्योतक मूर्त विशिष्टता या लक्षण मानना चाहिए। प्लेटो ने खण्ड रूपों को एक अखण्ड और आदर्श रूप की अनुकृतियां कहा है किन्तु रूप जिसकी ओर संकेत करते हैं उसे आदर्श भले ही कहा जा सके, पुनः रूप नहीं कहा जा सकता है जैसे अवयव जिस ओर संकेत करते हैं उस अवयवी को निर्दोष अवयव नहीं समझा जा सकता। रूप की परिभाषा दृश्य-सामान्य न होकर मूर्त संकेत या लक्षण करनी चाहिए। लक्षण एक सांके-

तिक व्यापार है जिसके साधक-बाधक के रूप में मेल-बेमेल, सुडौल-बेडौल आदि गुण-दोष निर्धारित किये जा सकते हैं। इससे एक दृष्टि-परिवर्तन आवश्यक होता है : सौन्दर्य का सामान्य रूप नहीं होता, प्रत्येक रूप का सौन्दर्य होता है जो कि उसकी प्रतिविशिष्ट मूर्ति में प्रतीयमान अर्थ या मूल्य होता है। किसी भी रूप को एक भावव्यंजक लक्षण की तरह प्रस्तुत करना ही उसके सौन्दर्य का मूर्ति-विधान है। मूर्त संकेत, या 'लक्षण' बनते ही वह एक आबदार मोती की तरह किंचित् पारदर्शी अर्थवाही रूप बन जाता है और सौन्दर्यबोध को जन्म देता है। रूप मानों एक बाहरी सतह है जो अपने अन्दर एक मूल्य का लक्षण बनती है। उसकी इस 'स्वलक्षणता' के बोध में एक ऐसी मूल्य-प्रतीति व्याप्त रहती है जो अपरिभाषित रहते हुए भी अद्वितीय लगती है। 'रहीम के टूटे टांगे का चित्र' न सब टांगों का, न सब टूटे टांगों का प्रतिनिधित्व करता है, वह अपने आप में एक अकेला रूप है जिसमें एक अद्वितीय मूल्य-प्रतीति है। 'रूप' को अनन्त अद्वितीय रूपों की सम्भावना माना जा सकता है किन्तु इन रूपों को अलग-अलग रचने वाला तत्त्व, उन्हें अद्वितीय इकाइयों के रूप में पहिचानने वाला तत्त्व, उनका अतर्क्य भाव-सम्पर्क ही रहता है।

इसके विरुद्ध सौन्दर्य को रूप का आदर्श मानने पर अमूर्त लक्षण के समान मूर्त लक्षण भी सामान्यलक्षण अथवा स्वलक्षण कहा जा सकता है। 'वीनस डि मिलो' एक सामान्यलक्षण प्रस्तुत करती है, जबकि 'मोना लिसा' को स्वलक्षण ही कहा जा सकता है। सामान्य भाषा में लक्षण स्वभाव-व्यंजक होता है, सामान्य-लक्षण जातीय स्वभाव का व्यंजन करता है, स्वलक्षण व्यक्ति स्वभाव का। इन दोनों लक्षणों को संग्रह करते हुए, जिन्हें वे प्राचीन एवं अर्वाचीन कहते हैं, बोसेंके का कहना है कि सौन्दर्य को 'किसी माध्यम में अभिव्यंजकता की सामान्य शर्तों के अनुकूल प्रत्यक्ष अथवा कल्पना के लिये स्वभाव की अभिव्यंजकता' परिभाषित करना चाहिए।[1] अभिव्यंजकता की सामान्य शर्तों से बौसैंन्के का तात्पर्य पूर्वोक्त रूप-रचना के सामान्य सिद्धान्तों से है। किन्तु जैसा ऊपर सिद्ध किया गया है ऐसी स्थिति में इस परिभाषा में पुनरुक्ति होती है क्योंकि अभिव्यंजकता सौन्दर्य के लिये आवश्यक भी है, पर्याप्त भी। अभिव्यंजकता के आधार पर ही रूप-रचना के तत्त्व, अथवा गुण-दोष का निर्धारण किया जा सकता है। किसी रूप की लक्षणात्मकता या स्वतः सांकेतिकता ही उसे सौन्दर्यविधायक बनाती है। वह लक्ष्यमात्रतया कैसा है, यह अप्रासंगिक है। लक्षणतया पार-

१ बोसैंन्के, हिस्टरी आव इस्थैटिक्स, (लन्दन, १६३६) पृ० ५।

दर्शी होने पर रूप अपनी ठोस इदन्ता से मुक्त होकर संकेत बन जाता है। इस मुक्ति और रूपान्तर का कारण लक्षण-व्यापार है, न कि जैसा बोसैन्के का कहना है, स्वभाव की प्रतीति। स्वभाव को सौन्दर्य का विषय बनाने पर तो सौन्दर्य प्राकृतिक धर्म बन जाएगा। न संकेत ही स्वभाव है, न उसका अर्थ ही। संकेत का स्वभाव ही अपने स्वभाव का निषेध और अर्थ का आवाहन है और सहज संकेतों का अर्थ सदा ही स्वभावतः अविदित रहता है। और फिर बोसैन्के की परिभाषा में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं कल्पना की पर्यायोक्ति उन्हें समान-कोटिक कर देती है जबकि वस्तुतः सौन्दर्यबोध कल्पनाभास ही होता है।

रूप-कल्पना का स्वरूप

रूप की सुन्दरता का अवच्छेदक उसका जातीय या व्यक्तिगत स्वभाव-सादृश्य नहीं होता बल्कि उसका भाव-सम्बन्ध होता है। स्वभाव केवल सत्ता अथवा कारित्र का अवच्छेदक होता है। स्वभाव द्रव्य-स्वभाव होता है और द्रव्य रूप का उपादान-मात्र होता है। वस्तुतः द्रव्य और गुण व्यवहार के विश्लेषण में उपयोगी पदार्थ हैं। द्रव्य को नियत शक्ति भी कह सकते हैं, गुण को उसका नियत कार्य-व्यापार। उदाहरण के लिये हरी पत्ती का हरापन इस बात में है कि वह हरी रश्मियों का परावर्तन करता है। पानी का ताप उसके अणुओं (मौलीक्यूल्स) के उद्वेजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किन्तु रूप की कल्पना इस प्रकार की नहीं है। उसका सत्ता अथवा स्वभाव से कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है। वस्तु-जगत् और स्वप्न-जगत् दोनों में ही रूप प्रतिभासित हो सकते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि रूप का न वस्तु-अवस्तु से लगाव है, न प्रमा और भ्रान्ति से। वस्तुतः ये दोनों ही भेद व्यवहारानुगुण विकल्प के सापेक्ष हैं, जबकि रूप प्रतीतिसार है। प्रतीति की सविषयता को और उसके प्रकार एवं विषय-वस्तु के भेद को स्थगित कर एकान्वयी स्वप्रकाश आलम्बन बनी प्रतीति के अन्तरंग भेदाभेद की विशेषता ही रूप है। इस प्रकार की प्रतीति साक्षात्कारात्मक होती है क्योंकि उसमें परिच्छेद और स्फुटता दोनों होते हैं। उसमें विषय-विषयि-भेद भी निगीर्ण हो जाता है। इस प्रकार रूप का मूल यथार्थ अथवा अयथार्थ वस्तु अथवा भ्रम न होकर मन का अन्तःसाक्षात्कार, प्रतीति का आत्म-निमज्जन है। उसका सृजनात्मक पक्ष ही प्रातिभ कल्पना है। जब कल्पना विषयि-प्रधान होती है वह निरंकुश संकल्प-प्रधान दिवास्वप्न रचती हुई मानसिक क्रिया के रूप में हेय समझी जाती है और 'झूठी कल्पना' कही जाती है। जब कल्पना विषय-प्रधान होती है वह तर्क और ज्ञान-विज्ञान का अनुगुण विकल्पनात्मक प्रमाण-व्यापार बनती है। क्रियात्मक विषयि-प्रधान

संकल्प, और ज्ञानात्मक विषय-प्रधान विकल्प, इन दोनों से निराली है सृजनात्मक कल्पना या प्रतिभा जिसमें विषय-विषयि-भेद के साथ ही संकल्प-विकल्प गौण हो जाते हैं। इसीलिये रूप-प्रतीति या कल्पना न कर्म है, न ज्ञान, न भोगपरक है, न वस्तु-परक। वह स्वच्छन्द और आत्मविश्रान्त अनुभूति है। आत्मविश्रान्ति का अर्थ है प्रतीति का आत्म-परामर्श, अपने अर्थ का स्वयं लक्षण बनना। इस स्थिति को प्रकाश और विमर्श की समरसता कहा जा सकता है। प्रत्यवेक्षा में इसका प्रकाशांश ही 'रूप' अथवा 'सौन्दर्य' का अभिधेय है, विमर्शांश ही कल्पना या कला।[1] यही भावयित्री और कारयित्री प्रतिभाओं का, सहृदयता और कालाकारिता का, आस्वादन और सृजन का सहज समवाय है।

क्रोचे के मत की समीक्षा

क्रोचे ने कला, साक्षात्कार, कल्पना और अभिव्यक्ति का तादात्म्य बताया है। 'कला अन्तर्गृहीत प्रभाव की अभिव्यक्ति है।' "साक्षात्कार अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है, ज्ञापक व्यापार में निरपेक्ष और स्वतंत्र, परवर्ती इन्द्रिय बोध के विवेक की ओर तटस्थ, सत्यासत्य की ओर उदासीन, देश-काल के परवर्ती प्रत्ययों की ओर भी। साक्षात्कार, अनुभव, संवेदन और विमर्श की विषय वस्तु से भिन्न उसका रूप है। यह रूप या ग्रहण ही अभिव्यक्ति है।" "यदि अवधारणात्मक ज्ञान और कालिक विषय-वस्तु को कला के क्षेत्र से निकाल दिया जाय तो उसकी विषय–वस्तु प्राणिक स्पन्दन अथवा भाव के द्वारा अपनी अपरोक्षता एवं सहजता में गृहीत सत्यमात्र रह जाता है, जो कि विशुद्ध साक्षात्कार ही है।"[2]

क्रोचे के अनुसार साक्षात्कार की विषयता ज्ञानीय होती है, विषय विशेषात्मक। साक्षात्कार में विषय का अवधारण नहीं होता, उसका प्रतिभास या सम्मुख-दर्शन होता है। यहां तक क्रोचे का किया हुआ विशेष–प्रतिभास और सामान्य-प्रत्यय का भेद कोई नवीन नहीं है। किन्तु इस विशेष-प्रतिभास को प्रत्यक्ष से अलग किन्तु ज्ञान से अविलग रखने के लिये पर्याप्त हेतु देना आवश्यक है। क्रोचे सांवेदनिक विषय-वस्तु को साफ कर शुद्ध रूप को साक्षात्कार का विषय बनाना चाहते हैं। यह समझ नहीं आता।

---

१ तु० "य एव संवित्स्वभाव आत्मा स्वप्नसंकल्पादौ आभास-वैचित्र्यनिर्माणे प्रभु....स हि आत्मनि नीलादीन् आभासान् चित्रतया अपरिमेयया भासयति...." (अभिनवगुप्त **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, जि० २, पृ० १२)।

२ क्रोचे, **इस्थैटिक्स**, अनु० आइन्सली, पृ० ८ प्र०।

क्या रूप संवेदन–दत्त विशेष में अन्तर्निहित होता है ? यदि हां, तो उपादान-निरास से वह एक बौद्धिक अमूर्तरूप बन जाएगा। फिर, इस रूप को क्रोचे कल्पना, कल्पना को अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति को कला कह देते हैं। विशेष के बोध में अवधारणा-प्रत्ययों के बिना ध्यान देने से जो स्पष्ट 'निमित्त' या मानस-बिम्ब उत्पन्न होता है, शायद उसे क्रोचे कल्पना कहते हैं। किन्तु इस अर्थ में कल्पना 'सृजनात्मक समन्वय' (प्रौडक्टिव सिन्थैसिस) कैसे कही जा सकेगी ? क्रोचे कल्पना को कभी ध्यानात्मक, कभी रचनात्मक मानते हैं। वास्तव में 'निमित्त' (इमेज) और कल्पना (इमैजिनेशन) को एक ही नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग 'निमित्तों' की सत्ता ही नहीं मानते या उन्हें कला में सर्वथा गौण मानते है, जैसे एम्पसन[1], और यह अनिराकार्य है कि ज्ञान में 'योजना' का 'निमित्त' से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। योजना के लिये लक्षण आवश्यक है, न कि बिम्ब। क्रोचे के लिये साक्षात्कार ध्यान द्वारा निमित्तरूप से घनीभूत और विशदीभूत विशेष-प्रतिभास है और उसकी समायोजना कल्पना है। यह स्पष्ट नहीं होता कि यह समायोजना कहां प्रारम्भ और कहां अन्त होती है। ऐसा लगता है कि संवेदन के 'विशोधन' और 'उपादान-विमोचन' से प्रारम्भ कर नाना साक्षात्कारों, विकल्पों आदि को एक वृहत् साक्षात्कार में समायोजित कर एक कलाकृति की रचना तक सभी कल्पना का व्यापार है। इस विस्तृत अर्थ में कल्पना और साक्षात्कार की एकता अस्पष्ट हो जाती है। इसमें अभिव्यक्ति किसकी होती है ? क्रोचे कहते हैं भाव की, किन्तु वे भाव को इसके अतिरिक्त सत्ताशील भी नहीं मानते। कल्पना में ही भाव अपने को पाता है। यहां स्पष्ट ही भाव का सामान्य अर्थ नहीं है। वस्तुतः क्रोचे ने भावबोध और सार्थकताबोध का विवेक नहीं किया है, न रूप और संकेत का। सामान्यतः कल्पना के अनुरूप बाह्य उपादान के गढने को अभिव्यक्ति कहा जाता है। क्रोचे की दृष्टि से यह अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति निरर्थक होगी। कला का भौतिक रूप उसका अनावश्यक औपाधिक रूप है। इस मत में संकेत रचना के पूर्व रूप-रचना की जो कल्पना की गई है वह सर्वथा अश्रद्धेय है।

जहां तक क्रोचे सौन्दर्य के बोध को एक ऐसे विशेषात्मक बिम्ब का अपरोक्ष ज्ञान बताते हैं जो भाव को व्यक्त करता है, उनका मत समंजस है, किन्तु वे 'बिम्ब', 'ज्ञान', 'भाव' और 'अभिव्यक्ति,' इन सभी का समुचित विश्लेषण नहीं करते। हम ऊपर अपना मत कह चुके हैं कि न तो यह बोध ज्ञान-जातीय कहा जा सकता है, न उसकी अपरोक्षता प्रत्ययात्मक परोक्ष

---

१ औस्बोर्न, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५१--५६।

ज्ञान के निचले स्तर की प्रत्यक्षजातीय कही जा सकती है। किन्तु सौन्दर्य-बोध एक व्यंजकता से युक्त विशेषात्मक लक्षण की ऐसी अनुभूति है जिसमें विषय-विषयि-बोध असामान्य हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। ड्यूई ने 'अनुभव करने' और 'अनुभूति होने' में भेद किया है। अनुभूति केन्द्रित, सम्पूर्ण, 'भावों के बिना भावसम्पृक्त' होती है। "अकलात्मक दो सीमाओं के बीच में पड़ता है। एक ध्रुव पर ऐसी शिथिल आनुपूर्वी है जो किसी खास स्थान पर न आरम्भ होती है, न समाप्त। दूसरे ध्रुव पर है रुकावट या अटक जो कि अवयवों के निरे यान्त्रिक सम्बन्ध से उत्पन्न होती है।" 'कलात्मक का विरोधी न व्यवहार में है, न बुद्धि में। उसकी विरोधिता है रोजमर्रे की सामान्यता में, ढीले ढालेपन में, व्यावहारिक और बौद्धिक अभ्यासों की रूढ़िग्रस्तता में।'[1]

ड्यूई ने जीवन-प्रवाह में सौन्दर्यानुभूति की विशिष्टता लक्षित की है किन्तु उन्होंने उसकी 'सम्पूर्णता' को उसके स्वाराज्य के रूप में नहीं देखा है। 'अनुभूति' अनुभव की गतिशील कसावट या परिष्कारमात्र नहीं है, वह अनुभव का स्तरान्तर है। किन्तु यह भी सही है कि वह अनुभव में अन्तर्व्याप्त है और उसके किसी भी बिन्दु से स्पर्शरेखा के समान स्फुरित हो सकती है।

सौन्दर्यबोध की द्विदलता

सौन्दर्यानुभूति का विषय व्यंजक रूप या लक्षण कहा जा चुका है। हमारी व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है कि रूप या लक्षण स्वयं मूर्त संकेत बन कर एक रहस्याच्छन्न अर्थ की भावमय प्रतीति कराता हुआ उसका प्रकाश-सा प्रतीत होता है। यह अर्थबोध द्विदल होता है। एक ओर यह रूप-रचना की निर्दोष प्रतिविशिष्टता या सामान्य-विशेष के सामरस्य में सौन्दर्यात्मक विशिष्ट मूल्य की विशिष्ट कलात्मक अनुभूति होती है और दूसरी ओर यह अनुभूति एक विषयतया उपदर्शित मूल्यानुभूति से ऐसे उपरक्त होती है जैसे जपापुष्प से स्फटिक। कलात्मक रूपगत मूल्य और विषयवस्तुभूत मूल्यानुभूति दोनों एक ही द्विदल अनुभूति में अपृथक् रूप से अन्तर्भूत होते हैं और प्रत्येक दल में बोध भाव और विवेक दोनों आयामों में परिगृहीत होता है। रूप-रचना अथवा शिल्प के सौष्ठव की अनुभूति 'चमत्कार' कही जा सकती है, जीवन-मूल्य अथवा 'सत्य' की कल्पनात्मक अनुभूति भाव-साक्षात्कार या 'रस' कही जा सकती है। चमत्कार में गुण-दोषाभिसमय, विषयोल्लेखिता' अपूर्वता, अपरोक्षता, आकर्षण, प्रशंसा, विस्मय का भाव

१ ड्यूई, आर्ट एज़ एक्सपीरियन्स, (१६३४) अध्याय ३।

और आनन्द जुड़े रहते हैं, रस में भावोल्लेखिता, निर्वैयक्तिकता, मूल्याभिसमय, बिम्बालम्बिता, अपरोक्षता, आनन्द और तन्मयता रहते हैं। दोनों ही भावना (=ध्यान) जन्य, आकारवेधी अनासक्त आस्वाद हैं, एक शिल्प-पारखी का, एक जीवन-द्रष्टा का। चमत्कार में प्रशंसा का भाव प्रधान रहता है, रस में मार्मिकता का। दोनों में ही साक्षी का अलगाव, तन्मयता और आस्वाद रहते हैं।

भाव की स्थिति

कलास्वाद के सन्दर्भ में भाव की स्थिति ठीक क्या है, यह विवेच्य है। उदाहरण के लिये संगीत में स्वर, राग, ताल और लय ही प्रसन्न और शान्त, गम्भीर और करुण आदि प्रतीत होते हैं। संगीत इन भावों को हम में जगाता है, या उनकी प्रतीति हम तक पहुंचाता है, या स्वयं उन भावों से युक्त होता है, इस प्रकार के प्रश्नों को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ है। इनमें तीसरे पक्ष का कुछ नवीन लेखकों ने समर्थन किया है जिनके अनुसार शान्त, करुण आदि ही मुख्यतः विशेषण हैं। बौउस्मा के अनुसार 'विषाद वैसे संगीतगत होता है जैसे लालिमा सेब में।'[1] औटोबेन्श का कहना है कि 'प्राकृतिक दृश्य भाव-व्यंजक नहीं, भावयुक्त होता है।'[2] वे इसके मूल में इस तथ्य को अभ्युपगमित करते हैं कि सभी प्रत्यक्ष में वस्तुगत भावात्मक गुणों का प्रत्यक्ष होता है। यह प्राचीन सांख्य की इस मान्यता की याद दिलाता है कि वस्तुओं के घटक गुण सुख, दुःख और मोहात्मक होते हैं। किन्तु सांख्य में इनकी प्रतीति चित्तगत ही मानते हैं। औल्ड्रिच का कहना है कि जैसे भौतिक गुणों का ऐन्द्रिय-'प्रतिभास' रूप, शब्द आदि ऐन्द्रिय गुणों को विषयी से अलग भौतिक विषय-निष्ठ प्रदर्शित करता है, ऐसे ही दूसरे स्तर पर ऐन्द्रिय-गुणों का भावात्मक-प्रतिभास भावात्मक गुणों को विषयी से अलग ऐन्द्रिय गुण-निष्ठ प्रदर्शित करता है।[3] हैपबर्न के अनुसार 'कहने के इन दो ढंगों में-भाव का उद्बोधन और भावात्मक गुणों को अभिज्ञान-दूसरा अधिकांश रसास्वादीय सन्दर्भों में हमारे वास्तविक अनुभव के निकट है।'[4] सामान्य जीवन में भाव विषयी मानस के विशेषण होते हैं-'मेरा मन

१ बौउस्मा, 'एक्सप्रैशन थियरी ऑव आर्ट,'—ऐल्टन, सं० **इस्थैटिक्स एण्ड लैंग्वेज** (आक्सफोर्ड १९६७) पृ० ७३–६६।

२ औटोबेन्श, 'कुन्स्त उन्द गेफूल' (लोगोस, १९२३) उद्धृत, सूसन लैंगर, **फीलिंग एण्ड फोर्म**, (न्यूयोर्क १९५३) पृ० १९।

३ सूसन के० लैंगर (सं०) **रिफलैक्शन्स आन आर्ट**, पृ० ४ प्र०।

४ रोनल्ड हैपबर्न 'इमोशन्स एण्ड इमोशनल क्वालिटीज़'—औसबोर्न, **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० ८१–६३।

सुखी, दुःखी, शान्त, उद्विग्न आदि है।' सौन्दर्य-बोध में किस प्रकार ये भाव दृश्य या श्रव्य विषय के विशेषण बन जाते हैं, इसे समझाने के लिये मौरिस जोन्स का कहना है 'भाव को पहिचानना ऐसा है जैसा एक अर्थ को समझना।' 'ये भाव न स्रष्टा के हैं, न द्रष्टा के, ये कलागत हैं जैसे अर्थ भाषागत। और कलात्मक भाषा सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़ियों पर निर्भर करती है।'[1] कला की भाषात्मकता के प्रतिपादकों में कासीरर और सूसन लैंगर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सूसन लैंगर के अनुसार संगीत के तत्त्व भावों के छन्द और योजना को प्रतिच्छन्दित कर उसके संकेत बनते हैं।[2] उनकी कला की परिभाषा है 'मानव-भावों के संकेतभूत रूपों की सृष्टि कला' है।[3] भाषा विचार-विकल्प का प्रत्यायन करती है, कला रूप-सादृश्य के द्वारा संकेत करती है।[4] भाव का छन्द तो समझ आता है और संगीत, कविता आदि में छन्द उसका ही प्रतिरूप प्रायः माना भी जाता है किन्तु भाव की 'योजना' या 'रूप' क्या है अथवा किस तरह उसका सादृश्य-विधान सम्भव है, यह दुर्बोध है। इन कठिनाइयों से बचने के लिये ओस्बोर्न का कहना है 'भावात्मक गुणों का प्रत्यक्ष भावात्मक प्रत्यक्ष की विशेषता है। ऐसी स्थिति में द्रष्टा का भाव विषय को उसके अनुकूल दृश्य बनाता है। जैसा सार्त्र ने कहा था 'भाव जगत् को प्रत्यक्ष करने का एक प्रकार है।'[5] यह सही है कि विषादमग्न मन को हवा अनायास रिरियाती और बादल आंसू बरसाते लग सकते हैं, जैसे प्रहृष्ट मन को हवा इठलाती और बादल धूमधाम में व्यस्त लग सकते हैं, किन्तु ये प्रत्यक्ष के स्थल नहीं, कल्पना के हैं, और फिर प्रश्न यह है कि क्या सौन्दर्य अथवा कला के बोध के लिये पहले से ही किसी भाव-दशा या 'मूड' में मन को रखना पड़ेगा ताकि उपयुक्त ढंग से विषय देखे जा सकें ?

सौन्दर्यानुभूति या कलानुभूति में भाव के अवस्थान और सम्बन्ध का विशद निरूपण प्राचीन काल से ही विचारकों के लिए एक टेढ़ी खीर रही है। जैसा सुविदित है रस-निष्पत्ति की व्याख्या में नाना आचार्यों ने इस

---

१ मौरिसजोन्स, 'दि लैंग्वेज ऑव फीलिंग्स, औसबोर्न' **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० ९४-१०४ तु० कान्ट, **क्रिटीक ऑव जज्मैन्ट**, पृ० २५२ जहां बाह्य विषयों के भाववाची विशेषणों को औपम्यमूलक कहा गया है।

२ सूसन लैंगर, **फीलिंग एण्ड फ़ौर्म**, पृ० २७।

३ वही, पृ० ४०।

४ वही, पृ० २९--३३।

५ 'दि क्वालिटी ऑव फीलिंग इन आर्ट', औसबोर्न, **पूर्वनिर्दिष्ट** १०५--२१।

विषय पर अपने मत प्रकट किये हैं। आधुनिक विचार की तुलना में प्राचीन विचार स्पष्ट ही गम्भीरतर है क्योंकि वह 'भाव' और 'आत्मबोध' को अभ्यस्त नैसर्गिक-व्यावहारिक भूमि पर ही आधारित नहीं मानता। 'अध्यात्मविज्ञान' को छोड़ कर कला की व्याख्या 'मनोविज्ञान', 'समाजविज्ञान' या किसी पृथक् 'कलाविज्ञान' के द्वारा नहीं हो सकती। भट्ट लोल्लट कलाविषय में यथार्थ विषय का सारूप्य द्वारा आरोप मानते हैं और इस आरोप के द्वारा यथार्थगत भाव की सामाजिक में तटस्थ प्रतीति मानते हैं।[1] यथार्थ के स्तर पर जिस स्थिति में भाव उत्पन्न होता है उस स्थिति के कला-विषय पर आरोप से भाव की एक तटस्थ अथवा विषय के रूप में प्रतीति होती है। यह आपत्ति हो सकती है कि यदि यह ठीक है तो भावोत्पत्ति की यथार्थ स्थिति का तटस्थ साक्षात्कार सर्वोत्तम रसानुभूति होना चाहिए, जैसा कि नहीं होता। पर यह आपत्ति इस बात को भूल जाती है कि यथार्थ जीवन में भावोत्पत्ति की स्थिति का साक्षात्कार तटस्थ रूप से नहीं हो पाता। खिलौना टूटने पर रोते हुए बच्चे को देखकर खुद हमारा दिल रोने लगता है और हम बच्चे के लिये कुछ करने को प्रवृत्त हो जाते हैं। जीवन्मुक्त की सम्भवतः यह स्थिति हो कि वह समस्त यथार्थगत भावों को रज्जुसर्पवत् आरोप्य समझता हुआ उनका तटस्थ साक्षात्कार करे। यदि यह सच है तो कला कृत्रिम उपायों से इसी स्थिति को दर्शक तक उपनीत करती मानी जानी चाहिए।

इस मत के वास्तविक दोष दो हैं, एक व्यापक, दूसरा सीमित। भाव-बोध को तटस्थ प्रतीति बताना आस्वाद की अनुभूति से संगत नहीं है। भाव के बोध को तटस्थ वस्तु-बोध के समकक्ष नही माना जा सकता। दूसरी ओर जिस कला में सादृश्य-विधान नहीं होता, उसमें आरोप कैसे सिद्ध होगा? उदाहरण के लिये संगीत में भी रसस्वादन होता है किन्तु उसमें किसी लौकिक भावोत्पत्ति की स्थिति का आरोप नहीं होता है। यह सही है कि कान्ट ने संगीत के प्रभाव को यथार्थाभिसम्बन्ध से जोड़ने का प्रयास किया किन्तु इस प्रयास को खींचातानी ही कहा जा सकता है। अरस्तू ने संगीत को अनुकृति बताया है, पर यह अनुकृति प्राण-छन्द की ही हो सकती है, इसे संगीत की रंजकता का एकमात्र अथवा मुख्य तत्त्व भी कहना कठिन है।

---

१ अभिनवगुप्त ने, **अभिनवभारती** में, मम्मट ने **काव्यप्रकाश** में और जगन्नाथ पंडितराज ने **रसगंगाधर** में इन पुराने आचार्यों के मत का विशेष उल्लेख और विवेचन किया है। आधुनिक हिन्दी आलोचना में भी ये संदर्भ बहुधा उद्धृत और विवेचित हुए हैं—उदा० डा० नगेन्द्र, **रससिद्धान्त** (१९६४) तृतीय अध्याय; हिरियन्न, **आर्ट एक्सपीरियन्स** (१९५४) पृ० १३ प्र०।

शंकुक ने सादृश्यमूलक कला-विषय का भी यथार्थ-विषय से सम्बन्ध अनवधारित बताया है और यह माना है कि कला-विषय में अनुमेय भाव द्रष्टा के लिये अपने भाव-संस्कार के कारण आस्वाद्य होता है। शंकुक की यह बात तो मार्मिक है कि यद्यपि आस्वाद्य भाव स्वगत नहीं होता, उसका आस्वादन स्वगत भाव-वासना की अपेक्षा अवश्य रखता है। किन्तु आस्वाद्य भाव उस प्रकार का ज्ञान-विषय नहीं हो सकता जैसा अनुमानादि का विषय। वैसी स्थिति में भाव परोक्ष और तटस्थ विषय हो जायेगा। शंकुक ने चित्र तुरग-न्याय से कला-विषय के बोध की सत्य, मिथ्या, संशय और सादृश्य से विलक्षणता कौशल से प्रदर्शित की है किन्तु कला-विषय और भाव के सम्बन्ध को अस्पष्ट छोड़ दिया है।

भट्टनायक ने कलाविषय को उस दोहरी शक्ति की ओर ध्यान दिलाया है जिससे वह भावित होकर निर्वैयक्तिक बनता है और अपने विषयी मानस में सात्विक आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करता है। यद्यपि आस्वाद का विषय निर्वैयक्तिक है, आस्वाद व्यक्तिगत है। किन्तु कला-विषय से इस प्रकार का निर्वैयक्तिक आस्वाद—कान्ट का 'अनासक्त आस्वाद'[1]—किस प्रकार उत्पन्न होता है, यह स्पष्ट नहीं है।

आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए अभिनवगुप्त ने ध्वनि अथवा व्यंजना के निवेश से इस कमी को पूर्ति की। कलाविषय सहृदय-मानस की कल्पना का आलम्बन बन उसके अन्तःस्थ भाव को निर्वैयक्तिक रूप से व्यक्त करता है। यह भाव ही तन्मयता से आस्वाद्य होता है। यह आस्वाद या रस चिदावरण-भंग ही है किन्तु यह भावोपाधिक और सालम्बन होता है। इसे चिद्विशिष्ट भाव अथवा भावविशिष्ट चित्, इन दो प्रकारों से समझा जा सकता है।[2] हम यह कहना चाहेंगे कि दोनों ही प्रकारों में भावगर्भस्थ एवं वासनाविषयों में ममत्वाभिमानी 'मैं' तात्कालिक रूप से स्वयं अपना द्रष्टा बन जाता है।

इन मतों में सौन्दर्यास्वाद या रस की अलौकिकता क्रमशः स्पष्ट होती है। लौकिक अनुभव में भाव का आश्रय साहंकार व्यक्ति और विषय बाह्य हेतु होता है और भावोत्पत्ति सुख-दुःख-भोग की ओर ले जाती है। काव्यादि की अनुभूति में बाह्य हेतु कल्पना के अन्तर्गत आलम्बन बन जाता है, साहंकार व्यक्तित्व स्थगित हो जाता है और भाव की उत्पत्ति के स्थान

---

१ कान्ट, **क्रिटीक ऑव जज्मैन्ट,** पृ० ४६–४७ तु० बोसैंन्के की रसास्वाद की परिभाषा—"भाव या आकार के तात्कालिक या प्रत्याशित इन्द्रिय-विकार से भिन्न उसके स्वरूप में सुख" (**हिस्टरी ऑव इस्थैटिक्स,** पृ० ७)।

२ द्र० जगन्नाथ पंडितराज, **रसगंगाधर,** रस प्रकरणम्।

पर उसकी (भाव की) **अभिव्यक्ति** होती है। कल्पना से भाव व्यक्त होता है और भाव की उपाधि में आनन्द व्यक्त होता है। कल्पना को प्रेरित करती है शब्द आदि की सांकेतिकता या अभिव्यंजन शक्ति।

भाव और मूल्य

इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि यद्यपि कला में अनुभूत भाव द्रष्टा के संस्कारों की अपेक्षा रखता है उसकी अनुभूति निर्वैयक्तिक रूप से होती है, विषयी से अभिन्न और विषयगत न होते हुए भी वह भाव स्वयं विषयवत् स्पष्ट और आस्वाद्य होता है। इस प्रकार का आस्वादन चेतना का एक निराला आयाम है और उसका लौकिक इच्छा-पूर्ति, भोग, भावुकता आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भाव का उदय कल्पना के स्तर पर होता है और यह उदय वास्तविक उत्पत्ति न होकर अभिव्यक्तिमात्र होती है। वास्तविक उत्पत्ति में भाव अपने विषय की वास्तविकता में विश्वास की पूर्वापेक्षा रखता है और व्यक्तित्व से सम्बद्ध होकर ही उत्पन्न होता है। कल्पना के स्तर पर भाव आकारतः व्यक्त होता है, न कि सत्तया उत्पन्न। इस प्रकार का विशदाकार और व्यक्तित्व-मुक्त भाव चेतना के सहज आनन्द को सविशेष और सालम्बन रूप में प्रतिबिम्बित करता है। प्रत्येक भाव एक 'स्थिति' की परिधि में मूल्यावभास होता है। 'स्थिति' मलतः आत्मिक होती है किन्तु 'यथार्थ जीवन' में वह व्यवहारासक्त 'अहं-मम' के निजीपन या अविद्या से आवृत होती है। इस आवरण के भंग होने पर आत्मा की एक औपाधिक स्थिति द्रष्टा या साक्षी आत्मा के अन्तरंग आलोक में उद्भासित हो जाती है। इस स्थिति के लोकोत्तर अलगाव में लौकिक भाव अविद्या की रचना न रह कर स्वयं लोकोत्तर आत्मानुभूति बन जाता है जिसे अन्तर्दृष्टि भी कहा जा सकता है आस्वाद भी। भाव 'जगत् के प्रत्यक्ष का एक प्रकार' न होकर आत्मा के 'आभास' का एक प्रकार है। यह बात दूसरी है कि 'विक्षेप'-रूप[1] में जगत् स्वयं आत्मावभासी है, पर बिना अविद्या के कथंचित् स्थगन के 'जगत् का प्रत्यक्ष' दुःखात्मक अनात्म-प्रत्यक्ष ही रह जाता है।

सांकेतिक अभिव्यंजन

भाव का संकेत या अभिव्यंजकता क्या है? क्रोचे अभिव्यक्ति को भाव का कल्पना-मूर्त रूप ही बताते हैं किन्तु इस अभेद प्रतिपादन से व्यंग्य-व्यंजक-भाव ही नष्ट हो जाता है। कौलिंगवुड ने भाव के अभिव्यंजन और भाव के

---

१ अद्वैत के अनुसार अविद्या का एक व्यापार।

उद्‌बोधन में सयुक्तिक भेद किया है।[1] अभिव्यंजन भाव को स्वयं समझना और दूसरे को समझाना है। उद्‌बोधन दूसरे को उसी उलझन में डाल देना है जिससे मुक्ति का उपाय अभिव्यंजन है। अभिव्यंजन भाव को स्पष्ट रूप देकर समझना और स्वसमानतया अन्य का प्रत्यायन है। भावोद्‌बोधन जीवन-स्तरीय राग-बन्धन है, भावाभिव्यंजन कलास्तरीय अन्तर्दर्शन और आत्म-विमोचन है। इस मत ने क्रोचे के अनुसार स्वयं अन्तर्दर्शन और पर-प्रत्यायन को एक कर दिया है, जो प्रमाणानुगुण नहीं है। दूसरे, कला-क्षेत्र से भावोद्‌बोध का सर्वथा निरास भावाभिव्यक्ति को तटस्थ और नीरस प्रतीति बना देगा।

भाव की अभिव्यक्ति संकेत से किस प्रकार होती है? ज्ञापक होने के नाते कोई विषय संकेत कहलाता है। ज्ञापक विषय किसी विषयी के लिये विषयान्तर के ज्ञान का हेतु होता है। ज्ञापकता-सम्बन्ध तीन सम्बन्धियों में रहता है अथवा यह कहना चाहिए कि ज्ञाप्य-ज्ञापक-सम्बन्ध ज्ञातृ-सापेक्ष होता है। संकेत सत्तया ज्ञापक न होकर ज्ञाततया ज्ञापक होता है। फलतः संकेत की ज्ञापकता संकेत का कारण-व्यापार नहीं है, वह संकेत-ज्ञान का व्यापार है। संकेत और उसके विषय के सम्बन्ध के ज्ञान से समर्थित होकर अथवा उसके बिना ही यह संकेत-ज्ञान का ज्ञापक-व्यापार निष्पन्न होता है। पहले विकल्प में सम्बन्ध के स्वाभाविक होने पर संकेत अनुमान हेतु अथवा लिंग कहा जाता है। सम्बन्ध के कल्पित होने पर संकेत प्रतीक बन जाता है। सम्बन्ध-ज्ञान के बिना जहां संकेत-ज्ञान ज्ञापक बनता है वह व्यंजक कहा जा सकता है।[2]

यद्यपि व्यंजक-संकेत ज्ञाततया ज्ञापक होता है, व्यंजक-शक्ति या व्यंग्य-व्यंजक-सम्बन्ध स्वरूप-सत्तया ही व्यापारित होता है। अभिव्यंजन

---

१ कौलिंगवुड, **दि प्रिन्सिपल्स आॅव आर्ट** (ओक्सफोर्ड, १९७०), पृ० १०९ प्र०।

२ कान्ट ने वाचक (स्कैमेटा) और प्रतीक (सिम्बल) का भेद एक के योजना-मूलक और विकल्प-परक एवं दूसरे के सादृश्यमूलक और प्रतिभासपरक होने से किया है—**क्रिटीक आव जज्मैन्ट**, पृ० २४९–५०; सूसनलैंगर (**फीलिंग एण्ड फ़ौर्म**) एवं चार्ल्समौरिस, (**साइन्स, लैंग्वेज एण्ड बिहेवियर**) ने इस भेद का संकेत (साइन) और प्रतीक (सिम्बल) अथवा 'सिगनल' एवं 'सिम्बल' कह कर अनुसरण किया है। यह भेद-प्रणाली अभिधान और सादृश्य-विधान पर आश्रित है। इसमें 'व्यंजक' का तत्त्व छूट जाता है क्योंकि उसका व्यापार 'संकेत' और 'अर्थ' के यथाकथंचित् अनुभूति-संसर्ग पर ही आश्रित होता है। उसके लिये न रूढ़ि आवश्यक है, न सादृश्य।

एक पूर्व-सिद्ध विषय को उसकी परोक्षावस्था से निकाल कर अपरोक्ष बनाता है। विषयी की संस्कार-महिमा से ही व्यंजक का कार्य सिद्ध होता है। व्यंग्य विषय अनुभूति-विशेष का मानस-साक्षात्कार या 'निमित्त-प्रतिभास' होता है जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान, स्मृति और कल्पना से भिन्न होता है। प्रूस ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास '**बीते समय का अनुसन्धान**' में यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार संस्कार-वैचित्र्य के बल से अप्रस्तुत अनुभूति के द्वारा प्रस्तुत अनुभूति का आवेश स्मृति के तत्वों से अपूर्व और चमत्कारी प्रतिभान की सृष्टि करता है। व्यंजना का ग्रहण ग्रहीता के मन के समक्ष भावानुभूति का स्फुटबिम्ब रखता हुआ ग्रहीता की समानुभूतिशीलता के द्वारा उसके भावों का अस्फुट उद्बोधन करता है।

प्रतीकात्मक संकेतों में भाषा प्रधान है। विकल्पात्मक ज्ञान के संकेत के रूप में भाषा अभिधायक या वाचक संकेत बनती है। इस प्रकार के संकेत अपने रूढ़िमात्र से ज्ञापक होते हैं। इस ज्ञापन या अभिधान में एक सामान्य अभ्यस्त और तटस्थ बोध होता है जो कि शास्त्रीय अथवा दैनन्दिन व्यवहार का विकल्पात्मक अंग कहा जा सकता है। रूढ़ संकेत अथवा सामान्य गद्य या शास्त्र की भाषा, अनुभूत विश्व का वस्तुसात्करण और वस्तुओं के संबंधों का निर्देश करती है। वह भावादि अनुभव-प्रभेदों को भी उसी प्रकार बताती है जैसे नील, पीतादि को। वे भी उसके लिये नाना सम्बन्धों से रचित वस्तु-पदार्थ हैं। व्यक्ति-पदार्थ का प्रतिपादन भाषा में 'नाम' से होता है किन्तु उसका स्वरूप अप्रतिपादित रहता है। सामान्य या जाति पदार्थ सम्बन्ध-विश्लेषणात्मक विकल्प होते हैं जिनमें 'सम्बन्धी' 'मूल्यापेक्षी' या सर्वनाम-स्थानीय होते हैं। अभिधायक भाषा का कार्य वैसा ही है जैसा रास्ता बताने वाले चिह्नों का। उसका व्यक्तिवाचक पक्ष सर्वथा कृत्रिम होता है और सामान्य-वाचक पक्ष कथंचित् व्यवहारस्पर्शी एक विकल्पित वस्तु-जगत् का नक्शा होता है। जो कला को भाषा कहते हैं वे भाषा के इस मुख्य पक्ष पर ध्यान नहीं देते लगते हैं।

जब माइकौवस्की ने जन-मानस या लोक-चेतना को भाषा के निर्माता के रूप में मुख्य कलाकार और कलाकारों को उसके अन्तेवासि-स्थानीय कहा था तो उनका ध्यान भाषा के वाचक-पक्ष की ओर न होकर उसमें निहित लक्षणा, व्यंजना आदि की सम्भावनाओं पर था। जब प्रयोग-सन्दर्भ की विशेषता से अभिधायक-संकेत का मुख्य अर्थ बाधित होकर तत्संबद्ध अर्थ भासित होता है तो संकेत लाक्षणिक कहलाता है। सम्बन्ध सादृश्य अथवा उससे अतिरिक्त हो सकता है। सादृश्य अथवा अन्य सम्बन्धों में काल्पनिक अतिशय अथवा अपूर्वता आदि लक्षणा-व्यापार को चमत्कारी

बना देते हैं। इस प्रकार विशिष्ट लाक्षणिकता सौन्दर्य की व्यंजना होती है।

भाषा की सांकेतिकता अभिधा और लक्षणा से पूरी नहीं होती। ये दोनों ही व्यापार भाषा की प्रतीकात्मता पर निर्भर आयाम हैं क्योंकि ये दोनों ही शब्दार्थ-सम्बन्ध के ज्ञान पर आधारित हैं किन्तु भाषा केवल प्रतीक ही नहीं व्यंजक भी है। उसका प्रयोजन केवल अवधारण, निर्देशन और प्रत्यायन ही नहीं, भावात्मक अनुभूति का प्रकाशन भी है। भाव-प्रकाश की भाषा या व्यंजक भाषा ही कविता की भाषा है जिसका कि प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि के नाम से विस्तृत विवेचन किया है। यद्यपि व्यंजना 'निरर्थक' चेष्टाओं, ध्वनियों, छन्दों और शब्द–समूहों में रह सकती है—निरर्थक शब्द-समूह जैसे 'अयं वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः'—तथापि उसका विशेष विकास अभिधा और लक्षणा से प्रतिपादित अर्थ-सन्दर्भ में होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है व्यंजना का व्यापार व्यंजक के द्वारा सहृदय के संस्कार-वैचित्र्य के उपयोग से होता है। इस प्रक्रिया के अंग के रूप में बौद्धिक ज्ञान-व्यापार भी हो सकता है, नहीं भी। नट की चेष्टाओं अथवा स्वर-भंगिमाओं से व्यंजना-ग्रहण अविलम्ब प्रतिभास के रूप में होता है, नट के सम्भाषण की व्यंजना का ग्रहण अभिधेयादि अर्थ के बौद्धिक ग्रहण की अपेक्षा रखता है। यह बात सही है कि सामान्य भाषा का अर्थ-ग्रहण संस्कार-पाटव से अनायास सिद्ध होता है और सहजवत् लगता है। किन्तु निगूढ़ श्लेषादि अलंकारों के बोध की भूमिका में भी व्यंजना-ग्रहण होता है। लय, ताल, छन्द, ध्वनि-वैशिष्ट्य, ध्वनि-योजनाएं, स्वर, स्वर-योजनाएं, रंग, रंग-योजनाएं आदि सहजप्राय संस्कारों के बल से मन में विशिष्ट प्रभाव डालती हैं। ये प्रभाव प्राकृतिक प्रतिक्रियाएं न होकर स्फुट बिम्बों से संलग्न चमत्कार होते हैं।

कलात्मक बिम्ब-प्रतिभास में विषय का रूप उपादान-विसंलग्न होते हुए भी प्रायः अमूर्त नहीं होता। बल्कि जैसा बुद्धघोष के प्रसंगान्तर में कहा है[1] अरूप का स्फुट बोध उसके (अरूप के) साथ संसक्त रूप से स्फुट बोध के द्वारा ही सम्भव है। इसीलिये ध्यान ऐन्द्रिय लोक को रूप-लोक में बदलता है और रूपालम्बन घनीभूत ध्यान चेतना ही स्वपरामर्श के द्वारा अरूपलोक को उन्मीलित करती है। वास्तव में अमूर्तता और विकल्पात्मता एक ही बात नहीं है। 'बिम्ब' का वास्तविक विरोध मन की विकल्प-प्रधान स्थिति से है, न कि अनैन्द्रियता या अमूर्तता से। पाश्चात्य मर्मज्ञों में बिम्ब

---

१ द्र० बुद्धघोष, विसुद्धिमग्गो

की ऐन्द्रिय संवेद्यता पर बहुत जोर रहा है किन्तु वास्तव में मानसिक प्रत्यक्ष का क्षेत्र ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से बहुत बड़ा है। इसलिये जो अर्थ मानसिक प्रत्यक्ष में प्रतिभासित होते हैं वे सदा ऐन्द्रिय 'बिम्ब' नहीं होते। स्वयं चित्त के धर्म अथवा आत्मिक स्थितियां अमूर्त और अरूप होने पर भी भावना-बल से साक्षात्कार्य होती हैं। 'भावना' एक प्रकार का काल्पनिक अनुसन्धान है जो कि अपनी तन्मयता और निमित्त-स्फुटता के आग्रह में ध्यान की एकतान प्रतीति के सदृश होता है। विकल्प या अवधारण में चित्त सम्बन्धावगाही और तुलनात्मक होकर इतस्ततः परिस्पन्दित होता है। वह प्रत्यक्षगोचर विशेष को सामान्य तत्त्वों में विश्लेषित और उन तत्त्वों को सम्बन्धित कर पुनः एक करना चाहता है। भावना या कल्पना का प्रकर्ष अपने विषय को सजीव और स्फुट रूप में प्रस्तुत कर एक मानसिक साक्षात्कार या अनुभूति को जन्म देता है। इस आन्तरिक अनुभूति का विषय किसी बाह्य रूप का 'प्रतिबिम्ब' न लगाकर स्वयं एक स्वतन्त्र विशेषात्मक अर्थ या 'बिम्ब' लगता है जिसमें यथार्थ अनुभव का बेडौल, अस्पष्ट बिखराव, उसका अधूरापन, संवर जाता है और साफ हो जाता है और उसका सत्य या मूल्य सम्मुख आ जाता है, मानों एक तत्व प्रकट हो गया हो, एक महत्वपूर्ण सम्भावना का रूप स्पष्ट हुआ हो। इस स्थिति की सघन और प्रकाशमान चेतना को सत्वोज्ज्वल भाव-परामर्श से अलग करना दुष्कर है। उसका 'बिम्ब' संस्कारों के तारों को छूता हुआ, कोई रहस्य-सा बताता हुआ, चमत्कारी होता है। कल्पना का विषय या मनोगत 'बिम्ब' ही अन्ततः व्यंजक होता है और उसमें आलम्बित भावात्मक चेतना का वासनापेक्षी मूल्य-परामर्श ही कला सन्दर्भ में मुख्य व्यंग्य होता है।

यों अभिव्यक्ति अन्यत्र भी होती है। उदाहरण के लिये ध्वनि वर्ण को व्यक्त करती है, वर्ण-समुदाय शब्द को। वर्ण और शब्द दोनों ही कल्पना या ध्यान के निमित्त बनते हैं किन्तु उन्हें चमत्कारी न होने के कारण अप्रासंगिक समझा जा सकता है। ध्यान का निमित्त-प्रतिभास उपर्युक्त बिम्ब साक्षात्कार के सदृश्य होता है किन्तु एकाग्र-भूमिक चित्त की एकाग्रता का बल संस्कारों को उभरने से रोक देता है और ध्यान-जन्य तन्मयता को वासनापेक्षी तात्कालिक भावना से पृथक् कर देता है। किन्तु ध्यान की अनुभूति यह स्पष्ट कर देती है कि ध्येय या बिम्ब के लिये रूप अथवा मूर्ति की आवश्यकता नहीं है।

सादृश्य और व्यंजना

जिस प्रकार भाषा में अर्थाभिधान होता है, ऐसे ही रूपाश्रित कलाओं में सादृश्य-विधान का स्थान है। चित्रार्पित फूलों के आकार सादृश्य द्वारा

गुलाब आदि के स्मारक बन जाते हैं। वाचक-प्रतिपादित अर्थ के समान परोक्ष और अमूर्त न होते हुए भी सादृश्य-प्रत्यायित अर्थ लौकिकवत् सामान्य ही रहते हैं। लोकोत्तरतारहित इस प्रकार के अर्थ का संकेत-व्यापार वाचक-व्यापार के समान स्थूल रहता है। यदि सादृश्य सामान्य यथार्थ का अनुकरणमात्र नहीं है बल्कि आदर्श लक्षणों के अथवा कल्पित वैलक्षण्य के अनुसरण से लोकातिशायी है, तो वह अवश्य एक परोक्ष अर्थ का प्रत्यक्षकारी संकेत बन कर व्यंजकता लाभ करेगा। इस प्रकार का 'सादृश्य' एक बिम्ब उपस्थित करता है जिसके अनुकरणात्मक और प्रतीकात्मक तत्व संस्कारों को उद्बोधित करते हैं किन्तु जो अपने मूल्य को अपनी संरचना में ही व्यक्त करता है। रूप-बिम्ब में जो प्रत्यक्ष होता है वह किसी परोक्ष का संकेत लगता है किन्तु वह परोक्ष उसके अतिरिक्त संवेद्य नहीं होता। "परोक्ष-प्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः"। वाचक-संकेत प्रत्यक्षयोग्य वस्तु को सामान्य और अस्फुट या परोक्ष अर्थ बना देते हैं। सादृश्य-संकेत प्रत्यक्ष वस्तु को लौकिक रूप में ही प्रस्तुत करते हुए प्रतिरूप या प्रतिमूर्तिमात्र होते हैं। कल्पनानुसारी बिम्बात्मक संकेत परोक्ष अर्थों को उनकी रहस्यात्मकता के साथ स्फुट रूप से और लोक-प्रत्यक्ष अर्थों को अपूर्व और अलौकिक रूप से व्यक्त करते हैं। ये संकेत ही निगूढ़ अर्थ के व्यंजक देव-कल्पित "रूप" हैं। आदर्शीकरण, प्रतीक-संयोजन आदि के द्वारा कल्पना-संवलित सादृश्य-विधान संस्कार-महिमा से बिम्ब-विधान में रूपान्तरित हो जाता है और उसकी सांकेतिकता चमत्कारी हो जाती है।

रंजकता और व्यंजकता

जैसे आलोक रंग और संस्थान व्यक्त करता है, नाद स्वर और संस्थान व्यक्त करता है। रंगों में संस्थान दैशिक होता है और स्वरों में कालिक। दृश्यरूप के समान ही नादात्मक श्रव्य रूप में चित्त को प्रभावित करने की एवं कल्पना-विषय या मानसिक प्रत्यक्ष का गोचर बनने की सहज योग्यता होती है। इस प्रकार चमत्कारी बिम्ब उपस्थित करने की योग्यता से दोनों में ही सौन्दर्य-व्यंजकता स्पष्ट निहित रहती है। रूप और नाद की कलाएं संवेदन में उपलब्ध सौन्दर्य के व्यंजक विषयों की रचना करती हैं किन्तु संवेद्य रंजकता और रचना-चमत्कार के साथ ये भावोद्बोधन की भी योग्यता रखती हैं। सहज सांवेदनिक रंजकता संगीत के तत्वों में अत्यधिक होती है और भावोद्बोधकता भी उनकी उतनी ही स्पष्ट और सहज होती है। नाद में चित्त को लीन करने की और उसके प्राण-छन्द को प्रभावित करने की सहज शक्ति होती है। नाद-बिम्ब में सक्त, अन्तर्मुख और छन्दोमय चित्त की स्थिति विशेष प्रभावनीय (सजेस्टिबिल) और तीव्र सहृदयता

(सेन्सिबिलिटी) की होती है जिसमें द्रुति, दीप्ति, और विकास के अनुरूप वासना-सापेक्ष भावादि की अभिव्यक्ति होती है। यह स्मरणीय है कि द्रुति आदि मुख्यतः रस के पोषक गुण होते हुए भी व्यंजक रचना और उसके तत्वों में प्रतीत होते हैं। श्रुतियों के नामकरण में भी इस प्रकार की प्रतीति के निर्देश की चेष्टा की गई है।

संगीत के तत्वों की सहज रंजकता, उनका रचना-चमत्कार और उनका भावाभिव्यंजन, तीन विभिन्न पर सम्बद्ध आयाम हैं। रूपाश्रित कलाएं किसी अनुभूति-संलग्न 'स्थिति', 'अर्थ' या 'कल्पना' (आइडिया) को बिम्बित कर संस्कारोंद्बोधन के द्वारा चित्त के काठिन्य को पिघला उसके अन्तस्थ भावों को अभिव्यक्त करती हैं। उनका व्यंजक-व्यापार मुख्यतः विभाव-कल्पना पर आश्रित होता है। इसके विपरीत नादाश्रित कलाएं शब्दादि से अमिश्रित, अपने 'शुद्ध' रूप में न किसी विषय, या अर्थ की कल्पना को प्रस्तुत कर सकतीं हैं, न किसी 'स्थिति' का चित्रण। नाद के तत्त्व बिना किसी अपने से अतिरिक्त विभाव को समर्पित किये, बिना वर्णनात्मक या चित्रणात्मक निरूपण के, कुछ सहज और कुछ व्युत्पन्न संस्कारों की अपेक्षा रखते हुए अपने ही संवेद्य और कल्पना-ग्राह्य आकारों से व्यंजक होते हैं।

अनुभूति और अभिव्यक्ति :

ऊपर के विवेचन का यह निष्कर्ष है कि कोई विषय तब व्यंजक होता है जब उसके रूप या आकार की प्रतीति विषयी के संस्कारों को छूकर किसी विषय की अपरोक्ष प्रतीति को जन्म देती है। 'संस्कार' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है—योगशास्त्र में वह चित्त का अपरिदृष्ट धर्म है, न्यायशास्त्र में वह आत्मगत और स्मृति हेतु है, मधुसूदन सरस्वती ने 'संस्कार', 'वासना' और 'भाव' को एकार्थक कहा है,[1] बौद्ध दर्शन में संस्कार ऊर्जायुक्त चैतसिक धर्म है। ये सब अर्थ विशिष्ट मनोवैज्ञानिक और तात्विक व्याख्याओं के अन्तर्गत हैं। किन्तु सभी अर्थों में एक बात समान है और वह है कि साथ अनुभूत विषय मन के लिये इस प्रकार सम्बद्ध हो जाते हैं कि उनमें से एक वस्तुतः या आकारतः प्रस्तुत होने पर अन्य के आकार की मानसिक प्रस्तुति स्वतः होने की प्रवृत्ति होती है। संस्कारोद्बोधक और संस्कारबोध्य विषयों का सम्बन्ध मूलतः समहालम्बनात्मक चित्त वृत्ति में उनकी एक-ज्ञान-विषयता के कारण होता है। मूल अनुभूति में चित्त के काम, क्रोधादि आवेगों के संस्पर्श से 'द्रुत' होने पर विषय का आकार स्थायी रूप से अंकित

---

१ मधुसूदन सरस्वती, भक्तिरसायनम्।

हो जाता है और इस संस्कार के, व्यंजक के द्वारा पुनः उद्‌बुद्ध होने पर चित्त में विषयाकार के साथ मूल अनुभूति से सम्बद्ध द्रुत्यात्मक विशेषता भी प्रतिभासित होती है। अभिव्यक्ति-रूप अनुभूति एक समूहात्मक ज्ञान होता है जिसमें व्यंजक, व्यंग्याकार और भावात्मक चेतना अनुविद्ध से प्रतिभासित होते हैं। यहां तक तो लोक की या सामान्य व्यवहार की स्थिति है। सौंदर्यानुभूति या कलास्वादन में यह अभिव्यक्ति-रूप अनुभूति एक चमत्कारी और भावविशिष्ट मानस-प्रत्यक्ष होता है। यह तभी सम्भव है जब व्यंजक स्वयं एक आकर्षक संकेत होने के कारण स्वविषयक भावना या कल्पनात्मक अनुसन्धान प्रवृत्त कर ऐसा बिम्ब या आकार उपस्थित करे जो विषयी की संवेदनशील मनस्थिति में उसकी भावात्मक मनोवृत्तियों को सामान्यतः उद्बोधित करते हुए भी एक अपूर्व, विशेषात्मक और स्फुट अर्थ के रूप में साक्षात्कृत हो। यहां बिम्ब या आकार का अर्थ दृश्य या ऐन्द्रिय रूप नहीं है बल्कि अनुभूति के विषय के अविकल्पित प्रकार से है। 'विषय' सामान्यतः एक समहालम्बनात्मक बोध की विषयभूत सुश्लिष्ट स्थिति होती है जिसकी सदृश स्थितियां लौकिक अनुभव में चित्त की 'द्रुत' अर्थात् संवेदनशील, मर्मस्पर्शी, अन्तर्बाह्य दशा में मिलती हैं।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि सौन्दर्य का बोध चाहे प्राकृतिक दृश्य से उत्पन्न हो, चाहे कला-विषय से, उसमें एक जातीय समानता और मौलिक विशेषता देखी जा सकती है जो कि सब सौन्दर्य-बोधों की सजातीयता और उनकी सामान्य व्यवहार के बोधों से विलक्षणता बताती है। सौन्दर्य-बोध स्मृति, ज्ञान, इच्छा, आवेग और संकल्प से पृथक् कल्पनात्मक मानस प्रत्यक्ष है जिसमें समस्त सम्भाव्य अनुभव और उनके विषय व्यंजक माध्यम की शक्ति के अनुरूप आकारतः अभिव्यक्ति पा सकते हैं। यह कल्पनात्मक अनुभूति द्रष्टा की सहृदयता के सहारे सांकेतिक व्यंजना से उपजती है। इसका विषय 'यथार्थ' और 'अयथार्थ', 'स्व' और 'पर' की कोटियों में अनवधारित होता है। वह संकेतानुविद्ध, सुश्लिष्ट और स्वात्मसम्पूर्ण रचनात्मक बिम्ब होता है जो अपूर्व एवं प्रशंसनीय लगता हुआ और मार्मिक सार्थकता का आभास देता हुआ अपने साक्षात्कार को चमत्कारी और सरस बनाता है। चमत्कार और रस की तन्मयता में ऐसे निर्वैयक्तिक सुख का आस्वाद होता है जिसे प्रतीयमान रूप मात्र का आलोचन अर्पित करता है। सौन्दर्य-बोध सदा ही कल्पना के वैशिष्ट्य से अभिव्यक्त मूल्यानुभूति की स्थिति होती है।

कलात्मक मूल्य के आयाम

यह मूल्यानुभूति अनेक स्तरीय एवं समूहालम्बनात्मक होती है और

विभिन्न कलाओं, कला-विधाओं और कलाकृतियों में एक-सी नहीं होती। कलामूल्य अनेक कारकों की एक समुच्चित देन होती है, जैसे गणित में अनेक चर-राशियां एक फल-राशि को निर्धारित करती है। उसकी एक अपनी विशेषता अवश्य होती है किन्तु उस विशेषता से ही वह पूरी नहीं होती। किसी कलाकृति का वि शिष्ट कलात्मक मूल्य उसके चमत्कार-विधायक रचनात्मक तत्वों पर निर्भर करता है। किसी कृति की निर्दोष रचना से चमत्कृत होकर हम उसे अपने ढंग की अनूठी मान सकते हैं। रोमन कवि कतुल्लुख की शृंगारिक कविताएं अपने ढंग की बेजोड़ हैं, अपनी अनुभूति की परिधि के अन्दर उनकी रचनात्मक कल्पना गुणसम्पदा से आढ्य और निर्दोष है। किन्तु यह कमाल या सिद्धि (परफैक्शन) कला के मूल्य के विशिष्ट आयाम की होती हुई भी जिन जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में विग्रहवती हुई है, उन्हें सत्य की दृष्टि से गम्भीर अथवा नैतिक दृष्टि से उदात्त या प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत कबीर की कविताओं में कलात्मक रचना के दोष होते हुए भी उनके व्यंग्य अर्थ का मूल्य उन दोषों को गौण बना देता है। रीतिकाल की विशुद्ध कलावादी दृष्टि से कबीर के पद्य कविता ही नहीं थे। कलावादी 'विशुद्ध' कला को ही सर्वाधिक मूल्य वाली कला मानते हैं। गौतियेर ने उद्घोषित किया था कि 'कला में कला के अतिरिक्त' और किसी प्रकार की सार्थकता नहीं है। इस दृष्टि से जीवन से अलग-थलग होना कला के मूल्य में कोई अन्तर नहीं लाता, बल्कि उसके 'निरुपादान-संभार' सृजन के विशुद्ध उत्कर्ष को अनायास व्यक्त करता है। मानो अपने में पर्याप्त रूप से आश्वस्त न होकर ही कलाकार 'जीवन' की सहायता चाहता है, जीवन के प्रयोजनों के लिये अलंकरण प्रस्तुत करता है, यथार्थ का अनुकरण करता है, आदर्शों के लिये प्रतीक और प्रच्छन्न उपदेश रचता है। इसीलिये संभवतः प्राचीनतम कलाओं में अथवा कला-परम्पराओं की प्राचीनतर अवस्थाओं में उनकी सामाजिक और धार्मिक उपयोगिता पर विशेष जोर रखा जाता है। देव-प्रासाद और राजप्रासाद, देव-प्रतिमा और पुराण-चित्रण, देव-गाथा और वीर-गाथा, इन्हीं प्रकारों से कला ने अपने प्रारम्भिक चरण रखे। किन्तु जीवन के सामान्य सन्दर्भ में भी मनुष्य की कलात्मक कृति का स्वातन्त्र्य, अलगाव देखा जा सकता है—'अनुपयोगी' अलंकरण की प्रवृत्ति में, नृत्य, गीत और कहानी में। प्रतिभाशील कलाकार में यह प्रवृत्ति सर्वथा स्वतन्त्र रूप-सृजन में चरितार्थ होती है और यह कहा जा सकता है कि "सभी कलाएं संगीत की अवस्था प्राप्त करने की अभीप्सा रखती हैं।" भारतवर्ष में भी कला की चमत्कारवत्ता, लोकोत्तरता, लोकातिशायिता, आदि की चर्चा इसी विशुद्ध कलावादी पक्ष की सूचक हैं।

इसका आंशिक विपक्ष टॉलस्टाय के अन्तिम दिनों के सिद्धान्त में देखा जा सकता है।[1] प्रगतिवादी और समाजवादी, नीतिवादी और अध्यात्मवादी सभी प्रचारक और सैन्सर, कला को जीवन-प्रभावी मानते हुए उसे जीवनोपयोगी बनाना चाहते हैं। उन्हें यह स्पष्ट दीखता है कि जब कला सामाजिक जीवन और मूल्यों के साथ एक जीवन्त सम्बन्ध रखती थी कलाकार भी समाज के साथ सार्थकता और उपयोगिता के सूत्रों से बंधा था। इस स्थिति के छूट जाने या हिल जाने से कलाकार की स्थिति भी आधुनिक समाज में डांवाडोल हो गई है। वह न शिल्पी है, न द्रष्टा, न चाटुकार, न निन्दक, न मनोरंजक, न प्रचारक। न उसे और न औरों को ही ठीक समझ में आता है कि महानागरिक एकान्त में उसके अरण्यरोदन को क्या स्थान दिया जाय।

कलामूल्यों की विशुद्धता को ही उनका उत्कर्ष मानने वाले 'कला के लिये कला' के पक्षपाती और कला को जीवन-सम्बन्धी मूल्यों का निरूपण और व्याख्या मानने वाले जीवन के लिये कला' के पक्षपाती, दोनों ही कला की उभयात्मकता को ठीक से नहीं देखते। 'कोई कृति कलाकृति है, अथवा नहीं' यह एक प्रश्न है; 'कोई कलाकृति उत्तम है, अथवा नहीं' यह दूसरा प्रश्न है। कलात्व का अवच्छेदक और है, उत्तम कलात्व का अवच्छेदक और। एक ही कला-जाति के अन्दर एक मनुष्य-जाति के समान उत्तमादि भेद उपलब्ध होते हैं। ये भेद जाति-विशुद्धि पर आधारित न होकर जाति के आधारभूत व्यक्ति के व्यक्तित्व पर निर्भर करते हैं। जातीय गुणों के समान कलात्व के अवच्छेदक गुण स्वतः सत्ताशाली नहीं होते। वे कलाकृति की विशिष्ट विषय-वस्तु का आश्रय लेकर ही व्यक्त होते हैं और इस प्रक्रिया में अपने आश्रय से उपरक्त होकर ही स्वरूपवान् बनते हैं। यह विषय-वस्तु स्वयं मूल्यात्मक होती है, चाहे ये मूल्य स्वयं कलात्मक हों अथवा तद्व्यतिरिक्त। कलात्मक अथवा अन्य मूल्यों को अपना विषय बनाती हुई कला के बोध की कलायामिक विशेषता और उसकी अन्तर्दृष्टि, उसका 'रूप' और उसका 'अर्थ', दोनों एक ही अनुभूति में नीर-क्षीर के समान मिले जुले रहते हैं। दान्ते की **कोमेडिया या रामचरितमानस में** क्या यह स्पष्ट नहीं होता कि उनकी रचनागत उपलब्धि उनके 'भाव' से सारवान् और समुज्ज्वल

---

१ टॉल्सटॉय, **वट इज आर्ट एण्ड ऐसेज ऑन आर्ट,** (अनु० एलमर मौड, १९३८) टॉल्सटॉय कला की जातीय विशिष्टता या सामान्य लक्षण उसकी हृदय को छूने की 'छूत' जैसी शक्ति में बताते हैं, किन्तु कला का उत्कर्ष उसके नैतिक-आध्यात्मिक भाव में बताते हैं।

बनती है ? क्या मोपासां की कहानियों में और टॉलस्टॉय या डोस्टोवस्की के उपन्यासों में शिल्पातिरिक्त विषयवस्तु का भेद महत्वपूर्ण नहीं हैं ? क्या उनके कोटिभेद में अनुभूति और दृष्टि का भेद नहीं उभरता ? यहां कला-कृतियों को किसी एक निरंकुश पैमाने से नापना या उनके औत्तराधर्य का सार्वभौम निर्णय हमारा अभिप्रेत नहीं है। हम इतना हो कहना चाहते हैं कि विशिष्ट कलात्मक मूल्य-कला के विषयभूत मूल्यों से विशेषित होता है। 'विषयभूत मूल्यों' से तात्पर्य यहां यथोपदर्शित मूल्यों से है, न कि यथा-स्थित मूल्यों से। उदाहरण के लिये **'ऐना कैरिनिना'** और **'फोरसाइट सागा'** दोनों ही उपन्यासों में विवाह-विच्छेद विषयरूप से प्रस्तुत है किन्तु दोनों की प्रस्तुति में उतना ही अन्तर है जितना टॉलसटॉय और गाल्सवर्दी में।

वास्तुकला, नाटक और कथा-साहित्य का जीवन से संश्लेष सभी को सहज स्वीकार्य होना चाहिए। यह सही है कि उसी जीवन-सन्दर्भ में विभिन्न कृतियों की मूल्यानुभूति विभिन्न होती है किन्तु इसका कारण है कि इस अनुभूति में मूल्य अपने कल्पित रूप में ही अन्तर्भुक्त होते हैं। यह कहा गया है कि कवि-प्रतिभा उन्हीं प्राकृतिक दृश्यों को वसन्त के समान सजीव और नवीन कर देती है।[1] किन्तु वस्तुतः बाह्य पिण्ड की समानता अपार्थक है। काव्य-विषय की नवीनता उसके कल्पना-प्रस्तुत रूप के कारण होती है,उसके 'प्रतीयमान अर्थ'के कारण होती है जो कि 'मोती के अन्दर की आव' के समान प्रतिभासित होता है। काव्यादि न्यूनाधिक सादृश्य के द्वारा--कुछ भी नहीं तो, पदों और वाक्यांशों की वाचकता के द्वारा-बाह्य यथार्थ का उल्लेख करते हैं किन्तु वे अपने व्यंग्य मूल्य को अपने अन्दर ही प्रदर्शित करते हैं। काव्यादि के कल्पित रूप या बिम्ब को ऐसा 'मूर्ति-संकेत' कहा गया है जो बाह्यार्थ का वाचक होते हुए भी स्वयं अपने स्वरूप-सिद्ध मूल्य का संकेत होता है। यह कहना कि कवि-कर्म सिर्फ सर्व-विदित बात को अच्छे ढंग से कहता है, कविता को सूक्तिमात्र बना देगा।[2] यदि सूक्ति अभिधानमात्र न होकर वक्रोक्ति है, तो यह स्मरणीय है कि 'वक्रता' वचोभंगी मात्र नहीं है, वह अपूर्व कल्पना के द्वारा एक गूढ़ागूढ़ संकेत है।

'अमूर्त' रूप-कलाओं, नृत्य और विशेषतः संगीत में विषय के ऐसा

---

१ तु० "दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति, मधुमास इम द्रुमाः ।।" **(ध्वन्यालोक ४,४)**

२ तु० पोप, **ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म,** "वट ओफ्ट वाज़ थौट बट नैवर सोवैल एक्सप्रैस्ड"।

लगता है कि उनकी अनुभूति केवल कलात्मक मूल्यों की ही अनुभूति होती है। इस मत का आधार है इन कलाओं में जीवन-स्थितियों या प्राकृतिक दृश्यों का अनिरूपण। वस्तुतः संगीत को निरूपण की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि उसके तत्व भावों का उद्बोधन साक्षात् रूप से ही कर सकते हैं। यों कहा जा सकता है कि संगीत चित्त की अन्तस्सत्ता को व्यक्त करता है। विशुद्ध, सन्दर्भरहित संगीत भी रूप-सौष्ठव और रचना-कौशल के साथ एक अन्तर्मुख बोध व्यक्त करता है जिसका साम्मुख्य स्वयं एक मूल्य है। और फिर यह नहीं भूलना चाहिए कि संगीत के सर्वोत्कृष्ट प्रकार 'सन्दर्भ रहित' नहीं रहे हैं। संगीत-जन्य मनस्थिति की अत्यन्त संवेदनशीलता और द्रवीभाव (सजैस्टिबिलिटी) के कारण अल्पतम सन्दर्भ-संकेत भी एक समृद्ध सांस्कृतिक अनुभूति उत्पन्न करता है। इसीलिये विशुद्ध कलावादियों के बावजूद संगीत जीवन के सभी महत्वपूर्ण अवसरों का सदा ही संगी साथी रहा है।

सौन्दर्यबोध और कलाबोध में दो प्रकार के मूल्य युगनद्ध रूप में प्रतिभासित होते हैं। इन दो प्रकारों को स्थूल रूप से रूपनिश्रित और वस्तुनिश्रित कह सकते हैं। सभी कलाकृतियों में इन दोनों पक्षों का सामरस्य नहीं होता और, अतएव, उनकी मूल्यानुभूति बहुधा रूप-प्रधान अथवा वस्तु-प्रधान या स्वभाव-प्रधान होती है। तो भी यह आवश्यक है कि कलाकृति होने के नाते उसमें एक अन्यून रूप-सौष्ठव विद्यमान हो एवं प्रतीतिमात्र होने के नाते कुछ औपादानिक वस्तु हो, भले ही यह उपादान स्वयं कलाक्षेत्रीय हो। शेक्सपीयर की कला में उनके स्वोक्त आदर्श के अनुसार ही स्वभाव-प्रदर्शन प्रधान है।[1] उनकी कृतियों के रूपविश्लेषण मात्र से उनका जीवन्त मर्म समूचा उद्घाटित नहीं किया जा सकता। दूसरे ध्रुव पर जयदेव के गीतों के अर्थ को खोजने वाली दृष्टि उनके रूप-सौष्ठव की प्रखरता में चौंधियां जाती है। रूप और वस्तु का सामरस्य होने पर भी रूपभेद एवं वस्तुभेद से कलाकृति की मूल्यप्रतीति विलक्षण होती है। शेक्सपीयर और व्यास दोनों ही जीवन के द्रष्टा है, किन्तु उनकी कृतियों में रूप के साथ ही स्वभाव-प्रतिभास भी भिन्न है।

रूपनिश्रित मूल्यों को व्यंजक सामग्री की विशेषताओं में देखा जा सकता है। रचना-सौष्ठव के लिये उसकी सामग्री में कुछ भी अनावश्यक न होना चाहिए, न कुछ कम न अधिक, और न कुछ अभ्यस्त या सामान्य।

---

१ हैमलेट में अभिनेताओं को हैमलेट की सलाह।

यही प्रामाणिकता, आन्तरिक संगति, अपूर्वता, स्वात्म-सम्पूर्णता है। इसके मूल में है साधनों के प्रयोग की दक्षता और औचित्य।

मनोरंजकता और सामाजिक प्रभाव

यह सही है कि आम लोग कला की विशेषता को, उसके विशिष्ट मूल्य को उसकी रूप-रचना के तत्त्वों में न देख कर उसकी मनोरंजकता में देखते हैं। वे मानते हैं कि कला शेष जीवन से अलग-थलग है। वे जीवन के प्रवाह से तात्कालिक निवृत्ति पाने के लिए ही कला के पास जाते हैं और उसमें विशिष्ट आनन्द को ही उसका एकमात्र और विलक्षण मूल मानते हैं। दूसरी ओर विशुद्ध कलावादी परीक्षक भी कला को पृथक् मानते हुए उसकी मनोरंजकता मात्र को एक गौण स्थान देते हैं क्योंकि मनोरंजन का स्तर से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। रूप-पारखी मार्मिक सहृदय और व्युत्पन्न कलाविद् होता है। वह अपने मनोरंजन से अधिक महत्व अपने आलोच्य विषय को देता है। मनोरंजनवादी सामान्य दर्शक या पाठक अपने मनोरंजन के हेतुभूत विषय की विशेषता की ओर उदासीन होता है। उसका मनोरंजन व्यंग्य चमत्कार न होकर कार्य मनोवृत्ति होती है। उसकी पसन्द नितान्त निजीपन या नितान्त रूढ़ि से नियन्त्रित होती है। फलतः उसे कला का द्रष्टा न मान कर दिवास्वप्न अथवा सामाजिक उत्सव में संलग्न मानना चाहिए।

कला की अपनी विशेष रंजकता होती है, यह सही है और कला के मूल्यांकन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। कलोपलब्ध मनोरंजन लोक-सामान्य नहीं है क्योंकि वह वास्तविक कारणों से उत्पाद्य और वैयक्तिक रूप से भोग्य मनोवृत्तियों में उपलब्ध नहीं होता। जैसा पहले कहा जा चुका है कलास्वादन निर्वैयक्तिक होता है और उसका अपरोक्ष विषय व्यंग्य होता है, न कि कार्य। कलास्वाद को भोग, अथवा उसके तुल्य मानने पर प्रश्न उठता है कि वह किस विषयी के द्वारा किस विषय का भोग है? इस प्रश्न की कठिनाइयों का ऊपर भाव के प्रसंग में संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। वस्तुतः संकेत-लब्ध अर्थ के विषय में यह सुविदित है कि वह सभी संकेत-ग्राहियों के लिये समान है। यही कलास्वाद की सार्वभौमिकता की स्थिति है। अर्थ-ग्रहण न बाह्य वस्तु का निर्विवाद ग्रहण होता है,न स्वगत विषय का नितान्त निज-संवेदन। वह कल्पित विषय का सामाजिक सम्प्रेषण के सन्दर्भ में आस्वादन है।

रस या चमत्कार को भोग मानने पर एक और प्रश्न उठता है। यदि इस प्रकार के आस्वाद की विलक्षणता उसकी सुखात्मकता मानी जाय तो

उसकी प्रतीति दुःख-सम्बद्ध रचनाओं में कैसे समझी जायेगी ? इसके उत्तर में कुछ विचारक कहते हैं कि सुख बहुत होने के कारण इस प्रतीति में दुःख दब जाता है। कुछ दुःख इसलिये स्थान पाता है कि अयथार्थता न उभरे, अथवा इसलिये कि दुःख की निवृत्ति के द्वारा अधिक सुख की प्रतीति हो, अथवा इसलिये कि प्रतियोगी के रहने पर सुख का स्वरूप और अधिक उभरे जैसे संगीत में विवादी स्वर का लेशतः सम्पर्क आस्वाद्यता को कभी बढ़ा देता है। इस प्रकार का विचार कुछ प्रकार की रचनाओं में संगत होते हुए भी सर्वत्र लागू नहीं हो सकता। दुःखात्मक नाटकों या कथाओं में स्पष्टतः इसकी संगति नहीं बैठ सकती। यह देख कर कुछ लोग रस को सुख-दुःखात्मक कहते हैं[1] और उसकी जीवन से विलक्षणता सिर्फ उसकी काल्पनिकता के कारण बताते हैं। ऐसे सुख-दुःख कल्पना-प्रसूत होने के कारण शारीरिक संवेगों और प्रतिक्रियाओं को व्यवहार-प्रवर्तन के लिये असमर्थ मात्राओं में उत्पादन करते हैं।[2] इस प्रकार के काल्पनिक भोग की क्या श्रेष्ठता है, विशेषतः जब वह दुःख–बहुल हो, इस पर यह कहा गया है कि इससे वास्तविक जीवन के दुःख हल्के हो जाते हैं।[3] मानों कल्पना से आवेगों की अतिमात्रता विरेचित हो जाती है। अथवा मतान्तर से,[4] कलागत काल्पनिक सुख-दुःख का मूल्य इस बात में होता है कि उनसे संसृष्ट आवेग ऐसे क्रम और संश्लेष में प्रस्तुत होते हैं कि उनसे तनाव सुलझ जाते हैं और जीवन के सुख-दुःखों के प्रति एक नई दृष्टि मिलती है। यह दृष्टि स्पष्ट ही ज्ञानात्मक नहीं होती बल्कि मानव आवेगों और भावों का अभिनव प्रशिक्षण होता है। इस मत की मनोवैज्ञानिकता एक प्रकार की औपदेशिकता में परिणत हो जाती है। साथ ही इस मत में कला-मूल्य की विशिष्टता रद्द होकर कला एक निरुद्वेग जीवन की शिक्षात्मक भूमिका बन जाती है।

यह मत कुछ कल्पनाशील प्रतीत होता है। कला का आवेगशामक प्रभाव तात्कालिक ही होता है और उसका आवेगोत्तेजक प्रभाव उन अविवेकी 'रसिकों' पर हावी होता है जिनके सामाजिक संस्कारों के वह अनुकूल होता है। विवेकी सहृदयों का चरित्र-निर्माण उनके अधीत ललित साहित्य से होता हो, यह अश्रद्धेय लगता है। यह सही है कि जो कला प्रचलित

---

१ तु० रामचन्द्र गुणचन्द्र, **नाट्यदर्पण**।

२ तु० रिचर्ड्स, **प्रिन्सिपल्स आव लिटररी क्रिटिसिज्म**, जहां इस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ 'इमैजिनल एक्शन' कही गई है।

३ आरिस्टौटल, **ट्रैजिडी**।

४ रिचर्डस, पूर्व।

सामाजिक संस्थाओं के अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रचार करती है वह प्रचलित सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रभाव को बौद्धिक समर्थन अथवा ठेस कथंचित् पहुंचाती है। प्रचारात्मक अथवा उत्तेजक रचनाएं उत्कृष्ट कोटि की नहीं मानी जातीं किन्तु उनका ही भावात्मक सामाजिक प्रभाव अविवेकियों के लिये 'सैन्सर्स' के द्वारा स्वीकार किया जाता है।

वास्तव में चरित्र-निर्माण यथार्थ के सन्दर्भ में कर्म के द्वारा होता है अथवा दृढ़ विश्वासों के द्वारा होता है, जानी बूझी कल्पना के द्वारा नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कला का सामाजिक प्रभाव ही नहीं होता। वह सहृदयता या सौन्दर्यग्राहिता को तो बढ़ाती ही है, जहां तक उसे यथार्थ और आदर्श को निरूपित करती माना जाता है वह सुकुमार मति, जिज्ञासु एवं श्रद्धालु लोगों में, विशेषतः बाल्यावस्था में, भावसम्बद्ध विश्वासों को अंकित करती है और अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक आदर्शों और संस्थाओं के प्रभाव को समर्थित करती है। प्रौढ़ मति लोगों पर यह प्रभाव जीवन-दर्शन के ज्ञानात्मक स्तर पर ही होता है। कुल मिला कर यह कहना चाहिए कि सामान्य जनता अपनी सहज शिक्षणीय अवस्था में कला को यथार्थवत् मान कर उसमें आदर्श-ग्रहण के सन्दर्भ पाती है किन्तु अपनी 'प्रौढावस्था' में उसे मनोरंजनमात्र समझती है। किन्तु वह प्रचारात्मक अथवा उत्तेजक रचनाओं से भ्रमित हो सकती है क्योंकि प्रचारात्मक रचनाएं सत्य का दावा करती हैं और उत्तेजक रचनाएं द्रष्टा या पाठक की निजी वासनात्मक कल्पना के साथ जुड़ जाती हैं। कला या साहित्य का सौन्दर्य-विवेचन की दृष्टि से परिशीलन साहित्यिक संस्कारों को ही प्रभावित करता है। यदि कला को धर्म, ऐतिह्य, राजनीति आदि से सम्बद्ध रचना मान कर देखा जाय तब अवश्य वह समाज पर विशेष प्रभाव डालती है। यही कारण है कि प्राचीन और मध्य काल में साहित्य और कला समाज के आदर्शों की शिक्षा के मुख्य साधन थे। अर्वाचीन युग में वे (साहित्य और कला) अधिकाधिक इस केन्द्र से विच्चुत हो गये हैं और अपने प्राकृत रूप में जन-मनोरंजन के अतिरिक्त वे व्यक्तियों के—कलाकारों और पाठकों के—समाज-निर्वासित, अन्तर्मन की गुहा में प्रविष्ट होते जाते हैं। जिन समाजों में कला को फिर से लोक-मध्य में अभिषिक्त करने की चेष्टा की जा रही है, उनमें वह वैधानिक प्रधान के समान वस्तुतः दासीकृत है और सच्चे सृजन में असमर्थ।

रस और भाव :

इस विवेचन से स्पष्ट होगा कि कलामूल्य का द्वैत दूर तक जाता है—रूप और वस्तु, सृजनात्मक स्वातन्त्र्य और परम्परा-रक्षित अर्थ, मनोरंजन और व्युत्पादन, व्यक्ति का निजीपन और समाज की व्यवस्था। किन्तु ये सब

द्वैत एक या समानान्तर नहीं हैं, कलामूल्य के घटकों के द्वारा फलित विभिन्न द्वन्द्व हैं जिनमें मूल द्वैत के तत्त्व विभिन्न रूपों में संयुक्त-वियुक्त होते हैं। कला का विशिष्ट मूल्य जिस 'सुख' या चमत्कार से पहिचाना जाता है वह रूप की प्रतीतिमात्र से उपलब्ध होता है, उसका रूपी के साथ ऐन्द्रिय संयोग से उत्पन्न सुख-भोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। भोग्य सुख और दुःख-स्वगत रूप से, स्वविशेषणीभूत रूप से, उपलब्ध होता है, जबकि चमत्कार रूप-सौष्ठव की विषय-परक, घनीभूत अनुभूति है। इस 'वीत-विघ्ना प्रतीति' में आह्लाद के होने के कारण ही उसका भोग्य सुख अथवा मनोरंजनमात्र से अभेद भ्रान्तिपूर्वक मान लिया जाता है। सुख-संवेदन के साथ यह तादात्म्य मान लेने से ही दुःख संवेदन का प्रश्न उठ जाता है और चमत्कार अथवा रस की सुख-दुःखात्मकता स्वीकार करने की नौबत आ जाती है। वस्तुतः सुख-दुःखात्मक स्थितियां भाव-स्थितियां होती हैं और उनके बिम्ब रस के व्यंजक होते हैं। रस के नित्य सहचर के रूप में चमत्कार उपस्थित होता है और ऐसी स्थिति में दोनों नीरक्षीरवत् एक हो जाते हैं। किन्तु यह स्मरणीय है कि चमत्कार रस के बिना भी हो सकता है, नट की कला को देख कर, प्रवीण किन्तु नीरस गायक की निपुणता इत्यादि पर। रस स्वयं चेतना का आत्मपरामर्श है, भाव नहीं है, भाव उसका विषय और उपाधि होता है। भाव चित्त की अर्ध आत्म-निमग्न, आत्मोल्लेखी अवस्था है किन्तु अविद्यावश परिमित अहंकार और जाड्याभिभूत विषय के आध्यासिक सम्बन्ध के रूप में वह प्रकट होता है। इस समस्त स्थिति के एक मनोगत बिम्ब में विषयीभाव से जो कि एक प्रकार से विषय का चिद्ग्रास या जाड्य-निरास है, चित्त में आत्मा और उसकी स्थिति के प्रति एक द्रष्टा का भाव उदित होता है जिससे अविद्यावरण का तात्कालिक भंग होता है। इस निरावरण-प्रतीति में आत्मांश का भान चिदानन्द की सात्विक स्फूर्ति और स्थित्यंश का भाव उसकी भावमय उपाधि होती है। रसानुभूति तात्कालिक मुक्ति और विश्रान्ति, स्वातन्त्र्य और आह्लाद देती है। किन्तु वासना-बिम्ब की भावना पर निर्भर होने के कारण यह उसी तरह से वास्तविक मुक्ति नहीं है जैसे यह वास्तविक भोग नहीं है।

जीवन-बिम्ब के रचना-शिल्प से या रूप-निश्चित मूल्य की अनुभूति से चमत्कार की और उसमें आत्म-स्थिति-रूप 'मूल्य' की अनुभूति से रस की व्यक्ति होती है। व्यंजक सामग्री मानसिक बिम्ब व्यक्त करती है और बिम्ब अपने रूप या रचना से चेतना के शिल्पी पक्ष में चमत्कार और द्रष्टा पक्ष में रसानुभूति को व्यक्त करता है। स्पष्ट ही व्यंजक-प्रक्रिया अनेक स्तरीय है। व्यंजक-संकेतों में सांवेदनिक रंजकता होती है किन्तु उनके रूपों की रचना भावस्थितियों के बिम्ब व्यक्त करती हैं जिसका स्वयं एक भाव्य और

आस्वाद्य 'प्रकार' होता है और जो साथ ही एक मूल्यात्मक अर्थ को साक्षाद्रूप से अनावरण करता है। अपूर्व-सृष्ट बिम्ब में आत्म-स्थिति का अकालिक बोध, आत्म-पर ामर्शी अकालिक बोध, इसी में कलास्वाद का मर्म और सौन्दर्य का रहस्य है। कवि की इस उक्ति में कि वही 'सौन्दर्य का रूप है जो क्षण-क्षण में नया हो' सम्भवतः इसी अपूर्वता और अकालिकता की ओर संकेत है।

कला का मूल्य न उत्तेजना में है, न मनोरंजन या दुःख-विनोदन में, न तत्व-प्रतिपादन, शिक्षण अथवा प्रचार में। कला के मूल्य का 'अथ' है रचना की अपूर्वता और 'इति' है मानवीय आत्म-साक्षात्कार। ये मूल्य कल्पना के स्तर पर समूहालम्बनात्मक मानसिक प्रत्यक्ष में कला-विषय के द्वारा व्यक्त होते हैं। इनका व्यंजक कला-विषय विशिष्ट रूप और रचना से युक्त संकेत-विग्रह में प्रतीयमान अर्थ-बिम्ब होता है। इस व्यंजनात्मक कला-प्रक्रिया की सृजन-शक्ति प्रतिभा कहलाती है, आस्वादन-शक्ति सहृदयता। प्रतिभा और सहृदयता, दोनों के ही मूल्यान्वेषी होने के कारण उनमें विवेक अन्तर्निहित होता है। यह विवेक ही आलोचना का मूल है।

आलोचना का प्रश्न :

कला-व्यापार की व्यंजनात्मकता उसे संस्कार-सापेक्ष बनाती है। ये संस्कार सामाजिक और सांस्कृतिक परम्परा, विशेषतः कलात्मक परम्परा से प्रभावित होते हैं और सहृदयता को विशिष्ट रूप देते हैं। इस प्रकार कला की सफलता और आस्वादन सहृदयता के विशिष्ट ऐतिहासिक रूपों पर आधारित होते हैं। यही कारण है कि सभी आलोचना को 'रुचि की प्रदीप्त दीवारों के अन्तर्गत' कहा गया है।[1] यह सही है कि आलोचना ज्ञानात्मक, विवेचनात्मक, विषयप्रधान व्यापार है, जबकि आस्वादन अनुभूति-प्रधान है। किन्तु आलोचनात्मक ज्ञान का निर्वाह केवल वस्तु-वर्णन अथवा तार्किक निरूपण से नहीं होता। उसका कार्य मूल्यावधारणात्मक होता है और मूल्यावधारण ज्ञान-विषय की विशेषता को अनुभूति-लब्ध मूल्य से जोड़े बिना नहीं होता। विवेक का उन्मेष-क्षण ही अनुभूति की अन्तर्मुखता और ज्ञान की बहिर्मुखता का मिलन-बिंदु है। स्व-विमर्श के प्रधान होने पर जब विवेक विवेचन का विकल्प-ज्ञानात्मक रूप धारण कर लेता है तो वह पूर्व-क्षण में अपरोक्षतया गृहीत मूल्य का उत्तरक्षण में एक पूर्व-स्थापित मूल्य-विकल्प के रूप में ही उपयोग कर सकता है। पुनश्च आलोचना आस्वादन-पुरस्सर होती है सहृदय की अनुभूति ही उसका अन्तिम प्रमाण है। इस दृष्टि से

---

१ सेन्टसबेरी, ए हिस्ट्री ऑव क्रिटिसिज्म।

आलोचना को कलानुभूति का विश्लेषणात्मक प्रतिपादन कह सकते है और उसकी रुचि-निर्धारणात्मक इतिहास की परतन्त्रता दुर्निवार है। आलोचना में वस्तुपरक ज्ञान और रुचि-सम्मत मान्यताएं एकान्वित हो जाती हैं।

कला के स्वरूप और साध्य-साधक-भाव का विवेचन एक दार्शनिक प्रक्रिया है जो कला का सामान्य बोध और सामान्य मूल्य प्रस्तुत करती है। रसादि का विवेचन इसी प्रक्रिया का अंग है। यह विवेचन मुख्यतः कलात्मक को अकलात्मक से व्यवच्छिन्न करता है। आलोचना का यह दार्शनिक पक्ष विशिष्ट कलाकृतियों का मूल्य-निर्धारण नहीं करता। न वह इस प्रकार के मूल्य-निर्धारण का कोई मान-दण्ड देता है। वह सभी सम्भव मूल्य-निर्णयों में अपेक्षित 'पदार्थों'—मूल कल्पनाओं, कैटीगरीज़—का निरूपण करता है। चमत्कार और रस, बिम्ब और रूप, व्यंजना और संकेत इत्यादि पदार्थ कला-जगत् के सार्वत्रिक घटक या तत्व हैं। विशिष्ट कृतियों में उनके सम्बन्धों की सफलता और उनकी सफलताओं के आपेक्षिक उत्कर्ष का निर्णय केवल तत्त्वों के ज्ञान से नहीं हो सकता। तत्व अर्थों के सामान्यतया व्यवच्छेदक होते हैं, उनकी समस्त विशेषता के संग्राहक नहीं होते। मान अथवा मूल्य के तत्त्वों का ज्ञान किसी मान अथवा मूल्य का ज्ञान नहीं होता।

दार्शनिक आलोचना की पूरक के रूप में व्यावहारिक आलोचना विशिष्ट कृति का विश्लेषण होनी चाहिए। यह विश्लेषण कृति के समूचे विशेषात्मक प्रभाव को स्पष्ट करने का साधनमात्र हो सकता है। कृति के घटकों के कारित्र का कृति के समूचे अभिप्राय के सन्दर्भ में विश्लेषण उन घटकों के प्रयोग की सफलता को परखता है। सफलता यहां व्यंजकता से अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसीलिये व्यंजकता की पोषक स्थितियां गुण और विघातक स्थितियां दोष होनी चाहिएं। इसीलिये प्रभाव के अन्तरवयवों के लिये संश्लिष्ट होना आवश्यक है। यहां तक तो आलोचना को कृति के विशिष्ट शिल्प का विश्लेषण कहा जा सकता है। कृति के चमत्कारात्मक मूल्य का विश्लेषण इतने से गतार्थ हो जाता है। रसात्मक मूल्य का विश्लेषण विभाव की व्यंजकता के विश्लेषण के द्वारा ही सम्भव है। रसानुभूति की स्फुटता, सान्द्रता आदि का विचार इसी प्रक्रिया में सम्भव है। किन्तु रसात्मक मूल्यानुभूति का वैचारिक पुनर्मूल्यांकन उसकी उपात्त विषय-वस्तु का कलासन्दर्भहीन मूल्यांकन बन कर सांस्कृतिक, दार्शनिक, 'राजनीतिक' तक हो जाता है। वस्तुतः प्रत्येक कला-विषय के साथ रसानुभूति की बिम्बावच्छिन्न या उपाधिजनित विशेषता एक अपूर्व और अद्वितीय आत्मोपलब्धि होती है जिसका कोई सामान्य मान सम्भव नहीं है।

प्रचलित तारतमिक आलोचना अनेक भ्रान्तियों का शिकार लगती

है। तारतम्य-निर्णय किसी स्थिर आदर्श अथवा प्रतिमान के सहारे होता है। यह स्थिर प्रतिमान गणित आदि में निरूपित सामान्य रूपों के सदृश रचना का आदर्श हो सकता है अथवा कोई प्रमाणभूत कृति हो सकती है। कलाकृति व्यक्तिवत् अद्वितीयता और अनिश्शेष-विश्लेष्यता से युक्त विशेषात्मक विषय होती है, अतएव उसमें 'आदर्श सामान्य' का सादृश्य उसे अच्छा बनाने के बदले 'रूढ़', 'नकली', 'यान्त्रिक', 'साधारण' (टिपीकल) बना देता है। लक्षणवादी, रीतिवादी अथवा 'कील्कासिकी' आलोचना इसी प्रकार होती है। कला कोई बढ़ईगिरी नही है जिसमें वृत्त' आदि ज्यामितीय रूपों के सदृश सामान्य सांचों में अन्तर्भुक्ति से कोई अर्थ सिद्ध हो। वस्तुतः कलागत मूल्य सामान्यपरक नैतिक अथवा वैज्ञानिक मूल्यों से पृथक् हैं। कला में असामान्यता असाधारणता, ही गुण होती है।

कलाकृतियों की, रेखा नापने के समान, किसी कृति-विशेष रूप स्थिर प्रतिमान से तुलना के प्रयास में कई कठिनाइयां अनिवार्यतया सम्मुख आती हैं। पहले तो नाप-तोल किसी एक समान आयाम को लेकर अर्थ रखती है। अब यह आवश्यक नहीं है जिस आयाम में 'प्रमाणभूत रचना' की विशेषता है, उसी में, वैसे ही, सब रचनाओं की हो। वास्तव में मान-परिच्छेद मेय और प्रतिमान की समूहालम्बनात्मक अपेक्षाबुद्धि है जिसमें मेय का व्यक्तित्व उपेक्षित हो जाता है। फिर, कलाकृति के द्वारा उपस्थापित जीवन-बिम्ब को यथार्थ अथवा आदर्श माने बिना अन्य कृतियों के बिम्बों के लिये कैसे प्रमाण माना जायगा? बहुधा इस प्रकार की आलोचना एक विशेष जीवन दृष्टि के प्रति सांस्कृतिक आग्रहमात्र होता है। एक और कठिनाई यह है कि कलाकृति में न केवल विशेषात्मकता होती है बल्कि उसमें अनन्त भेद की सम्भावना रहती है। फलतः किसी एक कलाकृति के विशेषमूल्य अन्य कृतियों का आवश्यक रूप से आचार्यत्व नहीं करते।

कलाकार एक अद्वितीय और अपूर्व उपलब्धि को व्यक्त करना चाहता है। वह अपने को अनुकरण नहीं, सृजन के व्यापार में निरत मानता है। दूसरी ओर, 'तारतमिक आलोचक' किसी एक कलाकार की उपलब्धि को प्रमाण मान कर शेष सब के लिये शिकंजा बनाना चाहता है। जहां कलाकार अपूर्व और अद्वितीय 'सत्य' खोजता है आलोचक उसे किसी पूर्वसिद्ध, पूर्वव्यक्त सत्य की उपादेयता का विश्वास दिलाना चाहता है। कला मूल्य-साधना का सृजनात्मक चरण है, वह न यथास्थित सत्य का बौद्धिक आविष्कार है, न यथाज्ञान कर्तव्य का अनुसरण, वह कल्पना के माध्यम से एक नवीन साक्षात्कार है। **'औव ह्यूमन बौन्डेज'** में एक स्थान पर कहा गया है कि आलोचक के सामने इसके सिवा कोई चारा नहीं है कि किसी युग-

प्रवर्तक पूर्व कृति को प्रमाण मानें। सामान्य कलाकार इस प्रकार के प्रमाणभूत कलाकारों का अनुसरण कर उस परम्परा को क्रमशः अवनति की ओर ले जाते हैं। किन्तु महान् कलाकार फिर से एक अपूर्व कृति का सृजन कर इस परम्परा को बदलने पर बाध्य करता है। इस विवरण की व्यक्तिनिष्ठता को छोड़ दें तो इसमें स्थूलरूप से कला के इतिहास का एक गम्भीर मर्म मिल सकता है। आलोचक कलाकार का शिष्य और सहायक होता है, गुरु नहीं।

कुछ आलोचक सोचते हैं कि यदि वे समय के साथ चल सकें, पुराने प्रतिमानों को छोड़ कर नई कला में व्यक्त नये प्रतिमान अपना सकें, तो पूर्वोक्त दोष का निराकरण होगा। कुछ तो इस उत्साह में पुरानी कला को ही पिछड़ी और कालात्यस्त मानते हैं। कुछ उदार आलोचक शायद याद करें 'मेरे पिता के प्रासाद में अनेक कक्ष्य हैं।' हमारा अभिप्राय न अतीत का पोषण है, न वर्तमान का, न हम कला को इतिहासजयी मानते हैं, न इतिहास निश्शेषित। कलाकृति का वस्तुतः उसके बाहर प्रतिमान ही नहीं होता क्योंकि वह बिम्ब-तुल्य प्रतिबिम्ब न होकर स्वयं बिम्ब होती है। उसके प्रक्रियात्मक या शैल्पिक गुण–दोष उसकी समग्रता और उसके अंगों के सम्बन्धों की सफलता-विफलता के रूप में परिशीलनात्मक आलोचना में स्पष्ट होते हैं। उसका 'रस' अद्वितीय और सहृदय-संवेद्य होता है। उसके विषय में मार्मिकों के उद्‌गार मूल्यवान् होते हुए भी उनके द्वारा गृहीत मानसिक प्रभाव की कलात्मक अभिव्यक्ति ही होते है, ज्ञानात्मक आलोचना नहीं।

यह स्मरणीय है कि सौन्दर्यानुभूति में अपूर्वता और नित्यता की अनुभूति निर्विरोध रूप से होती है। ये दोनों ही विशेषण इस सन्दर्भ में कालपरक नहीं मानने चाहिए। अपूर्वता चित् की असामान्यता या स्वलक्षणता को द्योतित करती हैं; नित्यता उसकी स्वरूप-सिद्ध अनिवार्यता। रसानुभूति में ये लक्षण चित् के द्वारा समाविष्ट बिम्ब के लक्षण प्रतीत होते हैं जैसे आलोक की उज्ज्वलता दर्पण-प्रतिसंक्रान्त होती है। कल्पना के साहसिक अभियान के द्वारा मनुष्य का अपनी स्थिति के अन्तराल से अपना बोध ही रसानुभूति का मर्म है जो कि आध्यात्मिक रहस्य से अपरिचित अपव्याख्याओं से बहुधा आच्छन्न होता रहा है।

परिशिष्ट

सौन्दर्य बोध और कला के कुछ सन्दर्भ

कान्ट, :

गुण, मात्रा, सम्बन्ध और वृत्ति के अनुसार सौन्दर्य-निर्णय का विश्लेषण—

"सहृदयता किसी विषय को सर्वथा निस्स्वार्थ तृप्ति या अतृप्ति के द्वारा आकारित या आलोचित करने की योग्यता है। सौन्दर्य इस प्रकार की तृप्ति का विषय होना है।" (क्रिटीक ऑव जज्मैन्टपृ० ५५)

"सुन्दर वह है जो सार्वभौमिक रूप से किन्तु सम्प्रत्यय के बिना आनन्दित करता है।" (वही, पृ० ६७)

"सौन्दर्य किसी विषय की प्रयोजनीयता या सार्थकता का रूप है जहां तक कि उसका प्रत्यक्ष बिना किसी प्रयोजन या अर्थ के ज्ञान के होता है।" (वही, पृ० ९०)

"सुन्दर वह है जो बिना किसी सम्प्रत्यय के आवश्यक तृप्ति के विषय के रूप में जाना जाता है।" (वही, पृ० ९६)

कला और प्रकृति का बनाने (फाकेरे) और करने (आगेरे), कृति (=निर्मिति, ओपुस) और कर्म (ऐफेक्टस) का भेद है (वही, पृ० १८३)

[बनाने और करने का यह भेद मध्यकालीन विचारकों ने विशेष रूप से प्रतिपादित किया था—द्र० जाक मैरितें, आर्ट एन्ड स्कौलेस्टिसिज्म, (अनु० स्कैनलन, न्यूयोर्क, १९४३)]

"सुन्दर वस्तु नैतिक सत् की इस अर्थ में प्रतीक है कि वह सुखप्रद है और इस बात में सब की सम्मति का दावा करती है। इससे मन को इन्द्रिय-गृहीत सुख से उत्कृष्टतर अवस्था का बोध होता है। सहृदयता उन बुद्धि-

ग्राह्य विषयों की ओर देखती है, जो हमारी उत्कृष्ट ज्ञानशक्ति के अनुरूप हैं और जिसके बिना उनके स्वरूप और सहृदयता के दावे में अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाएगा। इस योग्यता में परख (=परीक्षा, बुद्धि) अपने आपको आनुभविक नियमों की उस तरह परतन्त्र नहीं समझती जैसी व्यावहारिक विषयों के निर्णय में। ऐसे विशुद्ध आस्वादन में वह अपने आपको स्वयं नियम प्रदान करती है, जैसे विवेक इच्छा-शक्ति के विषय में। अतः विषयी की आन्तरिक सम्भावना के कारण और उसके अनुरूप प्रकृति की बाह्य संभावना के कारण, वह अपने आपको विषयी के अन्दर और बाहर, दोनों ओर उद्दिष्ट देखती है, जोकि न प्रकृति है, न स्वातन्त्र्य, बल्कि जो स्वातन्त्र्य के अतीन्द्रिय अधिष्ठान से सम्बद्ध है। इस अतीन्द्रिय अधिष्ठान में ज्ञान और कर्म की शक्तियां एकान्वित हैं, यद्यपि किस प्रकार से यह अविदित है। इनके कुछ सादृश्य और भेद नीचे सूचित हैं—

(१) सुन्दर विषय **साक्षात्** रूप से आनन्दित करता है। (किन्तु केवल विमर्शात्मक साक्षात्कार में, न कि नैतिकता के समान, सम्प्रत्यय के द्वारा)।

(२) वह **निःस्वार्थ रूप से** आनन्द-प्रदान करता है (नतिक सत् इष्टार्थ के साथ आवश्यक रूप से सम्बद्ध है हालांकि यहां इष्टता का बोध परख के **बाद** ही होता है, न कि उसके पूर्व)

(३) कल्पना की **स्वतन्त्रता** (और अतएव सहृदयता की) समझ (=विकल्पबुद्धि) के नियम की अनुरूपता में सौन्दर्य का निर्णय करती है। (जबकि नैतिक समझ में स्वतन्त्रता को संकल्प की बुद्ध्यनुरूपता में अवधारित जाता है। सौन्दर्य परखने में विषयिगत तत्त्व को **सार्वभौमिक** समझा जाता है अर्थात् सब के लिए लागू हालांकि सम्प्रत्यय से अनवधार्य। (नैतिकताका विषयगत तत्त्व भी सार्वभौमिक व्याख्यात होता है अर्थात् सर्वव्यक्ति-साधारण और सामान्य प्रत्यय के द्वारा अवधार्य।)"

(वही, पृ० २५१-५२)

मारितैं :

"सुन्दर पदार्थ अतिक्रामी (**ट्रान्सिडेन्टल**) होते हैं, वे विशिष्ट पदार्थ-भेदों का अतिक्रमण करते हैं और सर्वत्र व्याप्त होते हैं। 'एक', 'सत्य' 'शुभ' के समान सौन्दर्य सत् का ही भेद है, सत् का ही धर्म है। सौन्दर्य सत् का औपाधिक, अतिरिक्त गुण नहीं है, वह सत् में केवल ज्ञान-सम्बन्ध जोड़ता है। वह विषय की स्वरूप ज्ञान मात्र में आह्लादकता है। विभिन्न विषयों में उसकी व्याप्ति विभिन्न रूपों में होती है जिन्हें एक प्रकार का सादृश्यमात्र जोड़ता है।"

(मैरितैं, **आर्ट एण्ड स्कौलेस्टिसिज्म**)

क्रोचें :

"साक्षात्कार अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है। ज्ञापक व्यापार में निरपेक्ष और स्वतन्त्र, परवर्ती इन्द्रिय-बोध के विवेक की ओर तटस्थ, सत्यासत्य की ओर उदासीन, देश-काल के परवर्ती प्रत्ययों की ओर भी। साक्षात्कार अनुभव, संवेदन और विमर्श की विषय-वस्तु से भिन्न उसका रूप है। यह रूप या ग्रहण की अभिव्यक्ति है।"

(क्रोचे, ईस्थैटिक)

"यदि अवधारणात्मक ज्ञान और कालिक वस्तु–जगत् को कला के क्षेत्र से निकाल दिया जाय तो उसकी विषय–वस्तु प्राणिक स्पन्दन अथवा भाव के द्वारा अपनी अपरोक्षता एवं सहजता में गृहीत सत्यमात्र रह जाता है, जो कि विशुद्ध साक्षात्कार ही हैं।" (वही)

अभिव्यक्ति में अनेक प्रभाव एक में समन्वित होते हैं और इसीलिये कला-कृति अखण्ड होती है। (वही)

कौलिंगवुड :

"कला-कर्म चेतना के रूप में मन की क्रिया है जो कि अनुभव को कल्पना में बदलती है जबकि इस रूपान्तरण के बिना वह अनुभव ऐन्द्रिय होता है। यह क्रिया सहयोग-पूर्वक क्रिया है और एक व्यक्ति में वृत्तिशील न होकर एक समुदाय में रहती है।····यह समुदाय सब मनुष्यों का आदर्श समाज नहीं है, बल्कि साक्षी कलाकारों, सहायकों और सहृदयों का है जिसके साथ कलान्तर का वास्तविक सहयोग होता है।"

प्रिन्सिपल्स ऑव आर्ट

चार्ल्स मौरिस :

"कलाकृति एक संकेत है जो कि मूल्य या मूल्य-संस्थान को द्योतित करता है किन्तु जिसकी यह विशेषता होती है कि वह प्रतिमात्मक संकेत (आइकौनिक साइन) होने के कारण, अपनी वाचकता के सामान्य होने के बावजूद जिस मूल्य को वह संकेतित करता है वह कलाकृति में ही मूर्त हो जाता है और जिसके फलस्वरूप कलाकृति को देखने वाला सीधे मूल्य-संस्थान को देखता है और उसे उन सब अर्थों से माथापच्ची आवश्यक नहीं है जिसका कलात्मक संकेत अभिधान करता है (परिभाषया, संकेतवाहक के अतिरिक्त अन्य अभिधेय—डिनोटेटा)··· कला मूल्य-सन्प्रेषण की भाषा है।"

—चार्ल्स मौरिस, 'साइन्स आर्ट एन्ड टैक्नौलोजी', केनियन रिव्यू (१९३९), पुनर्मुद्रित, विवास एण्ड क्रीगर, सं० दि प्रौब्लम्स ग्राव ईस्थैटिक्स (न्यूयार्क, १९५७) पृ० १०५-१५

"कला प्रधानतया मूल्य-विषयक अभिधान नहीं करती अपितु साक्षात् अनुभव के लिये मूल्यों को प्रस्तुत करती है। वह मूल्यों के बारे में भाषा नहीं है, वह मूल्यों की भाषा है।" (वहीं,)

पार्कर :

"कला की कोई अपनी मौलिक अभिरुचियां या भाव नहीं होते। जो बात कला को अलग करती है वह है उसका इच्छा को तृप्त करने का प्रकार।....इच्छा के तृप्त करने के इस प्रकार को मैं कल्पना में तृप्त करना कहूंगा।...यही कान्ट का भी अर्थ था जब उसने रसास्वाद को अनासक्त कहा था—ऐसा आस्वाद जो विषयों के रूप प्रस्तुत करने मात्र से प्राप्त होता है और उस सब से स्वतन्त्र है जो विषयों की सत्ता से प्राप्त हो सकता है।

डीविट एच पार्क, 'नेचर ऑव आर्ट'
रेवू आंतरनास्योनाल दि फिलोसोफ़ी, जुलाई १९३९।
पुनर्मुद्रित, विवास एण्ड क्रीगर, पूर्व०, पृ० ९०-१०५।

८

सत्य की खोज

सत्य के दो अर्थ

सत्य दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक ओर उसका प्रयोग ज्ञानगत धर्म–विशेष या प्रामाणिकता के लिये होता है, दूसरी ओर उसका प्रयोग विषय–गत धर्म–विशेष या वास्तविकता के लिये होता है। पहले अर्थ में सत्य ज्ञान के मूल्य का घटक होता है और बौद्धिक पर्येषणा का साध्य। दूसरे अर्थ में सत्य स्वरूपतः मूल्य है अथवा नहीं, यह विचारणीय रहता है। जब पहले अर्थ में हम सत्य को बौद्धिक पर्येषणा का साध्य कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यत्किंचित ज्ञान के सत्य से न होकर, अभीष्ट ज्ञान के सत्य से ही हो सकता है। 'सत्य–ज्ञान' का मूल्य न केवल उसके सत्य होने पर निर्भर करता है अपितु उसके विषय पर भी निर्भर करता है। अकिंचित्कर विषय का ज्ञान, यथा सड़क पर पड़े टूटे कांच के टुकड़े के परिमाण का ज्ञान, सत्य होने पर भी मूल्य न कहा जा सकेगा क्योंकि वह किसी बौद्धिक खोज का साध्य नहीं होता। विषय का मूल्य भी केवल उसकी वास्तविकता पर निर्भर न कर उस विषय की किसी मानवीय साधना में उपादेयता से ही उत्पन्न होता है। इस उपादेयता में विषय का स्वरूप आवश्यक रूप से जुड़ा रहता है। इस प्रकार ज्ञान के मूल्य के लिए उसकी प्रामाणिकता मात्र पर्याप्त नहीं है, न विषय के मूल्य के लिये उसकी वास्तविकता मात्र। किन्तु इसके साथ ही यह भी सही है कि अप्रामाणिक ज्ञान, ज्ञान के रूप में और अवास्तविक विषय, विषय के रूप में अनुपादेय और मूल्यहीन हो जाते हैं। फलतः सत्य ज्ञान का मूल्य उसकी प्रामाणिकता और विषयगत सार्थकता का समुच्चित परिणाम ठहरता है। ऐसे ही सत्य विषय का मूल्य उसके स्वरूप और वास्तविकता का समुच्चित परिणाम सिद्ध होता है।

प्रामाणिकता और वास्तविकता

यह सामान्य धारणा है कि ज्ञान की प्रामाणिकता उसके विषय की

वास्तविकता पर निर्भर करती है। अप्रामाणिक ज्ञान के विषय की अवास्तविकता पर विचार कर कुछ लोग दो प्रकार के विषयों की कल्पना करते हैं, ज्ञान के बाहर और ज्ञान के अन्दर। इस दृष्टि से जब ज्ञान का अन्तर्विषय बाह्य विषय के अनुरूप होता है तो ज्ञान प्रामाणिक होता है, अन्यथा अप्रामाणिक। कुछ लोग ज्ञान के अन्तर्विषय को ज्ञान का आकार अथवा ज्ञानोपस्थापित आकार कहते हैं और ज्ञानाकार एवं विषयाकार के सारूप्य को ज्ञान का प्रामाण्य। इस तरह से दो प्रकार के विषय मानने में कठिनाई यह है कि ज्ञान और उसके विषय के 'सहोपलम्भ-नियम' से वे सदा एकान्वित रूप में ही प्राप्त होते हैं। न उनकी तुलना सम्भव है, न उनके सारूप्य का कोई अर्थ है। ज्ञान-बाह्य विषय के उपलब्ध न होने पर ज्ञान-विषय ही तुलनीय ठहरते हैं और इस बात को देख कर ज्ञानों की संगति को उनका प्रामाण्य कहा गया है। समान-विषय के विरुद्ध ज्ञानों के उत्पन्न होने पर उनकी प्रामाणिकता संशय का विषय बनती है जबकि उन ज्ञानों की संगति उनकी प्रामाणिकता को पुष्ट करती है। जब किसी विषय के ज्ञान पर आधारित प्रवृत्ति उस विषय का पूर्वज्ञान से विसंगत ज्ञान उत्पन्न करती है तो उत्तरज्ञान के प्रबलतर होने पर पूर्वज्ञान बाधित और अप्रमाण हो जाता है। उदाहरण के लिये कहानी के गुंजाफलों में बन्दरों की अग्नि-बुद्धि पर आधारित उनकी प्रवृत्ति उनके गुंजाफलों में अनुष्णता बोध से बाधित हुई। इस प्रकार की विसंगति ज्ञान की विसंवादकता कही जाती है। वंचक जिसे जैसा बताता है, वह वैसा नहीं होता और यह पता चलता है उस बात को मानने से उत्पन्न प्रत्याशा के विहत होने पर। ज्ञान की प्रामाणिकता उसकी अविसंवादकता या अवंचकता ही है जिसका पता प्रवर्तक-ज्ञान और प्रवृत्तिजन्य ज्ञान की अविसंगति से चलता है। यह अविसंगति ही प्रवृत्ति-साफल्य है[1]। चूंकि मनुष्य के अर्थगवेषी प्राणी होने के नाते उसकी सभी प्रवृत्तियां-क्रिया के द्वारा प्रयोजन-सिद्धि की चेष्टाएं-साध्य-साधन-ज्ञान की पूर्वापेक्षा रखती हैं, ज्ञान की प्रामाणिकता की यह व्यावहारिक कसौटी ही उसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिभाषा है। "सत्य जे कठिन किन्तु करे न वंचना"। यदि व्यावहारिक विश्वसनीयता ज्ञान की प्रामाण्यरूप अद्वितीय विशेषता का संकेत बन जाती है, तो वही ज्ञान को मूल्यवान् भी बनाती है। "प्रमाणतोऽर्थ-प्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्।" [2]

---

१ द्र० मेरे न्यायबिन्दु (जयपुर, १९७१) की प्रस्तावना।

२ प्रामाण्य-विचार पर द्रष्टव्य मेरा लेख 'दि कन्सेप्ट ऑव प्रमाण इन फिलोसोफ़ी' (विश्वभारती जर्नल ऑव फिलोसोफ़ी, १९६६)।

सामान्य धारणा के अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता का मानदण्ड उसका विषय प्रस्तुत करता है अर्थात् विषय के वास्तविक होने पर उसका ज्ञान प्रामाणिक होना चाहिये। किन्तु विषय की वास्तविकता का पता उसके प्रामाणिक ज्ञान के द्वारा ही होता है और प्रामाणिकता की परीक्षा अन्ततः ज्ञान की अन्तःपरीक्षा ही होती है। जैसा कान्ट ने कहा था ज्ञान–मीमांसा प्रचलित धारणाओं में एक 'कोपर्निकन क्रान्ति' प्रस्तुत करती है।[1] यद्यपि ज्ञान ही विषय का निर्णायक होता है उसके सामान्य स्वरूप की निर्णायकता सामान्यतया विषय के सम्भव स्वरूपों का ही स्वतन्त्र मान उद्भावित करती है। विशिष्ट विषयों के सम्बन्ध में विशिष्ट ज्ञान के सत्यासत्य का मान उसकी व्यवहार–सन्दर्भ में अबाधितता या अविसंवदकता ही ठहरती है। इसका अर्थ यह है कि शुद्ध या विषयसामान्यीय कल्पनाओं के अतिरिक्त विशिष्ट कल्पनाओं का प्रामाण्य उनके प्रतिभास के साथ व्यावहारिक अविसंवाद पर ही निर्भर करता है। अविसंवाद ज्ञानीय होते हुए भी कभी विशुद्धतार्किक होता है, कभी अनुभव-सापेक्ष।

वस्तुतः यदि ज्ञान में स्वतः सिद्ध प्रामाणिकता नहीं हो, तो किसी भी प्रकार से उसमें प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि तब सभी ऐसे प्रयास अनवस्था के ग्रास में पड़ जाएंगे। साक्षात्कारिता ज्ञान का अनपायी स्वरूप है और उसका विषय सदा ही अपनी सत्ता घोषित करता हुआ कम से कम एक प्रतीयमान या प्रातिमासिक सत्ता से युक्त होता है। ज्ञान के प्रतीयमान विषय की अवास्तविकता उसकी प्रतीति के बाधित होने से ही सिद्ध होती है। सत्ता या वास्तविकता कोई पृथक् विषय नहीं होती, न उसका तद्विशिष्ट विषय के ज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य ज्ञान होता है। किसी भी विषय की सत्ता की प्रतीति उस विषय की प्रतीति में ही निश्शेषित होती है। अतएव किसी भी विषय की अबाधित प्रतीति को सत्य मानना होगा जैसा कि उसका सहज दावा होता है। अवश्य ही जैसा कि सुविदित है अबाधितता का अर्थ इस सन्दर्भ में त्रैकालिक अबाधितता लिया जाना चाहिये।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि ज्ञान स्वतः प्रमाण है तो उसमें अप्रामाणिकता का निवेश ही किस प्रकार होता है। स्पष्ट ही ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का पक्ष उसके परतः अप्रामाण्य का आक्षेप करता है अर्थात् ज्ञान की अप्रामाणिकता के स्थल पर उसके विषय के ऊपर किसी अन्य आगन्तुक

---

१ क्रिटिक देर राइनैन फेरनुन्फ्त' के दूसरे संस्करण की भूमिका।

उपाधि का प्रभाव स्वीकार करना होगा। यह उपाधि इन्द्रिय-दोषजन्य रूप हो सकता है जो कि इन्द्रिय-गृहीत रूप को व्यवहित करता है। अथवा, विशेषतः अनुमानादि ज्ञानकरणक ज्ञान के स्थल में, कल्पनाजन्य रूपसादृश्य के द्वारा ज्ञेय रूप को ढक लेता है। ज्ञान की साक्षात्कारिता अव्याहत रहती है क्योंकि वह उसका नित्य साक्षिभाव है, किन्तु उसका विषयों से सम्बन्ध सहज न होकर ज्ञानोत्पादक-सामग्री के अधीन होता है। यह सामग्री विषय का स्वरूप, प्रकाशादि सामान्य हेतु प्रत्यय, संनिकर्ष, इन्द्रियादि, मनस्, अवधान, रुचि, इच्छा कल्पनादि मनोवृत्तियां आदि अनेकविध होती है[1]। चिरन्तन और साधारण जैविक-सामाजिक व्यवहार के सन्दर्भ में अर्थ-क्रिया-सामर्थ्य की कसौटी से निर्धारित इस सामग्री का 'मध्यमान' ही उसका वह रूप है जिसके द्वारा उपस्थापित विषय ज्ञान का 'यथार्थ विषय' होकर ज्ञान की प्रामाणिकता को अविकृत रखने में समर्थ माना जाता है।

ज्ञान का अनुसन्धान

इस विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि ज्ञान की खोज का मुख्य लक्ष्य उसकी प्रामाणिकता न होकर उसका विषय होता है। इस अनुसन्धान में प्रामाणिकता की खोज आनुषंगिक रूप से होती है। ज्ञान के साथ ही उसकी सत्यता में विश्वास उत्पन्न होता है। वैचारिक विसंगति अथवा व्यावहारिक विसंवाद से इस विश्वास में संशय जागता है और हम अपने विश्वास का आधार ढूंढते हैं। विश्वास के मूलाधार ही प्रमाण कहलाते हैं। प्रमाणों के अनेक वर्गीकरणों में उसका एक मौलिक द्विविध विभाजन ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है क्योंकि वह ज्ञान-घटक व्यापार का ही द्वैविध्य है—साक्षात्कार और परिच्छेद। ये दोनों ही व्यापार प्रत्यक्ष में अन्तर्निहित होते हैं, अन्यथा प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प सम्भव न होता। अनुमान, शब्द आदि में परिच्छेद का प्राधान्य होता है किन्तु उसके साधनभूत संकेत का साक्षात्कार वहां भी होता है। और फिर विशेष परिस्थिति में शब्द भी साक्षात्कार उत्पन्न कर सकता है। वस्तुतः ज्ञानमात्र में एक नित्य साक्षिभाव विद्यमान रहता है। किन्तु अपनी उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति की विशेषता के अनुसार उसका विषय-सम्बन्ध विभिन्न प्रकार से होता है और यही प्रमाण-वैविध्य का कारण होता है। इन्द्रियों और मन के व्यापार से व्यक्त ज्ञान देश-कालोचित स्फुट प्रतिभास होता है, मन और बुद्धि के व्यापार से व्यक्त होने पर परिच्छिन्न अध्यवसाय होता है, शुद्ध बुद्धि मात्र से व्यक्त होने पर प्रज्ञात्मक होता है, केवल अपने आप में स्वप्रकाशमात्र होता है। ज्ञान की ये चार श्रेणियां

---

१ अभिधर्म में ज्ञान के हेतु-प्रत्ययों का विशेष रूप से विश्लेषण किया गया है।

विषय-ग्रहण, विषय-निर्धारण, विषय-साक्षात्कार और आत्म-साक्षात्कार कही जा सकती हैं। विषय-ग्रहण अपनी अनभ्यस्त दशा में अपने प्रामाण्य का निश्चायक नहीं होता, इन्द्रिय-सहज भ्रान्तियों का शिकार होता है, और अपने विभिन्न प्रतिभासों के परस्पर सम्बन्धों को नहीं बताता। विषय-निर्धारण में सम्बन्ध और प्रामाण्य का निश्चय सहज होता है किन्तु विषय का स्वरूप अस्फुट रहता है। गृहीत विषय के निर्धारण के समय विषय का रूप ही बदल जाता है किन्तु यह परिवर्तन नियमतः होता है और अतएव निर्धारित या विकल्पित रूप गृहीत या संविदित रूप से प्रतिबन्ध या नियत-सम्बन्ध रखता है। इसीलिये निर्धारणात्मक या विकल्प-ज्ञान अप्रत्यक्ष और कल्पनोपचित होते हुए भी व्यावहारिक अविसंवादकता से युक्त रहता है। बल्कि यह कहना चाहिए कि बिना विकल्प-संयोग के प्रत्यक्ष-ज्ञान स्वयं साध्य प्रवृत्ति का आधार नहीं बनता।

हमारा अधिकांश ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान पर आश्रित होता है और इनमें अभ्यास-दशापन्न प्रत्यक्ष एवं अनुमान स्वयं अपने प्रामाण्य के भी ग्राहक होते है। इन प्रमाणों को अपने आभासों से पृथक् करने के लिए इन पर आधारित प्रवृत्ति की अविसंवादकता एक कसौटी प्रस्तुत करती है। दूसरी ओर प्रत्यक्ष-विकल्प का अनुमान से और अनुमान का तर्क से, समर्थन उनके प्रामाण्य के बोध को दृढ़ करता है। मैं क्यों मानता हूँ कि 'यह जल है' क्योंकि मैंने बार बार इसका इसी प्रकार से प्रत्यक्ष किया है और अन्य कोई भी, कभी भी कर सकता है। इसके जल होने पर इसके द्वारा प्यास और आग बुझाई जा सकनी चाहिए और इन प्रवृत्तियों की सफलता से इसके जल होने का ज्ञान अविसंवादक सिद्ध होता है। अथवा पर्वत-शिखर पर धूम-दर्शन से अग्नि का अनुमान इस तार्किक युक्ति से समर्थित होता है कि अग्निरूप हेतु के अभाव में धूमरूप कार्य की सत्ता असम्भव है। और यह अनुमान-प्राप्त अग्नि का ज्ञान अग्नि के प्रत्यक्ष रूप में सफल प्रवृत्ति का आधार बनने पर अन्ततः पुष्ट हो जाता है। प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति-साफल्य, अनुमान और तर्क, सभी मिल जुल कर ज्ञान की प्रामाणिकता या विश्वसनीयता को बताते हैं और इसी प्रक्रिया में ज्ञान के विषयों की वास्तविकता का भी पता चलता है।

ज्ञान की मानसिक अभिव्यक्ति एक विश्वास के रूप में होती है। हम सब विश्वासों को समान रूप से मूल्यवान् नहीं मानते। ज्ञान के मूल्य का एक घटक उसकी ऊपर विचारित विश्वास-योग्यता पर निर्भर करता प्रतीत होता है। वस्तुतः ज्ञान की विश्वसनीयता ज्ञान की अपने व्यापार में सामर्थ्य (फंक्शनल वैल्यू) दिखलाती है। यदि ज्ञान मूल्यवान् हो तो उसकी

विश्वसनीयता ज्ञान के मूल्य की पुष्टि करती है। जैसे चाकू की धार चाकू को समर्थ या 'कुशल' बनाती है, ऐसे ही ज्ञान की प्रामाणिकता या विश्वसनीयता उसे अपने कार्य में समर्थ बनाती है। प्रामाणिकता ज्ञान को अलग से मूल्य नहीं देती बल्कि ज्ञान को उसके व्यापारात्मक मूल्य के योग्य बताती है। यदि ज्ञापन-व्यापार मूल्यवान् है तो ज्ञान की प्रामाणिकता उसकी इस व्यापार में योग्यता सूचित करती है। ज्ञान का मूल्य प्रामाणिकता से आक्षिप्त न होकर ज्ञान के मूल्य से प्रामाणिकता का मूल्य आक्षिप्त होता है।

व्यापारात्मक ज्ञान का मूल्य किस बात में मानना चाहिए? ज्ञान विषय का तटस्थ प्रदर्शन करता है और उसके मूल्य से स्वयं उपरक्त नहीं होता। जल के 'वाक्य-ज्ञान' से प्यास नहीं बुझती, न अच्छाई-बुराई के ज्ञान में अच्छाई-बुराई होती है। न ज्ञान का विषय ज्ञानगत होता है न ज्ञान विषयात्मक। न ज्ञान विषय की घटनात्मक प्राप्ति देता है, न ज्ञान से विषय स्थिति में कोई परिवर्तन होता है। ज्ञान-व्यापार ज्ञाता विषयी में फलाधान करता है जिससे विषयों से अपने सम्बन्ध के सन्दर्भ में उसकी योग्यता में एक अतिशय होता है। इस प्रकार ज्ञान ज्ञाता की विषय-सम्बद्ध प्रवृत्ति में साधक बनता है। इस दृष्टि से ज्ञान को एक प्रकार का साधन या उपकरण कहा जा सकता है। यह स्मरणीय है कि जैविक विकास में ज्ञान-शक्ति प्रवृत्ति की सहायक के रूप में विकसित हुई है।[1] भाषा का विकास, अन्य प्रतीकों का निर्माण, अवधारणात्मक प्रत्ययों का निर्माण, संगणक यन्त्रों (कम्प्यूटर्स) के निर्माण का विकास आदि ज्ञान की इसी यन्त्रोपम साधनता की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। मानव-जीवन में भी जिज्ञासा प्रवृत्ति के सन्दर्भ में उत्पन्न होती है[2] और इतिहास इस बात का प्रमाण है कि ज्ञान-विज्ञान की प्रगति उनके व्यावहारिक प्रयासों से निकट सम्बद्ध रही है। ज्ञान की साधकता परिवेश के नियन्त्रण और इच्छापूर्ति के साधनों के विकास तक ही सीमित नहीं है, अपितु मूल्य-साधना का भी आवश्यक अंग है। साध्य और साधन के सैद्धान्तिक ज्ञान के बिना किसी भी साधना की सफलता दुराशामात्र है। साधना का परिणाम जितना दूर और अदृष्ट, सूक्ष्म एवं परोक्ष होता है, उतनी ही अधिक उसमें ज्ञान की पूर्वापेक्षा होती है। जहां ज्ञान की विसंवादकता दुरूह होती है, वहां ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा

---

१ उदा० बर्गसों, **क्रियेटिव एवोल्यूशन**।

२ तु० ड्यूई, **लौजिक दि थियरी ऑव इन्क्वायरी** (१९३८)।

एवं उसकी विधि भी आवश्यक बन जाती है।[1] सामान्य लौकिक ज्ञान और विज्ञान एक ही व्यावहारिक ज्ञान की ध्रुवस्थ स्थितियां हैं, अपरीक्षित और सुपरीक्षित। विज्ञान तर्कानुगृहीत अनुमान और अभ्यासदशापन्न प्रयोगात्मक प्रत्यक्ष पर आधारित होता है। उसकी विधि को देकार्त ने 'निरपवाद संशय' की विधि कहा था। 'व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिर्मतः।' विज्ञान में मान्यताएं और स्थापनाएं अभी तक प्रामाणिक मानी जाती हैं जब तक प्रयोग द्वारा वे बाधित नहीं होतीं। तर्कात्मक और प्रयोगात्मक विधियों से और विशिष्ट संकेत-पद्धतियों से सन्नद्ध होकर ज्ञान मानवीय हितों का व्यवहार-साधक होने पर भी अपनी आग्रहशून्य प्रगतिशीलता[2] से देश, काल और 'निमित्त' से परिभाषित वस्तु-जगत् के परोक्ष से परोक्षतर और व्यापक से व्यापकतर सत्यों को उद्घाटित करता हुआ जिज्ञासा और ज्ञान की एक अनन्त साधना प्रस्तुत करता है।

फलतः ज्ञान न केवल व्यवहार का साधक और साधना का अनुग्राहक है और इस प्रकार परम्परया मूल्यान्वित है अपितु स्वयं एक अनन्त साधनात्मक मूल्य है। उसका प्रारम्भ मनुष्य की सहज कौतूहल-वृत्ति से होता है और उसका विकास मनुष्य के बुद्धिरुपी विशेष गुण के विकास के साथ होता है। ज्ञान का अनुसन्धान मनुष्य का स्वधर्म और परम कर्तव्य है[3]। इस दृष्टि से ज्ञान की साधना मूलतः व्यवहार का अंग न होकर मनुष्य के चरम उत्कर्ष की साधना है।

स्पष्ट ही इस सन्दर्भ में ज्ञान का एक विशिष्ट अर्थ है। ज्ञान को जब मानव-स्वरूप का विशेष और उत्कृष्ट गुण कहा जाता है, तो ज्ञान का अर्थ न ऐन्द्रिय-संवेदन है, न इन्द्रिय-संवेद्य प्राकृतिक वस्तुओं का बुद्धि-विकल्पात्मक ज्ञान है। उसका अर्थ तत्त्वों और आदर्शों का विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान है। इस प्रकार का ज्ञान संवेदन पर अनाश्रित, बुद्धि की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति, दर्शन-पर्यवसायी और नित्य-तत्त्व-विषयक होता है। जहां संवेदन अनित्य अर्थों का होता है, अतीन्द्रिय बुद्धि-ज्ञान उन अर्थों के नियामक तत्त्वों का होता है। संवेदन के स्तर पर विषयक की वास्तविकता उसकी अर्थक्रिया-

---

१ तु० वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, (चौखम्भा), पृ० ३०, ६८–६९।
२ तु० पर्स का 'फौलिबिलिज्म' (पैसमोर, ए हन्ड्रड ईयर्स ऑव फिलोसोफ़ी, पृ० ११७)
३ सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की दृष्टि। भारतीय सन्दर्भ में 'ज्ञान' लौकिक विद्याओं के अर्जित विषय-ज्ञान से भिन्न है। यूनानी 'ज्ञान' (नूस) मूलतः तार्किक है, भारतीय धारणा आध्यात्मिक।

कारिता होती है जो कि अपनी न्यूनतम मात्रा में प्रतिभास-नियामकता ही ठहरती है। बुद्धि के स्तर पर विषय की वास्तविकता उसकी नियमाधीनता होती है। सांवेदनिक ज्ञान भौतिक ऊर्जा की कारणता से नियमतः उत्पन्न विषय-प्रतिभास होता है जिसमें ज्ञान की निश्चयात्मकता न अनिवार्यता से युक्त होती है, न सार्वभौमता से। बौद्धिक ज्ञान अनिवार्य और सार्वभौम निश्चय होते हैं जो तात्विक नियमों को अपना विषय बनाते हैं। कालिक सत्ता और संवेद्य अर्थक्रियाकारिता से रहित होने के कारण ही ये विषय बुद्धिग्राह्य, बुद्धि द्वारा प्राप्तव्य होते है। संवेदन और संवेदनाश्रित विकल्प कालिक विषयों के प्रदर्शन मात्र होने के कारण उनकी प्राप्ति-परिहार की प्रवृत्ति के सहायक होते हैं। बौद्धिक ज्ञान से दर्शन या विपश्यना में नित्य विषयों की यथायोग्य प्राप्ति होती है। बुद्धि देवताओं की तरह दर्शनमात्र से कृतकृत्य हो जाती है और जहां तक मनुष्य 'बुद्धिजीवी' है वह भी बौद्धिक ज्ञान की साधना में कृतकृत्यता खोजता है।

स्पष्ट ही ज्ञान के स्तर और विषय के विवेचन के बिना उसका मूल्य से अभिसंबंध अवगत नहीं हो सकता। मनुष्य के आत्मबोध के अनुरूप ही उसके ज्ञान का स्तर होता है और उसके ज्ञान के स्तर के अनुरूप ही विषय। देहेन्द्रिय-प्रधान आत्मबोध संवेद्य प्रकृति-जगत् की कल्पना कर उसमें प्रवृत्तिरत होता है। उसके लिये ज्ञान प्राणी और परिवेश का व्यावहारिक सम्बन्ध बन जाता है और इस स्तर पर ज्ञान एक व्यावहारिक मूल्य ही ठहरता है। सभी प्राविधिक और वैज्ञानिक ज्ञान इसी कोटि का मानना चाहिए। वैज्ञानिक ज्ञान को विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह अन्ततः ऐन्द्रिय-संवेदन पर आश्रित और प्रकृति-विषयक है। गणित यदि 'पुनरुक्तिमात्र' या आकारिक सम्भावना मात्र नहीं है, तो उसके लिये भी यह सही होना चाहिए।[1] वस्तुतः गणित संवेद्य अर्थों के सामान्य लक्षणाश्रित संबन्धों का विज्ञान है। उसका बोलबाला भी उसके व्यावहारिक चमत्कारों के कारण ही है। विज्ञान मनुष्य की प्राकृतिकता और देहात्मबोध का ही समर्थन करता है। बुद्धि स्वयं उसके क्षेत्र से बहिर्भूत है और इसीलिये वह मनुष्य का ऐसा कोई स्वरूप नहीं बताता जो ऐन्द्रिय-बोध से उत्तीर्ण हो। यदि विज्ञान सांवेदनिक ज्ञान का चरम अर्थ, प्रकृति का रहस्य, अथवा परम आधिभौतिक सत्य खोजता है, तो बुद्धि-ज्ञान विज्ञान की आधारभूत कल्पनाओं का, उसके आधारभूत तत्त्वों, आदर्शो और नियमों का परीक्षण

---

१ द्र० मेरा लेख 'दि नेचर ऑव मैथेमैटिक्स' (मौडर्न लौजिक एन्ड फिलोसोफ़ी)।

करता हुआ[1] एवं अनुभूति के अन्य आयामों के आदर्शों को भी इसी प्रकार परखता हुआ,स्वयं बुद्धि के स्वरूप-विमर्श में निरत हो मनुष्य के आध्यात्मिक सत्य की झलक पाता है। जैसे नाना वस्तुओं के ज्ञान के ऊपर उनके तत्वों का ज्ञान प्रतिष्ठित है, ऐसे ही तत्वों के ज्ञान के ऊपर उनकी शून्यता का ज्ञान प्रतिष्ठित है। वही बुद्धि-ज्ञान का चरम शिखर है जो उसकी पारमिता भी है और उसके अतिक्रमण का बिन्दु भी है।[2]

इस प्रकार हम ज्ञान की उत्तरोत्तर भूमियां निर्धारित कर सकते हैं। संवेदमूलक अपरीक्षित विकल्प ज्ञान की पहली भूमि है। संवेद्य अर्थों के विभिन्न सामान्य लक्षणों और हेतुओं के परीक्षित विकल्पों की व्यवस्था विज्ञान है। इन दोनों ही भूमियों में ज्ञान एक व्यावहारिक मूल्य रहता है यद्यपि दूसरी में बुद्धि-व्यायाम एक अपनी विशेषता उपस्थित करता है जिसे बौद्धिक सात्विक अहंकार आत्मिक विशेषता मान कर मूल्य रूप में स्वीकार करता है। अनुभूति के विश्लेषण के रूप में दर्शन,[3] विषयमात्र के सामान्य लक्षणों और सम्बन्धों के विश्लेषण के रूप में न्याय (तर्कशास्त्र) और विज्ञानगोचर विषयों के सामान्यलक्षणाश्रित सम्बन्धों के विश्लेषण के रूप में गणित बुद्धिज्ञान की तात्विक भूमि है जिसमें व्यावहारिक मूल्य परम्परया रहता है। किन्तु जिसमें सात्विक अहंकार की चरितार्थता के रूप में मूल्यबोध विशेष रूप से निहित रहता है। इस स्तर में बुद्धि को बहुधा ज्ञानमयी स्वाधीनता, विषय-प्राप्ति और चरितार्थता की प्रतीति होती है और इसीलिये तात्विक अभिसमय एक मूल्यानुभूति होता है। यह दर्शन-मयी मूल्यानुभूति सात्विक भूमि की होती है। बुद्धि अपने विषयों में अपनी अभिव्यक्ति पाती है और इस सार्वभौम स्वाराज्य में उसके स्वरूप-विमर्श की सान्द्रता सात्विक या प्रकाशमय सुख को व्यक्त करती है। यही ज्ञानात्मक मूल्यानुभूति है।

---

१ इसी को प्लेटो ने रिपब्लिक में 'डायलैक्टिक' कहा है।

२ प्लेटो के लिए तत्त्वों का भेद कर बुद्धि उस सत् का ज्ञान प्राप्त करती है, 'यस्यभासा सर्वमिदं विभाति'। बौद्धों के लिए 'धर्मों' (तत्त्वों) का भेद प्रज्ञापारमिता के खड्ग से होता है और प्रज्ञापारमिता शून्यता से अभिन्न है। शून्यता की प्राप्ति भी 'डायलैक्टिक' से ही होती है। वेदान्तियों ने भी पीछे मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए इसी प्रासंगिक तर्क का सहारा लिया।

३ द्र० मेरा 'दार्शनिक प्रगति का प्रश्न' (अध्यक्षीय भाषण, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् द्वादशवार्षिक अधिवेशन, बड़ौदा, १९६७)

दर्शन, तर्क और गणित के मूल में स्थित अर्थात् ज्ञानमात्र के मूल में स्थित धारणाओं या प्रत्ययों का विचार उनकी अतात्विक सापेक्षता, निस्स्वभावता या शून्यता प्रदर्शित करता है। इस द्वन्द्वात्मक तर्क या माध्यमिक विचार से स्पष्ट हो जाता है कि सभी बौद्धिक विषय व्यवहार-मात्र से उद्गृहीत कल्पनाएं हैं। उनका अपना कोई स्वभाव नहीं है जिससे वे व्यवहार को आलोकित कर सकें और सत्य का ज्ञान दे सकें। व्यवहार-निर्देशन में कुशल होती हुई भी बुद्धि, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विषयों में प्रविष्ट होती हुई भी, सत्य और स्वरूप-बोध से वंचित रह जाती है। वह सत्य खोजती है किन्तु अपनी ही कल्पनाओं में—विषयों में—उलझी रहती है।[1] विकल्पना ही बुद्धि को बहिर्मुख कर स्वरूप से वंचित करती है और सीमित विषयों की मरीचिका में डालती है। शून्यता की प्रतिपत्ति में वास्तविक चरितार्थता के लिये बुद्धि के आत्मसंस्थ और निर्विकल्प होने का संकेत निहित रहता है।

ज्ञान में सामान्यतः आत्मबोध और विषय-बोध इस प्रकार परस्पर अध्यस्त रहते हैं कि आत्मबोध बोध के स्वसंवेदनमात्र में प्रतिपदा की चन्द्रकला के समान संकुचित रह जाता है जबकि विषय स्वतन्त्रतापूर्वक बोध-नियामक के रूप में प्रस्तुत होता है। किन्तु इसके साथ ही बोध-सम्बद्ध होते हुए भी विषय में मूल्यावभास विषय की आत्मसम्बद्धता के द्वारा ही होता है। ज्ञान में जहां विषयावभास ज्ञान और बाह्य विश्व का स्पर्श बिन्दु बनता है, मूल्यावभास ज्ञान का आत्मस्वरूप की ओर निवर्तन सूचित करता है। विषय भी आत्मस्वरूप का संकेत बनकर मूल्य-प्रतीति की उपाधि बन सकता है। जैसे विषय आत्मसंकेत बनकर मूल्य को रूप देते हैं, ऐसे ही वे कारित्र द्वारा वस्तु को रूप देते हैं। देहात्मबोध के स्तर पर विषय की कारित्र-रूपी वास्तविकता व्यावहारिक मूल्यों की साधक बन जाती है। किन्तु इस प्रकार के विषय और उनके द्वारा उपयोग से उत्पादित मूल्यानुभव, दोनों ही कार्य-कारण-व्यापार के अन्तःपतित होने से अनिवार्यतया अनित्य होते हैं। देहात्मबोध पर प्रतिष्ठित जैविक-सामाजिक व्यवहार के स्तर पर विषय की मूल्यात्मकता का बोध विषय की वास्तविकता की अपेक्षा करता है क्योंकि उसके द्वारा ही विषय मूल्यानुभूति का अंग बनता है किन्तु यही वास्तविकता जब उसमें और उसके अन्य अनुभव में अनित्यता के दंश

---

१ वह पौराणिक कथा स्मरणीय है जिसमें ज्योतिर्लिङ्ग का मूल ऊपर खोजने जाकर ब्रह्मा मार्ग में प्राप्त कुछ फूलों से ही अपने को कृतार्थ मानने लगे थे।

का अनिवार्यतया निवेश करती है तो उसका बोध अनर्थ रूप में होता है। अनित्य वस्तुएं वहां तक मूल्यवान् लगती हैं जहां तक वे सुखादि के द्वारा एक तात्कालिक आत्म-विश्रान्ति उत्पन्न करती हैं। किन्तु उनकी अनित्यता उन्हें अनर्थात्मक प्रदर्शित करती है। इसीलिये उनमें कारित्रमयी सत्ता होते हुए भी उन्हें सत्य, 'सच्ची' वास्तविकता, या परमार्थिकता से युक्त नहीं कहा जा सकता है।

सात्विक आत्मबोध पर प्रतिष्ठित विवेक के स्तर पर बुद्धि-ग्राह्य विषय अनित्यता के साथ ही अपनी कारित्रमयी वास्तविकता भी छोड़ देते हैं। उनकी नई वास्तविकता उनकी नियमवर्तिता से ही परिभाषित हो सकती है। इस स्तर पर विषय विज्ञानमय आत्मा के प्रतिबिम्ब बन कर मूल्य-संकेत बनते हैं। यदि बुद्धिज्ञान ही अनुसन्धेय सत्य है तो सत्य का रूप हो जाता है नियम या ऋत। व्यवहार की दृष्टि से यह उसकी समस्त कारणता का मूल है। किन्तु स्वरूप-विचार पर यह केवल बौद्धिक प्रत्ययों की द्वन्द्वात्मक सापेक्षता या कल्पनात्मकता है। इसीलिये बौद्धों ने प्रतीत्य-समुत्पाद को एक ओर कार्य-कारण-भाव, दूसरी ओर शून्यता कहा है।

बुद्धि के स्तर पर ज्ञान विषयों में सत्तापरिग्रह करता लगता है, और विषयों की सत्ता ज्ञानमयी बन जाती है। बुद्धि की स्वप्रकाशता में, जैसे विषय और विषयी एक ही ज्ञान के अन्तर्गत भेद प्रतीत होने लगते हैं, अथवा यों कहना चाहिए कि जैसे ज्ञान के रूप में उनका अभेद प्रतीत होने लगता है, सत्य के दोनों पक्ष—ज्ञानगत धर्म और विषयगत धर्म—भी सिमट कर अविभक्त दीखने लगते हैं। बुद्धिज्ञान स्वयं अपना प्रमाण है क्योंकि प्रामाणिकता के नियम अन्ततः बुद्धि के शासन के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। ऐसे ही बुद्धिगर्भस्थ विषय या बुद्धिस्थ भाव ही वास्तविकता के मूल में स्थित नियामक आदर्श हैं। सत्य की खोज आदर्श बुद्धिज्ञान में चरितार्थ होती प्रतीत होती है।

किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है बुद्धि का विषयात्मक आत्म-विमर्श उसे व्यवहार-जगत् की कारण-भूमि में ले जाता हुआ भी अनन्त ज्ञान के साक्षात्कार की ओर नहीं ले जाता। वह उसे अनन्त विषयों की अनन्त परिक्रमा में खींचता रहता है। व्यवहाराभिमुख बुद्धि इनमें सत्य किन्तु स्वरुपाभिमुख बुद्धि इनमें शून्यता का दर्शन करती है। जैसे व्यवहार के स्तर पर अनित्यता का बोध, सत्य की खोज को तात्विक नित्यता की ओर उद्दिष्ट करता है, सात्विक ज्ञान के स्तर पर शून्यता का बोध सत्य की खोज को तात्विक नित्यता की ओर उद्दिष्ट करता है, सात्विक ज्ञान के स्तर पर

शून्यता का बोध सत्य की खोज को अहंकार-प्रतिष्ठित विषय-कल्पना से परे प्रेरित करता है। सात्विक ज्ञान में परमार्थ का आदर्श कल्पित होता है किन्तु उसका सर्वोच्च स्तर इस आदर्श को अपने अन्दर अप्राप्य विज्ञापित करता है। परमार्थ में अनन्त सत्ता, ज्ञान और मूल्य अखंड रूप से मिल जाने चाहिए। उसमें सत्ता की स्वतंत्रता, ज्ञान की स्वप्रकाशता, और मूल्य की स्वतः एषणीयता निरवच्छिन्न रूप से एक हो जाने चाहिए। यद्यपि सत्य की इस प्रकार की धारणा से विज्ञान अपने खंड-सत्ताभिनिवेश के कारण अपरिचित है और बुद्धिवादी दर्शन उसे केवल एक बुद्धि द्वारा अवधार्य आदर्शमात्र मानता है, सभी अध्यात्म-निष्ठ धर्म उसे मनुष्य के प्राप्य लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं। इसीलिये मनुष्य की समस्त मूल्य-साधनाओं में सबसे दूरगामी और साहसिक साधना आध्यात्मिक सत्य की साधना ही होती है।

आध्यात्मिक सत्य और पारमार्थिक साधना :

अन्य सभी मूल्यों की साधना विषयों के प्रति अभिनिवेश से प्रारम्भ होती है, यद्यपि मूल्य-सन्दर्भ में ये विषय स्पष्ट ही आत्मसम्बद्ध होते हैं। धर्म की साधना ही अकेली साधना है जो मनुष्य के एकान्त आत्मबोध से, उसके अपने 'अस्तित्व-बोध' से प्रारम्भ होती है। इसीलिये उसको अध्यात्म-साधना कहना ठीक ही है। इसी तरह यही एक साधना है जिसमें साध्य अपनी निरतिशय परमता के द्वारा ही परिभाषित होता है। इस साधना में सीमित सभी कुछ त्याज्य हो जाता है। इसीलिये यह परमार्थ-साधना है, चरम-मूल्य की साधना है। जीवनमात्र के मूल्य-साधना होने के कारण, यह भी स्पष्ट है कि सभी अन्य साधनाएं इस एक महासाधना के अंगों के रूप में ही समझी जानी चाहिए।

धर्म के तत्त्व :

मानव-चेतना सामान्यतया विषयानुधावन में लगी रहती है किन्तु कुछ स्थितियों के सम्मुख होने पर जिनमें मृत्यु प्रधान है, उसे अपने अस्तित्व का बोध बरबस हो उठता है। मृत्यु-भय चेतनात्मक अस्तित्व की विलक्षणता व्यक्त करता है और उसमें निहित अमृतत्व की अभीप्सा को उकेरता है। मृत्यु भय उत्पन्न करती है, स्वीकार या 'शान्ति' नहीं। मृत्यु को एक प्राकृतिक अनिवार्यता के रूप में स्वीकारते हुए भी मनुष्य की सहज चेतना अपने अस्तित्व के अमृतत्व के दावे को नहीं छोड़ती। अमरता की यह आशा-आकांक्षा आदिकाल से ही मनुष्य में पाई जाती है।

मृत्यु के प्रतियोगी जीवन का बोध जन्म और सृजन के सन्मुख मनुष्य

के मन में उत्पन्न एक रहस्य के बोध से भी जुड़ा हुआ है। एक ओर प्रकृति की अमर शक्तियां हैं, सूर्य और चन्द्र, आकाश और पृथ्वी, जो सदा ही वैसी बनी रहती हैं। दूसरी ओर प्राणियों का विश्व है, वनस्पति, पशु और मनुष्यों का, जहां अस्तित्व का जन्म होता है और उनकी ताक में मृत्यु का दुर्निवार अहेरी फिरता है। अस्तित्व का मूल एक रहस्यमय अप्रत्यक्ष सृजन-शक्ति में प्रतीत होता है। यही शक्ति मृत्यु के बावजूद प्राणियों की जातियों को, उनके समुदायों को बनाये रखती है। स्वयं चेतना या प्राण एक प्रकार की अन्तर्निहित अधिष्ठात्री शक्ति है जो अपनी चेष्टा से पहिचानी जाती है, स्वयं अप्रत्यक्ष रहती है। "घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपम्"। चेतना, प्राण और सृजन को पृथक् पृथक् नहीं रखा जा सकता। सृजन के द्वारा सम्बद्ध प्राणियों का व्यक्तिगत और जातीय अस्तित्व एक ही अधिष्टात्री शक्ति का मृत्युजयी व्यापार मानना चाहिए। इस प्रकार की शक्ति अपनी अप्रत्यक्षता, महिमा और अमृतत्व के कारण एक विभूतिमत्ता या अलौकिकता का आभास देती है। अलौकिकता की प्रतीति किसी वस्तु के बाहरी प्रत्यक्ष से नहीं होती बल्कि चेतना की एक विशेष संवेदनशील अवस्था में अप्रत्यक्ष और अतिमानवीय शक्ति के बोध से होती है। अलौकिकता का परिचय मन की विलक्षण स्थिति में होता है।

आन्तरिक सत्ता के रूप में आत्मा, प्रत्यक्ष जीवन और विश्व के पीछे अप्रत्यक्ष, सृजनशील शक्ति के रूप में देवता, और मृत्यु के परे प्रेत जीवन एवं अमृतत्व के प्रत्यय आदिकाल से ही धर्म के मूल प्रत्यय रहे हैं। आत्मा, देवता और परलोक की धारणाओं का विकास और वैविध्य देखा जाता है किन्तु उनका स्थिर मूल एक अलौकिक अनुभूति है जिसकी व्याख्या विभिन्न मनुष्यों और समुदायों ने अपने बौद्धिक विकास के अनुरूप की है। इस अनुभूति को भ्रम या कल्पना कहना उससे अवगत न होने पर ही सम्भव है। यह न दैहिक प्रत्यक्ष है, न मानसिक अनुमान। यह आत्मा के सहज ज्ञान का मन में तात्कालिक प्रतिबिम्ब है जो कि एक अनायास विश्वास के रूप में व्यक्त होता है। इनके लिये मन की एक निर्वितर्क ग्रहणशील और अन्तर्मुख अवस्था सहायक होती है; मानस स्तर पर व्यक्त होने के कारण इसमें आत्मिक सहजज्ञान मन के संस्कारों से प्रभावित होकर एक प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प का रूप धारण करता है। मन की वह शक्ति जिससे वह आत्मिक ज्ञान का ग्रहण करता है श्रद्धा कही जाती है।

आदि युगीन धर्म :

देवोपासना के द्वारा प्रकृति-चक्र को प्रवृत्त रखना और आत्मा के

लिये परलोक साधना, यही सब प्राचीन धर्मों का मर्म है। यह धर्म नितान्त व्यक्तिपरक नहीं है। इसमें समुदाय एक वृहत्तर प्राण और उसकी अमरता के रूप मे स्वीकृत है। इस उपासना की विधि है मूल सृष्टि की प्रक्रिया का अनुकरण और अनुचिन्तन। इस अनुकरण से चेतना देवशक्ति के आसन्न हो जाती है और इस उपासना की चरमावस्था में देवशक्ति की परोक्षता हट जाती है। किन्तु इस प्रकार का देवता-प्रत्यक्ष इस धर्म का सामान्य लक्ष्य नहीं था। उसका सामान्य लक्ष्य था ऐहिक और पारत्रिक अभ्युदय और सुख। इस प्रकार के धर्म का गीता के तृतीय अध्याय में विशद वर्णन मिलता है—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्य-ध्वमेष वो ऽस्त्विष्टकामुधुक्" ॥ इत्यादि।

आध्यात्मिक अनुभूति, श्रद्धा और उपासना या ऋत-चक्र जिससे मनुष्य व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में देवताओं की सहायता अर्जित करता है एवं अपना इहलोक और परलोक बनाता है, धर्म की मूल परम्परा के तत्व हैं। इसके विपरीत आधुनिक पंडित धर्म के मूल में अज्ञान, 'आत्मा-रोपी भ्रम' (ऐनिमिज्म), पितृपूजा, गोत्र-प्रवर्त्तक (टोटम), अलौकिक शक्ति (माना), वर्जना (टैबू), आदि की कल्पना करते हैं।[1] वस्तुतः पितृपूजा आदि धर्म के मूल तत्त्व न होकर उसकी विशिष्ट अभिव्यक्तियां है और आत्मावभास 'आरोप' न होकर विश्वजनीन सहज प्रतीति है। आत्मा की प्रतीति स्वतःसिद्ध ओर समस्त प्रमाणों का मूल आधार है किन्तु यह सत्य है कि आत्मा का अवधारणात्मक या चित्रणात्मक ज्ञान इस प्रतीति की मानसिक व्याख्या से जुड़ा रहने के कारण कल्पना-व्यतीत नहीं है। पुराण (मिथ) और विधान (रिचुअल) मूलतः सृष्टि के प्रतीकात्मक आख्यान और अभिनय होते हैं। यदि प्रस्तरयुगीन अहेरियों के कबीलों में धार्मिक जीवन एक प्रकार से रूपान्वित होता है और ताम्रयुगीन किसानों के ग्रामों में दूसरे प्रकार से, तो इसमें कोई विस्मयकारी बात नहीं है। न इसका यह अर्थ है कि प्रत्येक युग अपने अज्ञान के अंधेरे कोने में अपने ज्ञान के अनुसार प्रेतों और देवताओं की कल्पना करता है और अपने भयों के उपचार के लिये उनकी तुष्टि के साधन जुटाता है। धर्म अवश्य ही भयों का प्रतीकार करता है, रहस्यों को सांकेतिक भाषा में व्यक्त करता है एवं तत्कालीन सामाजिक ज्ञान और अनुभव के परिधान ओढ़े रहता है किन्तु उसका युग-सामंजस्य

---

१ टाइलर, प्रिमिटिव कल्चर, दोजि० १८७४, मेरेट, दि थ्रेशोल्ड ऑव रिलिजन (१९१४), इनके विरुद्ध तु० श्मित, दि ओरिजिन एन्ड ग्रोथ ऑव रिलिजन (१९३१)।

उसके सनातन मूल को युगसृष्टि नहीं बना देता। जैसे प्रकृतिबोध का एक सामाजिक इतिहास है, वैसे ही अध्यात्मबोध का। दोनों ही एक ओर तात्त्विक अनुभूति पर आश्रित है, दूसरी ओर उनकी बौद्धिक व्याख्या और संस्थात्मक रचना सामाजिक अवस्था पर निर्भर है। प्रकृतिबोध चेतना की बहिर्मुखता पर आश्रित है, अध्यात्मबोध उसकी अन्तर्मुखता पर।

प्राचीनतर धर्म—अश्मयुगीन और ताम्र-कांस्य युगीन—प्रवृत्ति-मार्गी धर्म थे। उनकी यह मूलभूत धारणा थी कि प्राकृतिक और मानवीय व्यापार देव-शक्तियों से अधिष्ठित हैं और इन शक्तियों की उपासना से मनुष्य को इस जीवन में और परलोक में सफलता प्राप्त हो सकती है। इन धर्मों में सृष्टि की शक्तियों का–प्राजापत्य शक्तियों–का स्थान मुख्य था। इन धर्मों को सामुदायिक या जातीय धर्म भी कहा जा सकता है। प्राचीन नगर-सभ्यताओं में इनका पौरोहित्य और राजत्व के निकट सम्बन्ध के कारण विशेष आडम्बरपूर्ण विकास देखा जा सकता है। चूंकि राजत्व का सम्बन्ध युद्ध के साथ अनिवार्य रूप से रहता है, अनेक स्थानों में इस प्रकार के धर्म में युद्ध के बन्दियों के वध को बलिदान के रूप में स्वीकार किया प्रतीत होता है। ऐजटक धर्म में सूर्यदेव के लिये जीवन-स्पन्दित मानव-हृदय की बलि अपनी रोमहर्षक क्रूरता के लिये अद्वितीय है। प्राण-प्रसविता के लिये प्राणार्घ्य की यह एक वीभत्स कल्पना थी जो ऐजटक समाज की युद्ध और ऐश्वर्य से निश्चेतन भाव-स्थिति का निरूपण करती है। बलिदान अपनी उपभोग्य वस्तु का देवतार्थक त्याग होता है। त्यागपूर्वक भोग प्रवृत्ति-धर्म का सार है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'। 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व-किल्बिशैः'। पशुओं के आखेट पर निर्भर समाज में पशुबलि उतनी ही स्वाभाविक है जितनी फल-मूल अथवा कृषि पर निर्भर समाज के लिये स्वोपभोज्य अन्न की बलि। 'यदन्नः पुरुषो लोके तदन्ना तस्य देवता'। नर-भक्षियों में नरबलि समझ आती है अन्यथा उसे दास्य अथवा वध के योग्य बन्दियों की ही राजनीतिक-धार्मिक बलि माननी चाहिए।

ऐसे ही काम-भोग के सम्बन्ध में विकृतियां प्राचीन धर्मों में यत्र-तत्र देखी जाती हैं। किसी विषय को छोड़े बिना उसमें भोग-बुद्धि को छोड़ना सदा ही कठिन होता है। भोग को छोड़े बिना भोग-बुद्धि का त्याग असम्भव प्राय है। और काम-भोग में इस प्रकार का त्याग सामान्य मनुष्य के लिये सर्वथा असम्भव है क्योंकि काम-भोग जागरुक कामोत्तेजना में ही सम्भव है। इसीलिये याज्ञिक, औपासनिक, या देवालयीय काम-भोग की प्रथाएं समाज-स्वीकृत व्यभिचार का अंग मानी जानी चाहिए, न कि आध्यात्मिकता की विधाएं। मिश्र के पिरामिड और मकबरों में इस जीवन के समान ही

परलोक का भौतिक प्रावधान अथवा नाना धर्मों में वशाल मन्दिरों आदि का निर्माण भी इसी प्रकार की आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिक-सामाजिक चेष्टाएं समझी जानी चाहिए।

यह नहीं है कि प्राचीनतर मानव अपने आध्यात्मिक अज्ञान अधिक होने के कारण प्राण-वध, काम-भोग अथवा भूतोपासना या 'असुर-धर्म में'[1] भटक जाता था। धार्मिक ज्ञान-अज्ञान का औसत अनुपात तो मनुष्य में आज भी शायद वही है जो पहले था। किन्तु मनुष्य सदा ही अपनी औसत प्रवृत्तियों के लिये अपने ज्ञान के उपभोग करने की चेष्टा करता आया है। प्राचीनतर युग में धर्म का बोलबाला था, फलतः सामाजिक दोषों के साथ सर्वाधिक सम्बन्ध उसी का पाया जाना स्वाभाविक है। आध्यात्मिकता का बीज सब मनुष्यों में रहता है किन्तु उसकी सच्ची अनुभूति लोगों को कभी-कभी प्राप्त होती है और वह भी प्रायः अधूरी। अनुभूति और ज्ञान का यह अभाव कल्पना से पूरा किया जाना स्वाभाविक है। या कल्पना सामाजिक वासनाओं का अनुसरण करती है और समाज के व्यवस्थापकों एवं शासकों के लिये सामाजिक स्थितियों के दबाव में ज्ञान का ढकोसला एक साधन बन जाता है। नैपोलियन ने कहा था कि 'धर्म समाज-विग्रह के लिये एक प्रतिविष (वैकसीन) के समान होता है।' पुरोहित-शासकों अथवा शासक-तुल्य तुरोहितों के द्वारा संचालित धर्म को मुख्यतः आध्यात्मिकता न मान कर निष्ठा (आइडियोलौजी) मूलक व्यवस्था ही मानना चाहिए। आध्यात्मिकता की मूल प्रथाओं का उद्गम वन और ग्राम के सरल लोक-जीवन में हुआ था। 'उच्च आखेटकों' के बड़े कबीलों में और फिर प्राचीन नगरों और साम्राज्यों में प्राचीन आध्यात्मिकता की क्षीण धारा राजसी ठाठबाट में लुप्त हो गई और उसके स्थान पर अलौकिक रूप से वासना-पूर्ति की वृत्ति प्रतिष्ठित हो गई। अपने व्यवस्थात्मक रूप में धर्म सत्ता और भुलावे का साधन, जादू और वंचना बन गया। प्रवृत्तिमार्गी धर्म का यह व्यसन भौतिक साधनों के विकास से उद्दीपित वासना के द्वारा उसकी त्यागपूर्वकता के क्षीण होने के कारण एवं उसकी भोगवृत्ति के विपुष्ट होने के कारण हुआ। न भोग और ऐश्वर्य में प्रसक्त व्यक्ति, न समाज, आध्यात्मिकता के सूक्ष्म पथ पर बिना डिगे, पग धर सकता है। 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया। दुर्गं पथस्तत्कवयोवदन्ति।'

देवोपासना

आत्मसत्ता अथवा अस्तित्व के बोध में जीवन और मृत्यु दोनों का

---

१ तु० छान्योग्य, ८. ८; "असुराणां ह्येषोपनिषत्...."

बोध जुड़ा रहता है। अस्तित्व को प्राण के रूप में समझने से जीवन और मरण प्राण-छन्द के प्रसारण और संकोचन, उन्मीलन और निमीलन के चरण बन जाते हैं तथा मनुष्य और प्रकृति, व्यक्ति और समुदाय, इहलोक और परलोक एक सामान्य जन्म और मृत्यु के परिणामि-नित्य प्रवाह के रूप में प्रतीत होते हैं, एक प्रवाह जिसमें केन्द्र, किनारे और मार्ग निरन्तर बनते बिगड़ते रहते हैं। देव-तत्त्व प्राण-तत्त्व या छन्दोमय ज्योति ही है और सूर्य उसका प्रकृष्ट और ज्वलन्त प्रतीक। प्राण के अन्तर्गत काल, द्वन्द्व, और चक्र सूर्य में सहज रूप में संकेतित हो जाते हैं। इस प्राण-केन्द्रित अस्तित्व-बोध में जीवन की आशा मृत्यु के भय से प्रबलतर रहती हैं। इसमें मनुष्य को प्राकृतिक प्रवृत्ति आत्मसत्ता का सहज प्रसार लगती है और परवर्ती तात्कालिक निवृत्ति जीवन के छन्द का एक अनिवार्य छायाबिन्दु जिसे बार बार पार करना आलोक में बने रहने की आवश्यक शर्त है। छन्द की यह खूबी होती है कि उसमें स्थिति का क्षण गति को रूप देने वाली यति बन जाता है। मनुष्य की ऐन्द्रिय और मानसिक चेष्टाएं प्राण के दिव्य छन्द से तालमेल में नहीं रहतीं और इसीलिये उसे दुःख, रोग और मृत्यु का शिकार बनना पड़ता है। भाव के स्तर पर मनुष्य अपने मर्त्य जीवन और देव-तत्त्व के अमर जीवन की अपूरणीय खाई देखता है। देव-महिमा के बोध से उसके मन में स्तुति, प्रार्थना एवं प्रणति की वृत्तियां जागती हैं। देवता के इस मानसिक सान्निध्य से उसे यह आशा होती है कि उसका जीवन सुखी होगा और मरने के बाद उसे सामान्य प्रेत-जीवन के स्थान पर देवलोक की प्राप्ति होगी। साथ ही इस धर्मका एक निगूढ़ रहस्य-साधन भी है और वह है प्राणोपासना अथवा आध्यात्मिक देवोपासना जिससे मनुष्य एक वास्तविक देव-सान्निध्य की प्राप्ति का अधिकारी होता है। इसी कारण प्राचीनतर धर्मों में पुरोहितों एवं इस प्रकार के विशिष्ट साधकों के लिये विशेष देव-सान्निध्य की प्रसिद्धि प्रायिक थी। मिश्र के शासक इसी प्रकार से अमृतत्व का दावा करते थे।

ईश्वरोपासना

भावना और परम्परित विश्वास अथवा श्रद्धा पर अध्यारोपित देवोपम एकराट् की धारणा अनायास कल्पना के द्वारा राजोपम एकदेव की धारणा में विकसित हुई है। देवशक्ति में एकत्व एवं मनुष्य-तुल्यत्व का आरोप मानवीय भाव और कल्पना की उतनी ही अपेक्षा रखता हैं जितनी उसमें बहुत्व एवं प्रकृति, पशु अथवा मनुष्य के विविध सादृश्य का आरोप रखता है। यास्क ने कहा है कि देवता के माहाभाग्य से उसकी एक ही आत्मा बहुधा स्तुत होती है और भाव-भेद से उसमें विभिन्न रूपों की

कल्पना होती है। वह चेतन है अथवा अचेतन इत्यादि प्रश्नों का निर्णय भी इसीलिये नहीं किया जा सकता। तन्त्रशास्त्र में देवता के तीन रूपों की चर्चा मिलती है—स्थूल, सूक्ष्म और पर। स्थूलरूप विविध विग्रह की कल्पना से होता है। सूक्ष्मरूप मन्त्रात्मक और पररूप चिदात्मक होता है। देवतातत्व के अनुभूति-सिद्ध होने पर भी उसमें नाम, रूप, भाव आदि कल्पनासिद्ध ही होते हैं। किन्तु यह देवता की विशेषता है कि उपासक की कल्पना के अनुसार ही उसकी प्रतीति होती है।[1] जैसे लौकिक जीवन में कर्तव्य, सौन्दर्य अथवा प्रेम की अनुभूति वास्तविक मूल्यानुभूति होते हुए भी उसमें संस्कार-सापेक्ष भेद दृष्टिगोचर होता है, ऐसे ही आध्यात्मिक अनुभूति में भी होता है। देवतातत्व व्यक्त जगत् की परिच्छिन्न वस्तु नहीं है, वह जगत् के व्यंजक महत्तत्व से अभिन्न है, एक निरवच्छिन्न प्रकाश है जिसमें वासना-सापेक्षतया यथेष्ट रूप देखा जा सकता है, जिसके स्तर पर रूप के भाव और सृजन में कोई अन्तर नहीं है। फलतः विभिन्न देववादों में अन्तर तात्विक न होकर मानवीय भावनाओं और कल्पनाओं का ही मानना चाहिए। इसीलिये एक अद्वितीय विश्वस्रष्टा, विश्व नियन्ता शक्ति के रूप में एकदेववाद या ईश्वरवाद का विकास मनुष्य की नैतिक, सामाजिक एवं दार्शनिक कल्पनाओं का विकास सूचित करता है, न कि आध्यात्मिक अन्ध-श्रद्धा के स्थान पर ईश्वर-प्रोक्त या ईश्वर-प्रेषित ज्ञान का आविष्कार। एक दृष्टि से सभी आध्यात्मिक ज्ञान देवेषित है, दूसरी दृष्टि से सभी आध्यात्मिक ज्ञान मानवीय कल्पनाओं पर आश्रित है। आध्यात्मिक ज्ञान किसी बाह्य वस्तु का यथास्थित ज्ञान नहीं है, वह चेतनसत्ता का अपने को पहिचानने का प्रयास है। जिस भी अवच्छिन्न भाव से वह अपने को पहिचानती है, उसकी सच्चाई उसको आत्मानुभूति की गहराई और उसकी श्रद्धा की दृढ़ता पर निर्भर करती है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' आत्मानुभूति का ही रूपान्तर देवानुभूति होती है। और इसीलिये देव-कल्पनाओं के इतिहास में मानवीय भावों, सम्बन्धों और आदर्शों का इतिहास देखा जा सकता है। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' नाना नैतिक एवं सामाजिक भावनाओं से प्रतिसंयुक्त होकर आध्यात्मिक अनुभूति विविध बौद्धिक धारणाओं से व्याख्यात और संस्थाओं में व्यवस्थित होती है। इस प्रकार नाना देववाद और ईश्वरवाद जटिल सामाजिक धार्मिक व्यवस्थाओं और दृष्टियों में मूर्त श्रद्धा का रूप धारण करती हैं। यहूदी, पारसी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों का केन्द्रबिन्दु ईश्वर है, जो कि समस्त जगत् का स्रष्टा और स्वामी

---

१ तु० गीता—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

माना जाता है। वह मानवीय दोषों से मुक्त पर निरतिशय मानवीय गुणों से युक्त है। उसे आदर्श, निराकार, अद्वितीय पुरुष कहा जा सकता है। लौकिक शासक के समान वह नीति और व्यवस्था का सूत्रधार है। उसकी सेवा नैतिक कर्म और भक्ति के द्वारा होती है और मनुष्य को मरने के पश्चात् स्वर्ग पहुंचाती है। विशेष भाग्यशाली मनुष्य इस जीवन में भी ईश्वर-दर्शन का आभास पाते हैं। यह स्मरणीय है कि स्वर्ग का अर्थ इन धर्मों में तत्वतः ईश्वर-सांनिध्य होता है।

इन धर्मों में एक विधिवादी पक्ष है, एक रहस्यवादी पक्ष है। विधिवादियों के लिये धर्म की प्रामाणिकता उसके ईश्वर-सन्देश होने के कारण होती हैं। यह ईश्वर-सन्देश एक विशिष्ट पुरुष को एक विशिष्ट ऐतिहासिक स्थति में प्राप्त हुआ था और एकमात्र सत्य है। इस प्रकार के मत का स्वीकार एकमात्र श्रद्धा पर अथवा शब्द-प्रमाण पर निर्भर करता हैं। उससे तर्क करना सम्भव नहीं है। इनमें से प्रत्येक मत सिर्फ अपने को ही सत्य मानता है और अन्य मतावलम्बियों को सिद्धान्ततः नरक का अधिकारी समझता है। यह स्मरणीय है कि ये धर्म, कुछ ईसाई सम्प्रदायों को छोड़कर सब प्रवृत्तिमार्गी है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

बौद्ध और जैन धर्म भी विशिष्ट ऐतिहासिक पुरुषों के द्वारा प्रवर्तित हुए हैं किन्तु वे अपना मूल ईश्वर-सन्देश में न ढूंढ कर महापुरुष के अनुभूत सत्य में ढूंढ़ते हैं। उनके आगमों में भी, विशेषतः बौद्ध आगमों, में शब्द पर आग्रह नहीं है, न सामाजिक व्यवस्था पर। दोनों ही निरीश्वरवादी हैं, बौद्ध अनात्मवादी भी। दोनों ही निवृत्तिमार्गी हैं और दोनों में प्रत्यात्मगम्य ज्ञान पर जोर है। यदि उपर्युक्त धर्मों में ईश्वर-सेवा का प्राधान्य है, जो कि प्रबुद्ध होने पर समाज-सेवा बन जाती है, तो इन धर्मों में अहिंसा और वैराग्य का प्राधान्य है।

सब धर्मों में समदृष्टि रखने वाले अशोक ने कहा था कि सभी धर्म संयम और भाव-शुद्धि चाहते हूं। कर्म, ज्ञान और भोग को विभिन्न रूप से आंकने पर भी यह सही है कि सभी धर्मों में एक सार्वभौम शील पर आग्रह है। इस शील की अशोक के द्वारा की गई परिभाषा से अधिक अच्छी परिभाषा नहीं की जा सकती। संयम (आस्केसिस) और शुद्धि (कार्थासिस) सभी आध्यात्मिक साधना–प्रवृत्तिमार्गी अथवा निवृत्तिमार्गी–के स्थायी आधार हैं। यह शील-साधना धर्म के आध्यात्मिक अथवा 'रहस्यवादी' पक्ष का पहला चरण कही जा सकती है। आध्यात्मिक साधना के इस चरण का समाज-व्यवस्था से अनिवार्य सम्बन्ध रहता है क्योंकि 'शील' की विषय-वस्तु

प्रत्येक व्यवस्था में एक सी नहीं होती। आध्यात्मिक शील एक आन्तरिक आदर्श है जिसका किसी विशेष व्यवस्था से लगाव या विरोध नहीं है। किन्तु जिसको चरितार्थ करने में समाज-स्वीकृत मर्यादाओं की ओर तटस्थ नहीं रहा जा सकता। चीन में बौद्ध धर्म के विरोध का कारण वहां की प्रचलित कन्फ्यूशियन व्यवस्था का कौटुम्बिक धर्म पर जोर था। रिनेसांस के परवर्ती योरोप में नवीन सामाजिक परिवर्तनों के आग्रह को स्वीकार करने से प्रोटैस्टेन्ट सम्प्रदाय पूर्णतया प्रवृत्तिमार्गी बन गए। भारत में बौद्ध धर्म के स्थिर न रहने का एक कारण उसकी वैदिक समाज-व्यवस्था की ओर उपेक्षा थी। धर्म की आध्यात्मिकता और समाज-व्यवस्था के बीच इस प्रकार की तनातनी वहाँ तक अनिवार्य है जहां तक समाज-व्यवस्था अभेदवादिनी (मौनोलिथिक) है और धर्म अपनी आध्यात्मिकता के विशुद्ध रूप को न पहिचान कर उसे प्रचलित नैतिकता में ढूंढता है।

आध्यात्मिक साधना में शील-विशुद्धि का प्रयोजन मानवीय चेतना को अपरोक्ष आत्मिक अनुभूति के योग्य बनाना होता है। व्यवहार की छायारूप वासनाओं का आग्रह मन के ऊपर एक आवरण के रूप में रहता है जो उसे जगत् का दर्शन भी एक विक्षेप के माध्यम से ही करने देता है। भोग-संस्कारों से पुष्ट और विचित्रित तृष्णा का ही नामान्तर वासना है। तृष्णा का मूल आध्यात्मिक अज्ञान है जिससे 'मैं' और 'मेरा' का बोध उन्मग्न होता है। 'मैं अरु मोर तोर तें माया'। सीमित अहंबोध से ही तृष्णा उत्पन्न होती है। शील के अभ्यास से स्थूल वासना का प्रभाव हट जाता है और मन निर्द्वन्द्व, निरुद्वेग और स्थिरवाही होकर अन्तर्मुख बनने के योग्य होता है। इस स्थिति में ही ध्यान सम्भव होता है और ध्यान से ही वासना का सूक्ष्म प्रभाव हटता है। यही मन की शुद्धता है जिसमें आध्यात्मिक सत्य स्वयं अपरोक्ष रूप से प्रतिभात होता है।[१] "जिनके हृदय शुद्ध हैं उन्हें ईश्वर का दर्शन उपलब्ध. होगा।"

ऊपर कहा गया था कि आध्यात्मिक अनुभूति मूलतः एक अस्तित्व बोध है जिसमें आत्मसत्ता और मृत्यु का विरोध स्पष्ट होता है। निवृत्ति-मार्गी धर्मों में मृत्यु-बोध अत्यन्त स्फुट होता है और सत्य की मृत्यु-प्रतियोगितया प्रतीति होती है। एक ओर अनित्यता अनात्मसत्ता की लक्षण है, दूसरी ओर नित्यता आत्मसत्ता की। अनित्यता का अनर्थरूप में प्रतिभास ही दुःख-लक्षण का बोध है। यह दुःख-बोध केवल सुख का प्रतियोगी नहीं है। सुख-दुख-संवेदनों और परिणामों की द्वन्द्वात्मकता भी दुःख-सत्य में

---

१ द्र० मेरा 'पतंजलिज़ इन्टरप्रिटेशन ऑव योग'' (माउन्टेन पाथ १९६७, २१३ प्र०

अन्तर्भुक्त है। चूंकि परिणामात्मकता और अस्थिरतामात्र तक का बोध दुःख-कोटि में निक्षिप्त है, प्रकृति की प्रवाह-नित्यता अनात्म-पक्ष में पड़ जाती है। लोक-परलोक, जन्म-जन्मान्तर का जीवन-प्रवाह एक अनात्म-पतित दुःख-धारा बन जाती है। प्रचीन प्रवृत्तिमार्ग में प्रकृति के मूल में प्राण का दिव्य छन्द अनुभूत हुआ था। निवृत्तिमार्ग में प्राकृत और प्राणिक जीवन की ओर भी विरक्ति का अनुभव हुआ। नित्य आत्मसत्ता का बोध मन और वाणी के अतीत होने से उसे सत्-असत्, नित्य-अनित्य, आत्म-अनात्मा आदि शब्द द्वन्द्वों में विकल्पित करना असम्भव है। उस परमार्थ को पहिचानने और बताने का साधन विषय-निषेध के अतिरिक्त है ही नहीं। इसीलिए जहां प्रवृत्तिमार्गी परमार्थ विश्वात्मक है, निवृत्तिमार्गी परमार्थ विश्वातीत है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति अध्यात्म-साधना की दो दिशाएं हैं। साक्ष्य की दृष्टि से उनमें विरोध होते हुए भी बहुत से सिद्धों और सिद्धान्तकारों ने उनके भेद को अपारमार्थिक कहा है। व्यवहार में सत्य का लक्षण अर्थ-क्रिया-कारिता मानने पर प्रवृत्तिमार्ग में परम सत्य का लक्षण मूलकारणता बनता है। यह लक्षण प्रकृति में इसलिये नहीं घटता क्योंकि प्रकृति अपने प्रकाश के लिये अपने से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा रखती है। अतएव बादरायण ने 'जन्माद्यस्य यतः' से ब्रह्म को लक्षित कर 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' से उसे प्रकृति से व्यावृत्त कर दिया है। पौराणिक और वैष्णवादि धर्मों में परमतत्व सगुण ब्रह्म या ईश्वर के रूप में इसी तरह विचिन्तित है। शैव ईश्वर को पंचकृत्यकारिता से परिभाषित करते हैं। ईश्वर सृष्टि, स्थिति, संहार के अतिरिक्त तिरोधान और अनुग्रह भी करते हैं। इनमें पहले चार कार्यों में माया और अविद्या शक्तियों का व्यापार होता है। अनुग्रह कृत्य ही ईश्वर का मुख्य कृत्य है और जीव को मोक्ष देता है।

निवृत्तिमार्ग की दृष्टि से 'यत्सत्तन्नित्यम्'। दृश्यत्व और कारित्र दोनों ही मिथ्यात्य के लक्षण हैं। सत्य अचल, अरूप, निराभास है। शान्त (= दुःखोपशम), शिव (=निरूपद्रव), अनन्त, और निरपेक्ष, उसका मूल्य उसे समझने से ही स्पष्ट हो सकता है। 'भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति'। इस निर्गुण, निष्प्रपंच सत्य, और सगुण ब्रह्म में क्या सम्बन्ध है? दार्शनिकों के मतभेद के बावजूद सिद्धों और सन्तों ने इनमें पारमार्थिक अभेद ही सूचित किया है।

ऊपर के निरूपण में धर्म के मुख्य प्रभेद इस प्रकार बनते हैं—प्रवृत्ति-वादी देववाद, प्रवृत्तिवादी ईश्वरवाद, निवृत्तिवादी निर्गुणवाद, समन्वय-

वाद। पहले की साधना कर्मप्रधान, दूसरे की भक्तिप्रधान, तीसरे की ज्ञान-प्रधान और चौथे की समन्वयात्मक होती है। पुरातात्विक धर्म पहली कोटि में, सामी धर्म दूसरी कोटि में, बौद्ध और जैन धर्म तीसरी कोटि में और हिन्दू धर्म के सम्प्रदाय चारों कोटियों में रखे जा सकते हैं।

आध्यात्मिक अनुभूति और सत्य

आध्यात्मिक अनुभूति न भावना है, न कर्म, न कल्पना, न संवेदनात्मक ज्ञान, न विकल्पात्मक ज्ञान। ये सभी मानसिक वृत्तियाँ आध्यात्मिक साधना के अंग बनती हैं किन्तु वे आध्यात्मिक अनुभूति के स्वरूप के अन्तरंग नहीं होतीं। आध्यात्मिक अनुभूति परमार्थतः अतिमानसिक आत्मबोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मानसिक अनुभूति आत्मबोध की अपरोक्षता पर विषय-बोध के अध्यास के द्वारा सिद्ध होती है। मृत्यु-बोध से अथवा विषयगत अनित्यादि लक्षणों के बोध से उत्पन्न संवेग मानसिक अनुभूति की परिधि के अन्दर ही आत्मा और अनात्मा के भेद को परिस्फुट कर अमृतत्व की अभीप्सा अथवा स्वरूप-जिज्ञासा को जागरूक करता है। यह संवेग एवं दृष्टि प्राप्ति आध्यात्मिक साधना का वास्तविक आरम्भ-बिन्दु है। इसे परम्परा-प्राप्त संस्कार के रूप में कर्म के स्वीकार से अलग समझना चाहिए। अपने को हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि कहने वाले प्रायः नाम मात्र के लिये अथवा एक सामाजिक तथ्य के रूप में ही धर्म के अनुयायी होते हैं। अपने परम्परागत संस्कारों से उन्हें कोई अनुभूति या मानसिक परिवर्तन का लाभ होता है, ऐसा सामान्यतः पता नहीं चलता। मरने के अनन्तर उन्हें क्या लाभ होता है, यह उनके धर्म-ग्रन्थों में लिखा मिलता है। उसकी वास्तविकता को जानने का कोई निश्चित साधन नहीं है। एक सामाजिक परम्परा के पालन के रूप में धर्म को बहिरंग ही माना जा सकता है। उसका आधार सामाजिक संस्कार, भय, अन्धविश्वास, स्वार्थ-लिप्सा आदि होते हैं। इस प्रकार का धर्म अब तेजी से लुप्त हो रहा है। दूसरी ओर आध्यात्मिक साधना एक जीवन्त अनुभूति और अभीप्सा है जो साधक को निरन्तर अपने आपको बदलने और अपने अहंकार एवं वासना की परिधि के बाहर निकलने पर बाध्य करती है। इस अनुभूत धर्म की मानसिक व्याख्या करने से और उसकी प्राप्ति के व्यावहारिक साधनों के उपदेश से धर्म की सामाजिक और बाह्य परम्परा बनती है। यह उस गुह्य परम्परा से भिन्न है जो सिद्ध-साधक क्रम से वास्तविक दीक्षा के द्वारा सम्पन्न होती है। आध्यात्मिक साधना का प्रारम्भ संवेग अथवा सद्गुरु-दीक्षा से होता है और वह एक रहस्य-परम्परा का अंग बन सकती है, यद्यपि यह सदा आवश्यक नहीं है।

धर्म की प्रामाणिकता एवं मूल्य किस बात में है, इसका उत्तर ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो गया होगा। धर्म का प्रामाण्य एवं मूल्य अनुभूति-सिद्ध हैं। अथवा यों कहा जाय, कि धर्म एक अनुभूति है जिसका प्रामाण्य एवं मूल्य स्वतः सिद्ध हैं। यह अनुभूति एक प्रकार की अपरोक्ष आत्मानुभूति-है जो अनुभूति के सभी विशिष्ट आयामों से विलक्षण किन्तु उनके मूल में अवस्थित है। धर्म के विषय में, उसके परम अन्वेष्य में, सभी विषयों की विशेषताओं का अखंड समाधान अथवा अतिक्रमण हो जाता है। उस विषय की सभी व्याख्याएं इसी प्रकार की हैं जैसे काव्यादि के अर्थ की। वे एक अनुभूति-लक्ष्य मूल्य के बौद्धिक निरूपण हैं। 'मूल्य' कहने से अवस्तुकता या सत्ताहीनता न समझना चाहिए। आध्यात्मिक परमार्थ चरम मूल्य है और उसमें वास्तविकता का अभाव उसमें दोष का निवेश कर देगा। किन्तु वास्तविकता का अर्थ इस सन्दर्भ में खंडसत्ता का परिचित कारित्र न समझना चाहिए। वास्तविकता का अर्थ यहां सत्तामात्र का नियामक मूल समझना चाहिए। इसे ही कभी-कभी 'परम कारण' कहते हैं, यद्यपि यह स्पष्ट है कि कारणता परमार्थ में नहीं व्यवहार में ही सम्भव है। वस्तुतः सभी पदार्थ-कल्पनाएं विषय-गत होती हैं और विषयिसापेक्ष। विषय-विषयिभाव से उत्तीर्ण परमार्थ में उन्हें लागू नहीं किया जा सकता। परमार्थ को अद्वय, अखंड, नित्य, अनन्त और स्वतन्त्र कहा जा सकता है। स्पष्ट ही उसका ज्ञान कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि ज्ञान का विषय दृश्यत्व, जड़त्व, मिथ्यात्व आदि से दूषित होगा। उसका ज्ञान स्वतः सिद्ध आत्मज्ञान ही हो सकता है।

आत्मज्ञान के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसमें संशय का ही अवकाश नहीं है। तथापि आत्मज्ञान में दो प्रकार के भ्रमों का आरोप सम्भव है–एक तो मानस-प्रत्यक्ष के सुखादि प्रतिभासित विषयों का और दूसरे 'अहं-मम' आदि विकल्पित विषयों का। दोनों ही प्रकार की भ्रान्तियां मन के स्वभाव से उत्पन्न होती हैं क्योंकि मन बहिर्मुख और विकल्पात्मक होता है। यही अनादि अविद्या है और इसका निरास मनोगत वासना और चांचल्य के क्षय से ही सम्भव है। निर्विकल्प मन का अमनीभाव ही चित्त की अचित्तता सम्पन्न होती है। वही आत्मा के सहज ज्ञान का अबाध प्रसार होता है।

आत्मज्ञान कब भ्रान्त है, कब अभ्रान्त, इसका विवेक कैसे होगा? आत्मा के अज्ञान का लक्षण है दुःख का बोध। जब तक अनित्यता, अशान्ति, सीमितता, तृष्णा, अप्रकाशता आदि का बोध रहता है, तब तक स्पष्ट ही अभ्रान्त आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, यह मानना चाहिए। साधक के

लिये नित्य-सिद्ध होते हुये भी आत्मा की साधना एक अनन्त आदर्श का अनन्त अनुसन्धान है। वह सत्य का अपने अन्तस्थ आदर्श के अनुसार 'प्रत्यभिज्ञान' करता है जिसे प्लेटो ने भी आनेम्नीसिस कहा है। चेतना को स्वरूप-बोध का लक्ष्य, दिशा और प्राप्ति का विश्वास दिलाने के लिये किसी अन्य तत्व की आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक साधना चैतन्य की निजी स्वातन्त्र्य की साधना है जो उसे दुःख और अशान्ति से दूर अपने पास ले जाती है। इसमें उसके आन्तरिक निजी बोध का उदय ही उसका निर्देशन करता है। आध्यात्मिक सत्य की 'साधना का सहारा प्रधानतया ज्ञान ही है।' 'बन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।'

९

उपसंहार : मूल्य का स्वरूप

मूल्य की आत्मबोध–सापेक्षता

'अच्छा होना' का अर्थ है 'किसी के लिए अच्छा होना'। अच्छाई होने मात्र में अन्तर्भूत नहीं है बल्कि चेतना का विशिष्ट विषय होने में; अथवा, चूंकि होना मात्र चेतनापेक्ष है, अच्छाई को आत्मबोध-सापेक्ष कहना चाहिए। किसी विषय की अच्छाई का बोध उसकी ऐसी विशेषता का बोध है जो विषयगत प्रतीत होने के साथ आत्मसंबद्ध प्रतीत होती है। फलतः 'स्वगत अच्छाई' का अर्थ यही हो सकता है कि विषय अनन्य-साधनतया अच्छा हो, यह नहीं हो सकता कि विषय चेतना-निरपेक्षतया अच्छा हो।

निरपेक्ष चैतन्य के लिए भी 'अच्छे बुरे' का विवेक है, यह मानना ठीक नहीं लगता। यदि यह माना जाय कि विश्वनियन्ता ईश्वर ने मनुष्य को नैतिक और धार्मिक विवेक का उपदेश दिया है, तो भी यह मानना उचित होगा कि इस उपदेश की प्रामाणिकता मनुष्य-सापेक्ष ही है क्योंकि स्वयं ईश्वर ने विश्वस्रष्टा होने के नाते 'गुणदोषमय' जगत् की सृष्टि कर यह सूचित किया है कि उन्हें विषय 'अच्छे बुरे' नहीं लगते। इस दृष्टि से ईश्वर को अर्थात् निःस्वार्थ और सर्वज्ञ चेतना को मनुष्य के लिए अच्छा ज्ञात होना ही, अच्छा होना है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'अच्छाई' का अर्थ 'मनुष्य के लिए अच्छाई' ही हो सकती है। अर्थ और पुरुषार्थ को अलग अलग नहीं समझा जा सकता।

मूल्य का अर्थ = साध्य

जब हम किसी घोड़े को श्रेष्ठ घोड़ा कहते हैं तो श्रेष्ठता से हमारा तात्पर्य 'जातीय विशेषता का उत्कर्ष' होता है। जब हम किसी मरियल टट्टू

को विदूषक के लिए अच्छी सवारी कहते हैं तो अच्छाई से हमारा तात्पर्य 'प्रयोजनानुकूलता' से होता है। जब किसी चाकू या सैनिक को अच्छा कहते है तो अच्छाई का मतलब 'स्वव्यापार कुशलता' से होता है। भूखे प्यासे के लिए अन्न जल अच्छे कहे जाते हैं क्योंकि वे उसकी 'प्रवृत्ति के विषय' होते हैं। व्यापारी लाभ को अच्छा कहता है क्योंकि वही उसकी खोज और प्रयत्न का 'प्राप्ति विषय' है।

कुछ लोग मनुष्य की अच्छाई को उसकी जातीय विशेषता का उत्कर्ष मान कर उसे बुद्धि, शील अथवा धर्म के उत्कर्ष में निरूपित करते हैं किन्तु मनुष्य का स्वभाव अप्रत्यक्ष वस्तु है और उसकी विशेषता एवं उत्कर्ष तटस्थ विषय नहीं हैं। उनका निरूपण मानवीय स्वभाव का मूल्यांकन होगा। यदि हम ज्ञान, शील अथवा धर्म को मनुष्य की उत्कृष्ट अच्छाई मानें तभी हम उन्हें मनुष्य की विशेषता कहने से उनकी मूल्यवत्ता सूचित कर सकेंगे, अन्यथा स्वभाव की विशेषता का निरूपण वस्तुमात्र की सूचना रहेगा।

यदि प्रयोजन की अनुकूलता में अच्छाई है तो स्पष्ट ही प्रयोजन में अच्छाई माननी होगी। ऐसे ही अपने व्यापार में कुशलता यदि अच्छाई है तो व्यापार में भी साक्षात् अथवा परम्परया अच्छाई माननी होगी। वस्तुतः इन दोनों ही मतों में अच्छाई का अर्थ उपयुक्तता ठहरता है। उपयुक्तता साध्य-सापेक्ष अथवा उपकार्य-सापेक्ष अच्छाई होती है। साधन के रूप में कोई चीज अच्छी हो, उसके लिये किसी अन्य चीज को साध्य के रूप में अच्छा होना आवश्यक है। अर्थतः मानवीय प्रयोजन और उनके साधन अच्छाई के विषय सिद्ध होते हैं। किन्तु अच्छे बुरे का विवेक प्रयोजनों के अन्दर भी होने के कारण प्रयोजनीयता मात्र को अच्छाई नहीं कहा जा सकता। न प्रवृत्ति-विषयता अथवा इष्टता मात्र से अच्छाई का निर्णय होता है। क्योंकि अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान में वस्तुतः अनिष्ट विषय भी आपाततः इष्ट प्रतीत हो सकता है। प्राप्य विषय में भी यही कठिनाई है कि यद्यपि खोज और प्रयत्न बुद्धिपूर्वक हों तो भी उनमें विचार का विषय साधन अधिक होता है साध्य कम।

उपर्युक्त प्रयोगों में मूल्य के तीन अर्थ व्यक्त होते हैं—स्वाभाविक उत्कर्ष, उपयुक्तता, एवं प्राप्यता अथवा साध्यता। इनमें यदि पहले अर्थ को आत्माश्रयी समझ कर लक्षण के बाहर रख दिया जाय तो शेष दो अर्थों में इच्छा और ज्ञान दोनों की ही विषयता प्राप्त होती है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिस विषय को हम पाना चाहते हैं, उसे मूल्यवान् मानते हैं। इच्छा मात्र, भाव-मात्र अथवा ज्ञानमात्र से मूल्य का पता नहीं चलता। इच्छा और भाव परस्पर सम्प्रयुक्त होते हैं और दोनों ही ज्ञान-सम्प्रयुक्त होते हैं। विषय जिस

आकार से जाना जाता है, विषयी अपने को और विषय से अपने सम्बन्ध को जिस प्रकार जानता है, विषय की प्राप्ति की सम्भावना एवं परिणामों का वह जैसा अनुमान करता है, प्रस्तुत इच्छा और विषय को अन्य इच्छाओं और उनके विषय से वह जैसे सम्बन्धित करता है, उस सब पर इच्छा और भाव की उत्पत्ति, प्रकार, स्थिरता, वेग आदि दूर तक निर्भर करते हैं। इसीलिये अभिधर्म में इच्छा और भाव को चित्ताश्रित अर्थात् ज्ञानाश्रित धर्म माना है। ज्ञान से विवेचित और भाव से अनुमोदित होने पर इच्छा के विषय प्रयोजन बनते हैं। प्रयोजनों का इच्छा, ज्ञान और कर्म के रूप में अनुसन्धान साधना कहा जा सकता हैं। मानवीय स्वभाव की अन्तर्गत पर्येषणा ही साधना के रूप में प्रकट होती है। फलतः मूल्य को साध्य कहा जा सकता है।

'साध्य' के प्रत्यय में योग्यता, औचित्य, प्राशस्त्य और परत्व या उत्कर्ष के प्रत्यय अन्र्भूत हैं। साध्य में एषणा और प्राप्ति का विषय बनने की योग्यता होनी चाहिए। उसका अन्य एवं विरुद्ध साध्यों की तुलना में वरण निर्दोष होना चाहिए—यही औचित्य है—और स्वयं उसका मानस-साक्षात्कार प्रशंसा-भाव का विषय होना चाहिए जो कि प्राशस्त्य है। साध्यों के परस्पर प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण उनमें आपेक्षिक परत्व अथवा उत्कर्ष का निर्णय साधना का आवश्यक अंग है।

जीवन-व्यवहार विभिन्न प्रवृत्तियों में बंटा रहता है और विभिन्न व्यावहारिक क्षेत्रों के साध्य ही सामान्यतया पुरुषार्थ या मूल्य कहलाते हैं। विभिन्न साध्यों के विषयात्मक स्वरूपों की आलोचना से कोई उपयोगी सामान्य तत्व हाथ नहीं लगता। नैतिकता कला, धर्म आदि में समान तत्व उन क्षेत्रों की दृष्टि से अति सामान्य हो जाता है और ऐसा लगता है कि मूल्यनानात्व का पक्ष अकाट्य है। किन्तु यदि हम इन मूल्यों को उनकी आत्मसम्बद्धता में देखें, यह विचार करें कि उनकी अनुभूति में चेतना को क्या उपलब्धि होती है अर्थात् आत्मबोध किस प्रकार सम्बद्ध होता है, यदि हम मूल्य-बोध पर विमर्शात्मक दृष्टिपात करें तो हमें मूल्य-साधनाएं एक पारमार्थिक आत्मबोध की साधना के अंग प्रतीत होंगे। दैहिक-सामाजिक, बौद्धिक-सांस्कृतिक, अध्यात्मिक-पारमार्थिक स्तरों पर मनुष्य जिन अर्थों का अनुसन्धान करता है उनके कालजयी और निरतिशय कल्पित होने से उनकी साधना भी अनन्तता लाभ करती है।

मूल्य के लक्षण—आत्मा के अवधारण-प्रत्यय

मूल्य किसी पदार्थ की ऐसी विशेषता या खूबी है जिसका ठीक पता

उसे परखने पर चलता है और जिसका पता चलने पर चेतना उसकी ओर एक प्रशंसनीयता के भाव के आकृष्ट होती है और उसकी यथायोग्य प्राप्ति को उचित मानती है, विशेषतः यदि वह विषय एक सम्भावना हो तो उसे वास्तविक रूप देना या सिद्ध करना उचित समझ आता है।

स्पष्ट ही मूल्यवान् पदार्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह चेतना का सम्भव विषय हो किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिस रूप अथवा लक्षण से वह मन का विषय बनता हो वही उसकी खूबी हो। प्रत्युत, प्रतीयमान और सारभूत, लक्षण और स्वभाव, रूप और गुण, इनका भेद और तनाव मूल्य को सारात्मक और उसके बोध को विमर्शात्मक बनाता है। इस स्तर पर विषयों में बाहरी और आन्तरिक, दिखावटी और असली का भेद प्रकट होने से उनमें एक गहराई का आयाम निकलता है और इसीलिए उनका ज्ञान परीक्षण, विवेचन, अन्तर्दृष्टि का रूप धारण करता है। यह ज्ञान स्वयं उसी स्तर का विषय है और उसमें उथले-गहरे का विवेक अनिवार्य है। न सिर्फ ऐसे विषय और ज्ञान निरे प्रत्यक्ष की सादी, सपाट प्रतीतियों से ऊंचे स्तर के हैं बल्कि उनके अन्दर स्वयं स्तर-भेद है। मूल्य गहरे, ऊंचे, जटिल विषय हैं और ऐसा ही उनका ज्ञान है।

इस स्तरीयता से ही मूल्य-ज्ञान में एक आवश्यक नकारात्मकता या व्यावर्तकता का अंश आता है। मूल्य-ज्ञान ऊपरी बातों का निषेध करता है मानो वे झूठी नकल हों और उनका सार विषय के आन्तरिक स्वरूप में खोजता है। मूल्य-प्रत्यय के अन्तर्गत यह अन्य-व्यावर्तन मूल्य को स्वभाव की विशेषता जताता है।

प्रशंसनीयता की चेतना विषयमात्र का आक्षेप करती है किन्तु आकर्षण की चेतना आवश्यक रूप से आत्मबोध का आक्षेप करती है। प्राप्यता एवं साध्यता के प्रत्यय भी आत्म-सापेक्ष होते हैं। फलतः मूल्य न सिर्फ स्तरीय स्वभाव की विशेषता, अपितु आत्मसापेक्ष धर्म सिद्ध होते हैं। और मूल्य-विवेक भी केवल विषयाश्रित न होकर आत्माश्रित भी सिद्ध होता है।

जैसे मूल्यात्मक विषय एवं मूल्य-ज्ञान में स्तर-भेद होता है, ऐसे ही मूल्याकृष्ट-चेतना या आत्मसत्ता में भी स्तर-भेद होता है। आत्मसत्ता के जिस स्तर पर मूल्य-ज्ञान होता है उस स्तर पर ही आकर्षण होता है। यह आवश्यक नहीं है कि आत्मसत्ता का वह स्तर अभ्यस्त आत्मबोध में भी केन्द्रवर्ती हो। इस वैषम्य से मूल्यबोध आत्म-चेतना में एक तनाव पैदा करता है, उसके ऊंचे और नीचे स्तर में।

चूंकि आत्मसत्ता या चेतना स्वयं एक मूल्यवान् विषय है, आत्मबोध में भी गहराई, ऊंचाई और सच्चाई की खोज या विवेक रहता है। आत्मिक मूल्य की खोज में आत्मविषयभूत मूल्यों की पहचान अन्तर्भूत होती है क्योंकि जहां तक आत्मसत्ता एक एषणात्मक क्रियाशील चेतना है उसका मूल्य उसके प्रयोजनीय विषयों के मूल्य से पृथक् नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार मूल्य आत्मापेक्षी है और व्यावहारिक आत्मा मूल्यापेक्षी। मूल्य सिर्फ 'दुहरी' सार-स्तरीय स्वरूप-वैशिष्ट्यात्मक विषयिनिरपेक्ष विषय-सत्ता नहीं है बल्कि आत्मविवेकी सारगवेषी चेतना के द्वारा विचारनिर्णीत प्रत्यय है। वास्तव में सार प्रतीयमान की सम्प्रत्ययात्मक एकता ही होती है। नाना ऊपरी प्रतीतियों की एकता कोई नित्य अप्रत्यक्ष द्रव्य या 'वस्तु' नहीं होती। आगे बढ़ कर उनका कारणात्मक या अन्योन्यापेक्षात्मक अन्वयनियम भी एक प्रत्यय ही होता है। एक ओर प्रत्यय प्रतीयमान विषयों की वास्तविकता के लिये नियम और मान प्रस्तुत करता है, दूसरी ओर वह बुद्धि-व्यापार होता है। बुद्धिव्यापारतया विबुद्ध प्रत्यय स्वरूप का स्वाधीन अवधारण सिद्ध होता है। आत्मसत्ता के अवधारक और उसकी स्वतन्त्रता के प्रकाशक प्रत्यय ही मूल्य के अवधारण होते हैं। "स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं परमेश्वर।"

बोध का उदय विषय-विषयि-भाव के साथ होता है किन्तु ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के स्तर पर ज्ञान का विषय और एषणा का विषयी परस्पर व्यतिरिक्त और असम्बद्ध रहते हैं। विकल्पात्मक मन के स्तर पर प्रत्ययात्मक ज्ञान का विकास विषयों में गहराई देता है और विषय-विषयि-भेद को स्पष्ट कर विषयी को एक स्वरूपशून्य निर्देश-बिन्दुमात्र कर देता है। इस स्तर पर एषणा भी विशिष्ट विषयों के विषयान्तर से सम्बन्ध और कारण-व्यापार या व्यवहारमात्र रह जाती है। इस निरी विषयता और सापेक्षता के स्तर पर भी ठीक अर्थ में मूल्य-बोध नहीं उभरता। विषयों के प्रत्ययसात् होने पर बुद्धिज्ञान के स्तर पर उनके (प्रत्ययों के) आत्मसात् होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इस स्तर पर यह बोध होता है कि वही वास्तविक विषय है जो एषणीय है और जो एषणीय है उसे वास्तविक होना चाहिए। यही मूल्य या आदर्श सत्ता का बोध है और यह बोध आत्मानुसन्धान के सन्दर्भ में ही उदित और विकसित होता है।

आत्म-प्रत्यय के विषयभूत स्वरूप की आलोचना से ही मूल्य या आदर्श का बोध होता है। विषय और विषयी, सत्ता और चेतना, भूत और भव्य, नियम्य और नियामक का एकीभाव आत्मा में ही होता है। व्यक्ताव्यक्त होने के कारण नित्यसिद्ध होने पर भी आत्म-स्वरूप साध्य बनता है।

अपने से भिन्न प्रतीयमान विषय-जगत् की परतन्त्रता में एक सीमित विषय की तरह पड़ी हुई आत्मा को अपनी सत्ता और प्रत्यय के विरोध का एहसास अपनी वास्तविकता की खोज की ओर प्रेरित करता है। यह खोज आत्म-प्रत्यय में प्रतिबिम्बित नित्य, स्वतन्त्र और आत्मपर्याप्त, निरतिशय, अनन्त सत् की ओर उद्दिष्ट होती है। यही पर्येषणा या मूल्यसाधना है।

किसी विषय के मूल्य को पहचानने में और उसके स्वरूप को सम्पूर्णतया जानने में भेद नहीं किया जा सकता। मूल्य की पहिचान विषय की पसन्द नापसन्द नहीं है, न उसकी ओर मनोवृत्तिमात्र है। न वह विषय के यथाप्रतीत या काम चलाऊ गुणों का ज्ञान है। वह विषय की सम्पूर्णता का सम्पूर्ण के सन्दर्भ में ज्ञान है जबकि सम्पूर्णता केवल विषयात्मक न होकर विषय और विषयी की अन्विति में होती है। यह स्मरणीय है कि चेतना में अन्तर्गृहीत प्रभावों के व्यवहारानुगुण विश्लेषण से ही विषय परिभाषित होते हैं।

स्पष्ट ही मूल्यज्ञान एक अनन्तशोध्य ज्ञान है और उसके विषय का प्रत्यय एक सम्पूर्णता का प्रत्यय है। यह खोज सीमित विषयों के अनन्त रूपों, गुणों और सम्बन्धों में भटक कर पूरी नहीं हो सकती क्योंकि उन सीमित विषयों का असीम अन्वय-सूत्र चेतना ही है। विषयगत रूप से प्रतीत होने वाले मूल्य इस प्रकार आत्मगत मूल्य के आभास और संकेत बन जाते हैं।

किसी विषय का ज्ञान ही, आत्मपरिप्रेक्ष्य में, उसके मूल्य का ज्ञान देता है। यह मूल्यज्ञान विषय की ओर हान, उपादान अथवा उपेक्षा की मनोवृत्ति निर्धारित करता है। इस प्रकार मूल्यज्ञान हमारे व्यावहारिक निर्णयों को प्रभावित करता है। अतीन्द्रिय विषयों के अनुचिन्तन अथवा अनुसन्धान के द्वारा उनकी प्राप्ति अथवा परिहार के लिए उद्दिष्ट बौद्धिक साधना के लिए भी यही सही है।

चूंकि मूल्य-ज्ञान में विषय-ज्ञान और आत्म-ज्ञान मिल जाते हैं और आत्मज्ञान में एक अविषयात्मक अपरोक्षता रहती है, मूल्यज्ञान में विषय-ज्ञान भी रूपान्तरित हो जाता है।

मूल्य अनुभूत विश्व को अर्थ देने वाले तत्त्व हैं यद्यपि वे उसकी कालिक सत्ता के अंग नहीं हैं जो कि अनुभव की ओर ही तटस्थ है, जबकि मूल्य अनुभव का सारांश हैं। मानो विषय-जगत् में अपने को खोकर चेतना को आत्मबोध के विद्युदुद्योत में विश्व के अर्थ का पता अपने को केन्द्र में रख कर चलता हो।

मूल्य-साधना में क्रम

मूल्यबोध में विषयबोध और आत्मबोध का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होता है। इसी द्वन्द्वात्मकता के कारण कभी मूल्य आत्मोपकारी और कभी आत्मा मूल्योपकारी होती लगती है। चेतन आत्मा के जड़ विषय उपकारी होते हैं और चेतना के निचले स्तर उच्चतर स्तरों के लिए उत्सृज्य होते हैं। ये उपकार ही क्रमशः भोग और उपासना हैं।

साध्य-साधक क्रम के विपर्यास से मूल्य-साधना का व्यसन होता है। उपात्त साधन में आसक्ति इसका हेतु बनता है। साध्य आत्मा के स्थान पर साधक अहं की उपासना व्यसन का सूक्ष्म मूल है।

अहं की प्रतीति आत्मा में विषयाध्यास से होती है। 'अहं' चेतना के बहिर्भाव–भोक्तृत्व, कर्तृत्व, प्रमातृत्व–का केन्द्र होता है। अहं को मूल्यों का मूल मानना ही स्वार्थ है, सत्काय दृष्टि है, अविद्या है, अनर्थ–मूल है। स्वार्थ-त्याग से मूल्य प्राप्ति होती है और स्वार्थ-त्याग पूरा होता है अहं के क्रमशः अपने अधिष्ठान में विलय से। इसी में बहिर्भाव या पराग्वृत्ति प्रत्यग्वृत्ति में बदलती है।

इन्द्रियात्मक देवताओं के लिए विषय पशुवत् उपाहार्य बलि हैं, इन्द्रियां मन के लिए, मन बुद्धि के लिए और बुद्धि आत्मा के लिए। इन्द्रियों से बुद्धि तक पराचीनता के सहारे अहं का विस्तार-क्षेत्र है। अहं का प्रत्यय अन्दर से निस्सार या शून्य होने के कारण बाह्य उपाधि एवं विषय के अवलम्ब से ही प्रस्फुटित होता है और बहिर्मुख प्राकृत व्यापार का केन्द्र बनता है। बुद्धि के ही प्रज्ञात्मक परिणाम से भूत, तत्व, चित्त और अहं, सभी 'धर्मों' का स्वभाव-निषेध या नैरात्म्य-बोध सम्पन्न होता है और इसी बोध का अधिष्ठान, सब विकल्पों और सब निषेधों का अधिष्ठान, परमार्थ कहा गया है।

न तो पशुवत् बहिर्भाव में मूल्य-चेतना मिलती है–बहिर्भाव एक प्रकार से विपरीत याग है, 'एन्टिमास' है—न नितान्त प्रत्यग्भाव में। ब्रह्म-चेतना या परमार्थ में मूल्यों के द्वारा आक्षिप्त विशेषता, तारतम्य एवं प्राप्यता निर्विषय हो जाते हैं। मूल्यबोध एक अन्तर्बाह्य स्थिति का बोध है जिसमें बुद्धिस्तरीय चेतना अपने विषय और आश्रय के भेद को देखती है, जिसमें एषणा के अन्तर्गत अभाव का बोध विवेक के अन्तर्गत आदर्श के बोध से साधना द्वारा संबन्धनीय प्रतीत होता है। मूल्यबोध प्रयोजनों के विषय में दृष्टि-प्राप्ति है और साधना को जन्म देता है।

दैहिक और ऐन्द्रिय स्वभाव से उत्पन्न प्रवृत्तियों के विषय नियत और

सीमित होते हैं और तात्कालिक तृप्ति में चरितार्थ हो जाते हैं। बुद्धि-दृष्ट अर्थों की खोज इस प्रकार गतार्थ और निवृत्त नहीं होती क्योंकि उसमें प्राप्त विषय कभी भी बौद्धिक प्रत्यय के सर्वथा अनुरूप नहीं होता। बुद्धि-निरूपित साध्यों का कर्म, रचना, भावना, अथवा ज्ञान के द्वारा अनन्त अनुसंधान ही मूल्यसाधना है। इस साधना में इच्छा, ज्ञान और क्रिया तो सदा ही सम्पुटित रहते हैं यद्यपि उनके प्राधान्य-भेद से साधना का आयाम-भेद होता है। जब साध्य का स्वरूप बुद्धिज्ञान से निरूपित होता है तो साध्य अर्थ या मूल्य कहा जाता है। इन अर्थों के बुद्धि-निरूपित होने से ही इनका अनुधावन या 'उपासना' चेतना की स्वतन्त्रता के अनुगुण होती है। स्वतन्त्र-तया एवं अनन्ततया साधनीय या उपास्य ये बुद्धिमूलक प्रत्यय ही आदर्श कहे जाते हैं। यह स्मरणीय है कि 'बुद्धि' इस सन्दर्भ में न विशुद्ध तर्कशक्ति है, न विशुद्ध ज्ञानशक्ति। बुद्धि मूलतः साक्षात्कार की शक्ति है जो चेतना का अनपायी गुण होते हुए भी अपने विशिष्ट विकास में 'बुद्धि' शब्द का व्यपदेश्य होती है। चेतना की सभी अपूर्ण अवस्थाओं में अभाव के बोध साथ इच्छा और क्रिया का संप्रयोग रहता है।

मूल्य बुद्धि-निर्दिष्ट साध्य हैं और साधना मनुष्य की तच्चित्तता और तत्परता है। चूंकि साध्य वस्तुतः आत्मिक आदर्श होते हैं, मूल्यों को ऊपर आत्म-स्वरूप के अवधारण-प्रत्यय कहा गया है। उपर्युक्त प्रकार से मूल्य-बोध एक साथ ही एषणात्मक और विमर्शात्मक सिद्ध होता है। उसे एक समूहालम्बनात्मक बोध कह सकते हैं जिसमें विषय और विषयी के प्रतीय-मान और अवधारित स्वरूप एवं उनके सम्बन्धों का बोध अन्तर्भूत होता है। इसीलिये वह चेतना की एक अन्तर्बाह्य दशा होती है। विमर्शात्मक होने के नाते ही वह संगतिपरक और विशेषक होती है, स्वविशेषक भी और स्तरविशेषक भी। एषणात्मक होने के नाते वह निरतिशयतापरक होती है, और यही उसे अतिक्रान्ति या मुक्ति की ओर ले जाता है।

एषणात्मकता और विमर्शात्मकता को क्रिया और ज्ञान के समान विरुद्ध न समझना चाहिए। इच्छा अपने विषय को नहीं गढ़ती बल्कि विषय-प्रतीति से नियन्त्रित होती है। वास्तव में इच्छा और ज्ञान का विरोध इस कारण होता है कि मानवीय ज्ञान सत्ताशाली और नियत, ईश्वरसृष्ट या प्रकृति-सृष्ट विषयों का होता है जबकि मानवीय इच्छा के विषय इस प्रकार की सत्ता के परतन्त्र नहीं होते हैं। यद्यपि सत्ता का पता ज्ञान से चलता है, आनन्द का पता उससे नहीं चलता। मानवीय ज्ञान केवल सीमित और जड़ सत्ताओं का परिचय देता है। इस प्रदत्त, सान्त जड़ जगत् की पराधीनता इच्छा को स्वीकार्य नही है। वह चेतना की प्रत्युपस्थित के परे, प्राप्त की

सीमा के आगे, अनन्त आनन्द की खोज है। दृष्ट के पीछे अदृष्ट चेतना के गुण का पता प्रेमात्मक इच्छा को ही चलता है। इच्छा के अन्दर अपना ज्ञान होता है जो सामान्य बुद्धिज्ञान का विरोधी न होकर पूरक कहा जाना चाहिए। विमर्शात्मकता से कोरा विषय-ज्ञान मात्र न समझना चाहिए बल्कि इच्छा, भाव आदि से संसृष्ट अनुभूति का अन्तर्विवेचन समझना चाहिए। इस विवेचन में मुख्य प्रमाण आत्मा ही होती है। आत्मिक प्रत्यय ही इस विचार में लक्षण बनता है। जो ज्ञान सचमुच पारमार्थिक होगा, भूमा का ज्ञान होगा, जिसके समक्ष चेतना को शान्ति ही अवलम्बनीय होगी, उस ज्ञान के समक्ष इच्छा स्वयं उपशान्त हो जाएगी क्योंकि वह स्वरूपावस्थिति या चरम अर्थ की सिद्धि होगी। खंडज्ञान और इच्छा का द्वन्द्वात्मक समन्वय मूल्य-पर्येषणा के लिए आवश्यक है और यह द्वन्द्वपरिहार तभी होता है जब विषयज्ञान आत्मज्ञान् में परिणत होता है। "तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।"

मूल्य पुरुषार्थ हैं न कि पदार्थ। न वे प्रत्यक्षवादी के इन्द्रिय-संवेद्य भोग-पदार्थ हैं, न बुद्धिवादी के प्रमेय तत्व। पुरुष में कोई वास्तविक अभाव नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए उसे अपने अतिरिक्त कोई अर्थ अपेक्षित हो। न पुरुष से श्रेष्ठ कोई तत्व है जो पुरुष के लिए उपास्य हो। "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।" पुरुष स्वयं परम अर्थ है। सभी विषय पुरुषाभिसम्बन्ध से ही अर्थ बनते हैं। जिस तत्व से आत्म-चेतना उपाहित होता है, उसी तत्व की क्षतिपूर्ति एवं उत्कर्ष का अनुशीलन उस स्तर की अर्थसाधना बनती है। पुरुष के रूप में ही आत्मावधारण सम्पूर्ण होता है और यह अवधारण सर्वथा अनन्त का होने के कारण तत्वातिक्रामी होता है।

जैसे दर्शन और श्रवण, प्रत्यक्ष और अनुमान, ज्ञान और इच्छा एक ही चेतना के औपाधिक भेद हैं, ऐसे ही विभिन्न मूल्य एक ही पुरुषार्थ के औपाधिक भेद हैं। मूल्यों की पारमार्थक अद्वयता का ज्ञान विभिन्न मूल्य-साधनाओं में विशेष उपयोगी नहीं होता। उस पारमार्थिक अद्वैत की सूचना विभिन्न साधनाओं में मूल्यबोध के अन्तराल से एक अप्रत्यक्ष प्रतिमा के आभास से मिलती है। सामाजिक हित की साधना व्यक्ति और वर्तमान का अतिक्रमण कर एक आदर्श या 'भव्य' मानवता की कल्पना करती है। नैतिकता सापेक्ष मानवीय इच्छाओं और स्वार्थ का अतिक्रमण कर एक अपौरुषेय अथवा सर्वज्ञ पुरुष के नियम का अनुसरण करती है, अथवा हृदय की स्वच्छता में नियमों का नियम खोजती है। कला जीवन के भावबिम्ब में चिद् की अभिव्यक्ति पकड़ती है। विज्ञान और दर्शन अपर्याप्त ज्ञानों के

परे स्वपर्याप्त ज्ञान का ग्रादर्श खोजते हैं। इन सभी साधनाओं में उपलब्ध अर्थ अपने से परे एक अव्यक्त आदर्श का संकेत करते हैं। उनमें एक किसी अर्थ की परमता सूचित होती है, उसका स्वरूप प्रकट नहीं होता। धर्म की ही साधना है जो नाना खंड मूल्यों के अनन्त-विस्तृत प्रासादों को छोड़ कर, मानवीय-अनुभविक संस्कृति-सम्पदा को छोड़ कर, परमार्थ का स्वरूपतः साक्षात्कार चाहती है।

मूल्य और इतिहास

प्लेटो का कहना था कि सत्सूर्य के दर्शन के बाद द्रष्टा को फिर से मानव जीवन की अन्धेरी गुफा में लौटना चाहिए ताकि उसके निवर्तन (काटाबासिस) से मानव-जीवन आलोकित हो सके। संबोधि के बाद बुद्ध से ब्रह्मा का आयाचन इसी आशय का था। मूल्य-परम्परा का, पुरुषार्थ-ज्ञान की परम्परा का, आविर्भाव महापुरुष की अनुभूति में है, यही इन उदाहरणों का प्रतिपाद्य है। जो स्थान समाज के जीवन में महापुरुष का है, वही व्यक्ति के जीवन में विशिष्ट अनुभूति का है। सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन-प्रवाह मूल्यानुभूति के विशिष्ट क्षणों से आलोकित और निर्देशित होता है। मनुष्य सिर्फ जैव-सामाजिक चक्र में पड़ा प्रवाहजीव नहीं होता, बल्कि उसमें न्यूनाधिक मात्रा में 'भव्यता' रहती है जिसके कारण वह केवल भौतिक प्रेरणाओं से प्रवृत्त न होकर मूल्य-साधना में भी प्रवृत्त होता है। मूल्य-साधना मानों ऐतिहासिक-कालिक जीवन के प्रवाह से उन्मग्न होने का, अतिकालिक सत्य के अनुसंधान का प्रयास है। किन्तु चेतना के इस उत्तीर्ण और मुक्त होने की चेष्टा, इस अमृतत्व और स्वाराज्य-प्राप्ति की साधना कालिक इतिहास ही में अपनी सृष्टि, स्थिति और लय पाती है। साधन और अनुभूति, विचार और प्रतिपादन, विस्तार, व्यवस्थापन और संस्थापन, अनुकरण और व्यसन—इस क्रम से मूल्य-व्यवस्थाएं उदित, विकसित, और अस्त होती है। मूल्य की खोज सांस्कृतिक इतिहास का प्राण-पक्ष है किन्तु प्राण के समान ही उसे देह से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसे देखते हुए एक दृष्टि से मूल्य संस्कार-परम्परा मात्र है, सामाजिक अनुभूति पर आश्रित सामाजिक मान्यतामात्र। मूल्य-बोध के अन्तर्गत अनिवार्य ज्ञान-तत्व ही इस मत का पर्याप्त खण्डन है। तो भी तत्तत् मूल्य-बोध की स्पष्ट वासनापेक्षता उसकी ऐतिहासिकता सूचित करती है। एक ओर मूल्य आदर्शतया नित्य एवं अकालिक हैं, दूसरी ओर व्यक्ततया, उपलब्धतया कालिक एवं ऐतिहासिक हैं। यह द्वैत मानव-चेतना के स्वरूप पर ही प्रतिष्ठित है क्योंकि मानव-चेतना अव्यक्त नित्य और व्यक्त अनित्य का मिलन बिन्दु है। वह अपनी निरन्तर परिणामिता में काल का और अपनी काल से ग्रस्यता एवं

परतन्त्रता का अनुभव करती है; वही अपने परिणाम और परतन्त्रता की साक्षी बन कर नित्यता और स्वतन्त्रता का आक्षेप करती है। वही अहंकार की मुद्रा से व्यक्ति की सृष्टि करती है, वही अहं के पूरक मम और त्वम् की कल्पना से स्वांकित (चैतन्यांकित) साध्य-साधन-सम्बन्धों के द्वारा समाज का आक्षेप करती है। मूल्य-चेतना में एक साथ ही आत्मा का और अनात्मा का, नित्यता का और इतिहास का, व्यक्ति का और समाज का द्वन्द्वात्मक बोध संविद्यमान है। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च।"

परिशिष्ट

मानव पर्येषरण और दार्शनिक विमर्श

प्राणिमात्र अपने अस्तित्व के प्रति अभिनिवेश रखता है और 'मा न भूवम्, भूयासम्' इस अन्तर्निहित प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपनी परिस्थिति के साथ आनुकूल्य-सम्पादन की चेष्टा में निरत रहता है। मनुष्य में अपने भौतिक पर्यावरण के साथ जूझने की एक अपूर्व क्षमता है जोकि उसे इन्द्रियों और मस्तिष्क के विकास से उपलब्ध होती है। किन्तु जहां एक ओर उसमें अपने प्राकृतिक अस्तित्व का बोध है, वहीं दूसरी ओर उसमें मृत्यु का स्फुट बोध है और उसके साथ है एक अप्राकृत अस्तित्व का अस्फुट भान और अमृतत्व की अभीप्सा। प्राचीनतम मानव के अवशेष भी उसकी चेतना के इस द्वैत को प्रकट करते हैं। एक ओर हम उसे हथियार-औजार की खोज में अग्रसर पाते हैं, दूसरी ओर मृतक संस्कार और अदृष्ट शक्तियों की उपासना में निरत। असभ्य हो अथवा सभ्य, प्राचीन अथवा अर्वाचीन, मनुष्य मात्र की चेतना में ये दो परस्पर विभक्त आयाम लक्षित होते हैं। मनुष्य अपने को प्रकृति के राज्य में पाता है किन्तु खोजता है स्वाराज्य। यह सच है कि विभिन्न संस्कृतियों और युगों में इस द्वैत की अभिव्यक्ति समान रूप से नहीं हुई है, किन्तु तब भी किसी न किसी रूप में लौकिक और आध्यात्मिक बोध का छायातप सर्वत्र उपलब्ध होता है। चेतना के विकास में लौकिक और आधिभौतिक स्तर उसकी निचली प्रान्तरेखा है और विशुद्ध आत्मबोध उसका लक्ष्य। जहां एक ओर प्रत्यक्ष जगत् और प्राकृतिक कार्य-कारण सम्बन्धों का ज्ञान लौकिक व्यवहार में समर्थ सिद्ध होता है वहीं इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य को आन्तरिक तृप्ति नहीं होती। ज्ञान के एक सहज पर

अव्यक्त आदर्श की प्रेरणा उसे अपनी लौकिक चेतना को जांचने और आंकने को बाध्य करती है। इस प्रेरणा का पूर्वार्ध विचारात्मक है, उत्तरार्ध अतिक्रमात्मक। पूर्वार्धगत प्रतीयमान और व्यावहारिक सत् का विवेचन ही दार्शनिक अनुसन्धान है जो लौकिक अनुभव और आध्यात्मिक साक्षात्कार के स्तरों के बीच का चिरन्तन सेतु है।

दार्शनिक अनुसन्धान प्रतीतिमात्र अथवा व्यवहार से उपलब्ध अर्थ के विषय में तात्विक संशय और जिज्ञासा होने पर लक्षण और प्रमाण के द्वारा उसकी परीक्षा के रूप में प्रवृत्त होता है और विप्रतिपन्न विषय के पारमार्थिक स्वरूप के निर्णय की ओर प्रयत्न करता है। प्रतीयमान अर्थों की दार्शनिक व्याख्या उनके विवेचन से उपलब्ध एक तात्विक विश्व के सन्दर्भ में होती है। दार्शनिक जिज्ञासा ऐसे सत्य की ओर उद्दिष्ट है जो सर्वाधिक व्यापक और गम्भीर है। 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'

दार्शनिक विवेचन प्रतीति के स्तर से उत्पन्न होता है। सालम्बन बोध को प्रतीति कह सकते हैं और आलम्बन को कम से कम बोधोल्लेखी आकार अथवा प्रकार। बोधगत प्रकार के रूप में आलम्बन को प्रतीति-समवेत मानना होगा और उस रूप में वह सदा ही अपरोक्ष होगा। इसे प्रतीयमान सत् अथवा प्रतीतिमात्र से उपलब्ध अर्थ कह सकते हैं। नील, सुखादि और अपरीक्षित आकार-प्रकार मात्र प्रतीयमान सत् के उदाहरण हैं। जिन प्रतीतियों की सार्थकता लोकसिद्ध अथवा प्रवृत्तिसहचरित है उनके अर्थ व्यवहारलब्ध कहे जा सकते हैं। जल, घट आदि वस्तुएं एवं लौकिक विश्वासों में विकल्पित तथ्य इस प्रकार के उदाहरण हैं। व्यवहारलब्ध अर्थ प्रतीतिलब्ध उन अर्थों का एक देश है जोकि प्रतीतियों के संकलन और विश्लेषण से निष्पन्न होते हैं। अपरोक्ष अवभास हों अथवा प्रत्यक्ष वस्तुएं या विकल्पित तथ्य अपाततः इन सभी को प्रतीयमान सत् के अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। प्रतिभास और विकल्प दोनों को ही प्रतीति व्याप्त करती है।

चेतन सत्ता में वास्तविकता और मूल्यवत्ता का अन्वय अनिवार्य रूप से पाया जाता है। यदि इस तथ्य के साथ इस पर विचार करें कि विकास का क्रम सत् को जड़ता से अधिकाधिक उत्कृष्ट चैतन्य की ओर ले जाता प्रतीत होता है तो यह कल्पनासंगत प्रतीत होगा कि वास्तविकता और मूल्यवत्ता दोनों ही सत् के अन्तर्निहित आयाम हैं। प्रतीयमान अर्थ में मूल्य का स्फुरण चेतना को अपनी ओर प्रवृत्त करता है और प्रवृत्ति में साधक-बाधक के रूप में अर्थ के वस्तुपक्ष का बोध होता है। इन आयामों में अवभासमान अर्थों को विवेचन के द्वारा निर्धारित करना तथा इस प्रक्रिया के द्वारा एक

व्यवस्थित विश्व में प्रतिपन्न होना मानव जिज्ञासा की सहज दिशा है। यदि वास्तविक अर्थों के विश्व को प्रकृति, मूल्यात्मक सत् के विश्व को आदर्श, और दोनों में व्याप्त स्वरूप-विश्रान्त सत् को परमार्थ कहा जाए तो हमारे समक्ष दार्शनिक विवेचन के तीन स्तर आभासित हो जाते हैं।

तीनों स्तरों पर दार्शनिक विवेचन या परीक्षण अनुभव और ज्ञान-विकल्प की पृष्ठभूमि पर व्यापारित होता है। न अनुभवरहित कल्पना संभव है, न अविकल्पित अनुभव विचार का अंग बन सकता है। अनुभव की पहली व्याख्या दर्शन से आरम्भ नहीं होती है, बल्कि प्रचलित व्याख्याओं की समीक्षा से दर्शन का आरम्भ होता है। उपलब्ध अर्थों को नाम देना और पहिचानना, उनकी तुलना के आधार पर उनका वर्गीकरण और उनके भूयोदृष्ट सहचार एवं क्रम के आधार पर उनके तादात्म्य, कार्य-कारण भाव आदि सम्बन्धों का निर्धारण और इन निर्धारित सम्बन्धों के आधार पर एक अर्थ से दूसरे का अनुमान, इस प्रकार की जिज्ञासा और चिन्तन की प्रवृत्ति सामान्य लोक-व्यवहार में सहज रूप से विद्यमान रहती है। इसके फलस्वरूप सभी लोक-व्यवहार अंशतः एक संकेत-विद्ध, व्यवस्थापित अर्थों के विश्व का पूर्वाक्षेप करता है। सामान्य भाषा और लोक-धारणाओं में इस अर्थ-श्लिष्ट विश्व का विवरण उपलब्ध होता है और इसके संस्थान या योजनाएं हैं व्यावहारिक कल्पना के प्रकार। प्रत्यक्ष और आगम, अनुमान और संभावना, प्रतिभा, रुचि, आग्रह आदि प्रमाण और प्रमाणाभास के द्वारों से निःसृत होकर अनेकानेक अर्थ विकल्पबोध को आकारित करते हैं और लोक-व्यवहार के घटक बनते हैं। प्रामाणिक और अप्रामाणिक का विभेद व्यवहार के अन्दर स्वीकृत है क्योंकि व्यवहार में प्रवृत्ति-साफल्य अभीष्ट होता है और सभी कल्पनाओं में प्रवृत्ति-सामर्थ्य न देखे जाने के कारण यह सर्व-सम्मत है कि प्रामाणिक कल्पना ही प्रवृत्ति-समर्थ होती है। किन्तु सामान्य व्यवहार में उपयोज्य कल्पनाएं प्रायः अपरीक्षित अथवा अनियत या असम्यक् रूप से परीक्षित होती हैं। तब भी प्रवृत्ति-सामर्थ्य की दृष्टि से परीक्षित विकल्प सामाजिक परम्परा में अनायास स्वीकृत होने के कारण संकलित, विवर्धित, परिष्कृत और व्यवस्थित होते जाते हैं और उनकी इस प्रगति का वेग भी 'बरफ की गेंद' के समान बढ़ता जाता है। इसी प्रकार की कल्पनाओं से विकास की अवस्था विशेष में शास्त्र-रचना प्रारम्भ होती है और उसके साथ 'परिभाषा' और 'विधि' की मीमांसा के रूप में एक नयी द्वितीय स्तरीय परीक्षा जन्म लेती है जोकि नाना शास्त्रों के सम्बन्ध और व्यवस्था के प्रश्न को लेकर और अधिक तात्विकता और व्यापकता ग्रहण करती है।

लोक-संज्ञान के गर्भ से परीक्षा धात्री के हाथों विद्या का जन्म होता है। लोक-संज्ञान में वस्तु और मूल्य दोनों की ही प्रतिपत्ति होती है किन्तु इनकी परीक्षा और परिणाम पृथक् धाराओं में विकसित होते हैं। वस्तु-प्रतिपत्ति की परीक्षा भी दो विविक्त किन्तु संयुक्त दिशाओं में होती है। एक ओर प्रवृत्ति-सामर्थ्य के आधार पर तथ्य-परीक्षा सम्पन्न होती है जिसमें तर्क और अनुमान भूयोदर्शनात्मक प्रत्यक्ष से समर्थित होते हैं। इस प्रकार से विशोधित और परीक्षित ज्ञान ही विज्ञान पद पर आरूढ होता है। प्रगतिशील समाज में व्यावहारिक आवश्यकता से विज्ञान की वृद्धि होती है और वह व्यवस्थित शास्त्रीय रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार की व्यवहाराश्रित, तथ्यनिर्णयाभिमुख वैज्ञानिक परीक्षा के साथ, जोकि दृष्टविषयक खण्ड सत्य की उपलब्धि करती है, एक अन्य प्रकार की परीक्षा भी संलग्न रहती है जो व्यावहारिक आवश्यकता से प्रवृत्त न होकर मन के स्वारसिक सत्य-पक्षपात और जिज्ञासा से प्रवृत्त होती है। जिज्ञासा मात्र में ज्ञान का एक आदर्श अन्तर्निहित है जिसके प्रकाश में उपलब्धि का विवेचन अग्रसर होता है। वैज्ञानिक विवेचन नूतन और व्यवहार्य तथ्यों की उपलब्धि करता है, दार्शनिक विवेचन उपलब्ध तथ्य में अन्तर्निहित तत्त्वों का अवधारण करता है। तत्वावधारण तथ्याविष्कार से भिन्न है किन्तु दोनों परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। यही स्थिति मूल्य प्रतिपत्तियों के विवेचन में भी है। जहां एक ओर मूल्यों की उपलब्धि और अभिव्यक्ति की सृजनात्मक धारा है, दूसरी ओर उनकी तात्विक आलोचना की। पहली धर्म, काव्य, कला आदि में प्रवाहित होती है, दूसरी तद्विषयक दार्शनिक आलोचना में। शास्त्र-रचना के स्तर पर ज्ञान के विभिन्न रूप, विधि और मूल पर विमर्श के साथ ज्ञान की तात्विक परीक्षा का एक शास्त्र के रूप में जन्म होता है। इस प्रकार दार्शनिक परीक्षा तथ्यविकल्प, मूल्यानुभूति, एवं व्यवस्थित ज्ञान के तीन स्तरों पर तात्विक अवधारण के रूप में विकसित होती है।

यह निर्विवाद है कि दार्शनिक विमर्श संशयपूर्वक होता है। संशय की उत्पत्ति सादृश्यमूलक अनवधारण, विप्रतिपत्ति और अव्यवस्था से कही गई है। वस्तुतः सादृश्य और अव्यवस्था की प्रतीति से उत्पन्न संशय सामान्य व्यवहारिक चिन्तन और वैज्ञानिक अनुसन्धान में विशेष उपयोगी होते हैं। साधारण अनुभव और उसके विश्व को लेकर लोक-संज्ञान की चिरन्तन विप्रतिपत्तियां ही दार्शनिक विमर्श की स्थिर भूमिका हैं। इन विप्रतिपत्तियोंसे उत्पन्न संशय व्यवहार के बाधक नहीं हैं किन्तु इस लोक-व्यवहार की आधारभूत उपलब्धियां ज्ञान के आदर्श की दृष्टि के सदा अधूरी रहती हैं और दार्शनिक विमर्श में यह आशा रहती है कि विचार की कीमियागरी प्रतीय-

मान सत् के अन्तराल से परमार्थ का स्वर्ण उपस्थित कर सकेगी जोकि आदर्श ज्ञान का गोचर होगा।

लोक–विदित इन चिरन्तन संशयों का निदान और उपाय क्या है, इस प्रश्न को लेकर साम्प्रतिक दर्शन में पर्याप्त चर्चा हुई है। प्राचीन यूनानी धारणा थी कि इन्द्रियगोचर सत् अपारमार्थिक होने के कारण दुर्निवार संशयों को जन्म देता है और परमार्थ केवल बुद्धिगोचर है। बौद्धिक ज्ञान तात्विक, परिभाषित, हेतुमत्, संशयमुक्त माना जाता था और उसका आदर्श गणित में चरितार्थ। दार्शनिक का कार्य है तार्किक विमर्श के सहारे ऐसी तत्व-व्यवस्था का प्रतिपादन जिसमें समस्त विश्व स्वरूपतः आदर्शित हो सके और यह आदर्श ज्ञान होना चाहिए बुद्धि के लिए नियत और अनिवार्य। मध्यकाल में बौद्धिक ज्ञान को सर्वोच्च ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान से अवर किन्तु उसका अविरोधी माना गया और फलतः सही दर्शन को धार्मिक श्रद्धा का सहचर। आधुनिक युग में एक ओर पुरानी तर्क-प्रधान बुद्धिवादी आदर्श की धारा उन्मज्जित हुई, दूसरी ओर प्रयोगात्मक विज्ञान के साथ नये प्रत्यक्ष-वाद की। सम्यग्ज्ञान के रूप में विज्ञान के लोक-स्वीकृत होने पर प्रत्यक्षवाद की पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृति अनिवार्य थी। इस दृष्टि से परम्परागत दार्शनिक संशय या तो अतीन्द्रिय ज्ञान की दुरभिलाषा के कुपरिणाम हैं, या सर्वमान्य लौकिक प्रतिपत्तियों के विशदीकरण के प्रसंग में उत्पन्न हैं। फलतः अधिकांश परम्परागत दर्शन को निरर्थक मानना पड़ेगा और इस निरर्थक वाग्जाल के उद्धार का उपाय खोजना पड़ेगा सामान्य लौकिक भाषा के विश्लेषण अथवा परिष्कार में अथवा एक नई सांकेतिक भाषा के निर्माण में। इस दृष्टि से दर्शनिक संशयों से मुक्ति के लिए हमें वही जानने और कहने का प्रयास करना चाहिए जो सम्भव है, और सम्भवासम्भव का निर्णय अन्ततः प्रत्यक्षविश्रान्त समझना चाहिए।

इस प्रकार की धारणा वस्तुतः लौकिक और वैज्ञानिक प्रतिपत्तियों का मूर्धाभिषेक है और एक ऐसी सांस्कृतिक दृष्टि की उपज है जिसमें कोई दार्शनिक अनिवार्यता नहीं है। कांट को विज्ञान की प्रगतिशीलता ने प्रभावित किया किन्तु वैज्ञानिक धारणाओं की परिवर्तनशीलता की ओर उसने यथो-चित ध्यान नहीं दिया। विज्ञान की व्यावहारिक आश्वास्यता को प्रत्यक्षवादी सत्य के नाम से पुरस्कृत कर सकते हैं किन्तु वे स्वयं कांट की मूल समस्या का उत्तर नहीं दे सकते। वे यह नहीं बता सकते कि गणित में उपयोगिता और अनिवार्यता दोनों किस प्रकार समन्वित होकर उपलब्ध हो सकती हैं। और दर्शन का निषेध करते हुए वे स्वयं अपने निषेध की दार्शनिकता से मुक्ति नहीं पा सकते।

जिस इन्द्रियगोचर स्थूल जगत् में लोग साधारणतया प्रतिपन्न होते हैं उसी की सूक्ष्म कारण-व्यवस्था को विज्ञान संकेतित करता है। फलतः वैज्ञानिक ज्ञान से स्थूल जगत् में मनुष्य की व्यवहार-शक्ति बढ़ जाती है और यही उसकी वैज्ञानिक आस्था का मूल है। किन्तु इससे दार्शनिक संशय निवृत्त नहीं होते क्योंकि वे मनुष्य के उभयलोकी होने के कारण उपजते हैं। जिस प्रकार इन्द्रिय-संवेदन प्राकृतिक ज्ञान का द्वार है उसी प्रकार सभी में न्यूनाधिक मात्रा में स्वानुभूति भी विद्यमान रहती है और वही परमार्थ के ज्ञान का सूत्रपात है। स्वभावतः मनुष्य अपने को केवल प्रकृति का अंग नहीं मानता। उदाहरण के लिए वह यह जानता है कि सभी प्राकृतिक घटनाएं नियत कारणों से होती हैं और परतन्त्र हैं, किन्तु वह अपने को स्वतन्त्र मानता है। सब ओर अस्थिर और भंगुर जगत् के अन्दर भी वह अपने लिए अमृत्व की आशा छोड़ना ठीक नहीं समझता। दृष्ट जगत् की व्यवस्था से वह अदृष्ट और पुरुषवत् शक्ति की उसके आधार के रूप में कल्पना करता है और अपने जीवन की नियति को अपनी आत्मिक योग्यता से असंलग्न नहीं मानना चाहता। इन और ऐसी अन्यान्य सहज धारणाओं को सहसा भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में वे समर्थित हैं। धर्म का प्रवर्तन अनुभूति के एक असाधारण स्तर पर प्राप्त ज्ञान के आधार पर माना जाता है। सामान्य लौकिक अनुभूति ही सत्य है, और यह असाधारण आध्यात्मिक अनुभूति, जिसकी कुछ कुछ झलक भावनात्मक स्तर पर जीवन में बहुधा उपलब्ध होती है, सर्वथा असत्य है, यह कोई सहज-सिद्ध मान्यता नहीं है। आध्यात्मिक और लौकिक प्रतीतियों का असामंजस्य अवश्य संशय उत्पन्न करता है और यही है चिरन्तन दार्शनिक संशयों की उत्पत्ति–भूमि।

साधारण मानव-चेतना में स्वसंवेदन और इन्द्रिय-संवेदन अविविक्त रहते हैं और उनकी मध्यभूमि में विकल्प का छायातप रहता है जो संवेदन की अपरिच्छिन्न पर विशकल स्फुटता में अस्फुट स्वसंवेदन को इकाई और शब्द-संकेत की योजना के द्वारा परिच्छेद और व्यवस्था का निवेश करता है और गृहीत क्षण को लक्षण प्रदान करता है। इस सहज अविवेक पर प्रतिष्ठित साधारण ज्ञान में इस मौलिक अभ्यास के कारण एक और अनेक, नित्य और अनित्य, विषयी और विषय, शब्द और ज्ञान, ज्ञान और आकार, आकार और वस्तु आदि का भी अध्यास सिद्ध होता है। सभी व्यवहार में सामान रूप से व्याप्त होने के कारण यह अध्यास व्यवहार का बाधक न होकर उसमें अनिवार्य रूप से पूर्वाक्षिप्त होता है। किन्तु चेतना की प्रान्त-भूमिक अवस्थाओं में, जब यह प्रधानतया प्रत्यक्षविश्रान्त होती है अथवा

आत्मविश्रान्त, तब व्यावहारिक और विकल्पसिद्ध प्रतीतियों का अन्तर्गत विरोध उभरने लगता है। इस विरोध को लक्षित कर जो संशय और जिज्ञासा प्रवृत्त होती है वह स्पष्ट ही न व्यवहार का अंग है न स्वरूप-स्थिति का, बल्कि उनके विवेक को निरुपित करने के लिए विचार का मन्थन है। इस प्रकार का विवेचन उपर्युक्त अध्यवसाय अथवा विकल्प से बहुत अलग है। मुख्य विकल्प इन्द्रिय-संवेदन के द्वारा वस्तु-सारूप्य की आकांक्षा रखता है और व्यवहार-समर्थ प्रमा के रूप में वैज्ञानिक ज्ञान का अंग बनता है। विवेकाभिमुखी विचार की अन्तर्बाह्य दशा होती है, उसका एकार्ध बाह्याभिमुख है, अपरार्ध आत्माभिमुख। इसीलिए पारमार्थिक दर्शन अथवा आध्यात्मविद्या के प्रतिपादक वाक्यों में अभिधा के साथ शब्द के अन्य अभिव्यंजक व्यापार सम्पुटित रहते हैं।

तथ्याभिधान और आत्माभिव्यक्ति के इस संश्लेष को उद्धारातीत दोष भी माना गया है और इस अभियोग पर अध्यात्मविद्या को दर्शन-बाह्य विज्ञापित किया गया है। तथ्य, हेतु और मूल्य का पृथक् पृथक् विश्लेषण और व्यवस्थापन मानो विचार का मूर्धन्य सिद्धान्त हो। वास्तव में यदि तथ्य और हेतु सर्वथा पृथक् होते तो भौतिकी और गणित कभी सम्बद्ध न हो पाते, और न कभी तर्कशास्त्र कोई व्यावहारिक उपयोग पाता। तथ्य-सम्बन्ध में नियम की अनुपलब्धि और उपलब्ध नियम को आकार-मात्र-विश्रान्त मानना वास्तव में 'नियम' की समस्त सार्थकता हर लेता है। ज्ञान का स्वतः कोई आकार नहीं होता है, ज्ञेय का आकार ही ज्ञान में भासित होता है। अन्यथा ज्ञान और कल्पना, अनुभव और भ्रान्ति का भेद ही मिट जाएगा। अर्थाव्यभिचारी ज्ञान का प्रकार ज्ञानातिरिक्त ज्ञेय के द्वारा नियत होता है और यही समस्त ज्ञानगत नियम का मूल है। अर्थात् ज्ञानाकारिक नियम को अन्ततः वस्तुमूलक ही मानना चाहिए, ज्ञानमूलक नहीं। जहां तक आहार्य ज्ञान का प्रश्न है, वह कल्पना से अभिन्न है और उसमें वही नियम उपलब्ध होता है जो परिभाषा के द्वारा अथवा प्रयुक्त संकेतों के आहार्य अर्थों के द्वारा उसमें पूर्वनिवेशित हो। इस प्रकार का कल्पना-विलास सम्भावनाओं के प्रकाश के रूप में उपयोगी होते हुए भी ज्ञानगत नियम के प्रकाश में असमर्थ है।

हेतु और मूल्य का असम्बन्ध स्वीकार करना सभी सांस्कृतिक विकास और शिक्षण की सम्भावना पर कुठाराघात होगा। जैसे तथ्य का निर्णय प्रत्यक्षपूर्वक हेतु-प्रयोग के द्वारा होता है—और इस निर्णय के ज्ञापक हेतु अपना नियामक पाते हैं वस्तु-स्वभाव में, ऐसे ही मूल्य-निर्णय भी अनुभूतिपूर्वक हेतु-प्रयोग के द्वारा होता है। इसी पर विभिन्न सांस्कृतिक

व्यापारों की समीक्षा और तद्गत विवेक का शिक्षण आधारित है। हेतु कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जहां भी दो विषयों का अनौपाधिक सम्बन्ध उपलब्ध होता है वहां उनमें ज्ञाप्य-ज्ञापक-भाव भी व्यक्त हो जाता है। यह मूल्योपलब्धि में उतना ही सम्भव है जितना तथ्योपलब्धि में।

तथ्य और मूल्य का प्रविभाग साधारण तौर से इस धारणा पर आश्रित है कि वास्तविकता कारित्रमूलक और स्वतन्त्र होती है जबकि मूल्य पुरुषापेक्ष होते हैं। किन्तु मूल्य अभीष्ट या काममात्र नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे भी विवेक के विषय हैं। उन्हें एषणीय एवं प्रेयोव्यतिरिक्त श्रेयो-रूप मानना चाहिए। रूप, राग, रस, और धर्म चित्तसापेक्ष होते हुए भी स्वभाव-प्रतिसंयुक्त हैं एवं एक बुद्धिगोचर व्यवस्थित विश्व का आक्षेप करते हैं। अन्ततोगत्वा आत्मानुभूति अथवा ईश्वरानुभूति में सत् के दोनों आयाम—वास्तविकता और मूल्यवत्ता—एकत्र हो जाते हैं। यदि वास्तविकता की व्याख्या केवल अर्थक्रियाकारिता की जाए तो प्रमेय-मण्डल वस्तु-मण्डल से विपुलतर हो जाएगा, क्योंकि उसमें कम से कम अतीत और अनागत, सम्भाव्य और सामान्य आदि विषयों को अन्तर्भुक्त करना होगा। कारित्र-रहित होने के कारण इस प्रकार के विषय अवस्तु कहे जा सकते हैं, किन्तु वे पृथक् पृथक् सम्यग्ज्ञान के विषय होने के कारण प्रविभक्त प्रमेय भी हैं। यह कहा जा सकता है कि असत् का असत्व-ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है, तो क्या असत् को भी प्रमेय के अन्तर्गत माना जाएगा? वास्तव में असत् स्वतः निरुपाख्य और अनुदाहार्य है। अन्ततः असत्व-प्रतिपत्ति प्रकार-व्यवच्छेद से अभिन्न है। फलतः यह मानना होगा कि प्रतीयमानता सत् के निरूपण में अपार्थक न होकर उसकी प्रथम और अन्तरंग सूचना है। विकल्प के द्वारा सत् के स्वरूप को जो हम व्यवस्थित करते हैं उसके लिए प्रतीति का अविरोध आवश्यक है जब हम प्रतीतियों के साक्ष्य में विरोध-परिहार के लिए उनका बलाबल विचारते हैं तो हम वास्तव में प्रतीति-गोचर को एक बृहत्तर विश्व के अंग के रूप में आँकते हैं। प्रत्येक विकल्प या अध्यवसाय इस विश्वावधारणात्मक अनन्त अनुसन्धान की एक कड़ी है। इस अनिवार्य अनन्तता का ही परिणाम है कि कभी भी हमारा अवधारित विश्व समग्र रूप में एक समंजस इकाई नहीं बन पाता, क्योंकि वह तो जिज्ञासा का अन्त होगा। हम प्रयोजन और दृष्टि के भेद से खण्ड विश्वों की कल्पना करते हैं। किसी भी खण्ड में सत् पूरा नहीं समाता।

प्राकृतिक प्रवृत्तियों के लिये सार्थक अर्थक्रियाकारी वस्तुओं के विश्व में केवल औपाधिक मूल्य ही सामान्यतः स्थान पाते हैं। इष्ट-साधन अथवा उपयोगी वस्तुओं की मूल्यवत्ता स्वतः न होकर इष्ट-सिद्धि में उपकारक

होने के कारण होती है। जो तत्व इष्टता के अन्तरंग हैं वेही मूल्यस्वरूप हैं। साधारण तौर से इच्छा के विषय बदलते रहते हैं और उसी विषय में इष्टता और अनिष्टता का विरोध देखा जा सकता है। किन्तु यह विरोध तभी तक रहता है जब तक हम विषय के स्वरूप को उपर्युक्त अर्थ में केवल वस्तु–स्तर पर अथवा केवल शुष्कज्ञान के गोचर तत्वों के स्तर तक आलोचित करते हैं। वस्तुतः मूल्यस्वरूप अर्थ का अनुभव भाव–रहित नहीं होता। स्वरूपगत मूल्य भावनागम्य अर्थ है। यह सही है कि इस प्रकार का भावालम्बन अवास्तविक भी होता है और उसकी सार्थकता या विभावकता संस्कारोद्‌बोधन के द्वारा सम्पन्न होती है क्योंकि इच्छाएं और भाव संस्कार के अंकुश के वश में रहते हैं। यहां पर यह संशय स्वाभाविक है कि इस दृष्टि से मूल्यबोध सदा ही अतर्क्य रुचि का व्यापार बन कर विवेक के लिये वर्जित–प्रवेश बन जाएगा। यह मत अवश्य ही उस अपरध्रुवीय मत से कम युक्तिसंगत नहीं लगता है जिसके अनुसार मूल्य एक शाश्वत अफलातूनी आदर्श–विश्व के निवासी हैं और मानव–चेतना को अपने आकर्षण का सन्देश भेजते रहते हैं। किन्तु वस्तुतः इच्छा और भाव से असम्पृक्त, हृदय से असमर्थित अर्थ चेतना का लक्ष्य नहीं बन सकते और न पुरुषार्थ–पद पर आरूढ़ हो सकते हैं।

वास्तव में मूल्यों की भोगवादी व्याख्या उनके प्रति मनुष्य के प्राकृतिक अस्तित्व के सहज आग्रह का परिणाम है। प्रकृतिवादी दृष्टि से मूल्य केवल भोग्य अर्थ रह जाते हैं। दूसरी ओर उनकी आदर्शवादी व्याख्या भावसंवित्ति की ग्राह्यातिक्रामी सघनता की ओर गजनिमीलिका बरत करके आलम्बनों का मानो वस्तुसात्करण सम्पादित करती है। आकार अपनी किसी स्वरूप–योग्यता के कारण भाव के आलम्बन नहीं बनते हैं और उनका प्रकट वैचित्र्य यह सूचित करता है कि उनके आलम्बन बनने की नियामकता वासना अथवा संस्कारों में निहित है। भाव के आलम्बन वस्तुतः भाव की आन्तरालिक संवित् के बाह्य प्रक्षेप मात्र हैं जो कि कल्पना और सम्प्रेषण के स्तर पर उसके प्रतिबिम्ब और संकेत बन जाते हैं। यह आन्तरालिक संवित्, सविशेष, सवासन और सालम्बन किन्तु अपेक्षाकृत व्यवहारनिवृत्त और अव्यग्र स्तर पर आत्मानन्द का आभास अथवा चिदावरण-भंग है। नैतिक आयाम हो चाहे रसिक, ज्ञान का अनुसन्धान हो चाहे देवोपासना सर्वत्र मूल्योपलब्धि में क्षुद्र अहं अथवा व्यक्तित्व का एक विकल्पातीत सत् के भान में विलयन होता है। उदाहरण के लिए, कर्म में कर्तव्यता का बोध अपनी ही सार्वभौम आत्मा की प्रेरणा के रूप में नैतिक स्वातन्त्र्य एवं नियम के विरोध को हर सकता है। साहित्य और कला की सार्थकता स्व–

भाव को प्रतिबिम्बत कर स्वानुभूति की अभिव्यक्ति से ही होती है। ज्ञान के अनुसन्धान में जिज्ञासु के नित्य गुरु के रूप में अखिल-साक्षि-भाव ही रहता है जो कि जिज्ञासु को स्वयं अपनी चैतसिक प्रवृत्तियों से तटस्थ कर देता है और सभी सापेक्ष प्रतीतियों और विकल्पों को उस प्रकार के अनिवार्य सत्य की कसौटी पर जाँचने की प्रेरणा देता है जो स्वानुभूति में झलकती है। ज्ञान का आदर्श वस्तुतः आत्मज्ञान ही है। देवोपासना की सिद्धि भी तभी होती है जब उपासक और उपास्य में एक रहस्यात्मक अभेद का उन्मीलन होता है।

नानास्तरीय और संकीर्ण प्रतीतियों में तरंगित मानव चेतना आधिभौतिक और आध्यात्मिक तटों के अन्तराल में प्रवाहित होती है। व्यावहारिक आग्रह प्रतीयमान सत् को कारित्र की कसौटी पर परखता है तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान के संयोग से एक प्राकृतिक विश्व की कल्पना करता है। लौकिक प्रतिपत्ति एवं विज्ञान इसी प्रकार की कल्पना के अपरीक्षित और परीक्षित रूप हैं। लौकिक प्रतिपत्ति में बहुत से आध्यात्मिक विश्वास परम्परागत और रूढ़ रूप में मिले रहते हैं और इस कारण अल्प विमर्श से भी उसमें विप्रतिपत्ति और संशय उपजते हैं। विज्ञान सप्रयत्न केवल वस्तुपरक है और एक निरन्तर प्रमाण-परीक्षा के द्वारा अधिकाधिक संभाव्य सत्य की ओर अग्रसर रहता है। लौकिक और वैज्ञानिक प्रतिपत्तियों के स्पष्टीकरण, व्यवस्थापन और प्रामाण्य के परीक्षण की विधि के व्यवस्थित विमर्श को न्यायविद्या के रूप में दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत चिरकाल से माना जाता है, किन्तु यह सत्य नहीं प्रतीत होता कि दार्शनिक विवेचन केवल इस प्रकार का परीक्षण अथवा कल्पना मात्र है—सामान्य भाषा और लोक-संज्ञान के स्तर पर, या विशुद्ध आकारिक स्तर पर। सत्यासत्य का निर्णय अन्ततः अनुभव पर निर्भर है यद्यपि अनुभव केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं है। विशुद्ध कल्पना अथवा आहार्य-विषयक तर्क इस प्रकार के याथार्थ्य-निर्णय की ओर चिर उदासीन हैं और सामान्य भाषा एवं लोकानुभव अपरिहार्य विरोधों से ग्रस्त होने के कारण पूर्णतः श्रद्धेय नहीं हैं। इस प्रकार के सामान्य अनुभव पर आधारित वस्तु-सम्बन्धाभिलाषी परम्परागत तर्कशास्त्रों की मूल अवधारणाएं स्वयं भी अपरिहार्य प्रसंग उत्पन्न करती हैं। फलतः तर्कशास्त्र अर्थनियत अथवा आहार्य व्यावहारिक ज्ञान के संस्थान का निरूपण होते हुए भी सत् अथवा उसके आदर्श ज्ञान का निरूपण नहीं है। तर्कशास्त्र की यह सीमा उसके शुष्कज्ञान के अन्तर्गृहीत होने के कारण है। सत् केवल व्यावहारिक वस्तुमात्र नहीं है और न उसका पूरा परिचय केवल प्रत्यक्ष और तदाश्रित अनुमान के सहारे सम्भव

है ।'अतिगभीरं भावयाथात्म्यम्' । इस पारमार्थिक स्वभाव की झलक भाव के स्तर पर भी होती है । मूल्यात्मक सत् का विवेचन अध्यात्मविद्यारूपी दर्शन का उत्तरार्ध है । प्रकृति-पुरुषात्मक द्वैत से ग्रस्त अपने बोध का तात्विक विवेचन दार्शनिक को लोक-व्यवहार के परे अपने आध्यात्मिक स्वरूप की सूचना की ओर ले जाता है ।

सत् के दो पक्ष—वस्तु और मूल्य

प्रश्न का सांस्कृतिक मूल[1]

वस्तु और मूल्य के तात्विक असम्बन्ध को स्वीकार करने से "मूल्य" को "वस्तु" में घटाने (रिडक्शन) की दार्शनिक प्रवृत्ति ने मुख्यतः अठारहवीं शताब्दी के बौद्धिक जागरण (अउफ़क्लेरुंग) से जोर पकड़ा। आदर्शवादी और अध्यात्मवादी चिन्तन में निरन्तर एक परमार्थ की कल्पना रहती है जिसमें 'अस्ति' और 'प्रिय' दोनों एक ही अखण्ड सत् के दो रूप हो जाते हैं। अठारहवीं शताब्दी से बहुधा इस निष्ठा को काव्योचित रूमानियत माना जाता है। अग्रसर विज्ञान के आदर और धर्म के प्रति अनास्था ने दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में यथार्थ और आदर्श की वस्तुवादी परीक्षा को प्रोत्साहित किया है। ह्यूम की रचनाओं में, विशेषतः "ट्रीटिज़ आव ह्यूमन नेचर" में, इस संशयालु परीक्षा ने अपनी पहली और कुशाग्रतम विज्ञप्ति प्रकाशित की। इन संशयों ने मानों सत् के वक्ष को सदा के लिए दो भागों में चीर दिया। ह्यूम के शब्दों में "नीति और आलोचना असल में ज्ञान के विषय न होकर रुचि और भाव के विषय हैं। सौन्दर्य, चाहे नैतिक हो या प्राकृतिक,

---

१ यदि दार्शनिक प्रश्न वस्तुमूलक होते तो वे वैज्ञानिक रीति से हल किए जा सकते। यदि वे मानव-प्रकृति से उद्भूत होते तो सभी मनुष्य उनमें रुचि रखते। यदि वे शब्दमूलक होते तो कभी के छोड़ दिए गये होते। वस्तुतः इन प्रश्नों का मूल सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य की असंगतियां एवं अपारदर्शिताएं होती हैं। चिर-विदित वस्तुओं के काल्पनिक पर्यावरण ही दार्शनिक प्रश्नों के छायातप को जन्म देते हैं। इन कल्पनाओं की आवश्यकता ऐतिहासिक ही प्रतीत होती है। यह स्मरणीय है कि 'निमित्त-ग्रहण' (बौद्ध अर्थ में) वासनापेक्ष होता है और 'विसंस्कारगत चित्त' के सभी संशय क्षीण हो जाते हैं।

भावगोचर होता है नकि प्रत्यक्षगोचर। या अगर उस पर विचार करें और उसके लिए एक कसौटी बनाने का यत्न करें तो एक नई बात पता चलती है, यानी मनुष्य जाति की आम पसंद....।" वस्तु-जगत् शिव और सौन्दर्य की ओर उदासीन है और उसकी सूचना केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से होती है।

यह सही है कि ह्य म के संशय नियत सत्य के वैज्ञानिक दावे के लिए भी बाधक हैं। देकार्त ने वैज्ञानिक सत्य को गणितोपयोगी तर्क-पद्धति की अनिवार्यता से मण्डित करने का यत्न किया था, किन्तु ह्यू म ने यह प्रदर्शित किया कि वस्तुविज्ञान का क्षेत्र तार्किक अनिवार्यता से बहिर्भूत है और जिस कार्यकारण भाव पर उसके समस्त नियम आश्रित हैं वह स्वयं एक वासना-मात्र प्रतीत होता है। किन्तु विज्ञान की बढ़ती कीर्ति के समक्ष ह्यू म के ये संशय विभिन्न दिशाओं से अनादृत हो गए। विज्ञान का सत्य न सिर्फ वस्तु-पाती है बल्कि उसमें एक युक्तिसिद्ध अनिवार्यता है, और इसलिए विज्ञान व्यवहार्य भी है और आस्थेय भी, उसकी पद्धति अपने वेग से स्वयं सत्य की ओर क्रमशः बढ़ती हुई वस्तु-ज्ञान की एकमात्र पद्धति है—इसे स्वीकार करने पर समस्त प्रमेय-मण्डल विज्ञान-कवलित हो जाता है तथा नीति और धर्म को काव्य और कला के समान प्रमातिरिक्त चेतना के प्रकार मानने के सिवा चारा नहीं रहता। वैज्ञानिक प्रमा और सांस्कृतिक भावना के बोध-भेद के समानान्तर ही वस्तु और मूल्य का भेद भी प्रतिष्ठित है।

ज्ञान और वस्तु

ज्ञान वस्तुपरक और वस्तुतन्त्र होता है, वस्तु ज्ञान के द्वारा ग्राह्य और उसकी नियामक होती है। इस प्रकार विषयता और स्वतन्त्रता वस्तु के मूल लक्षण हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वस्तु में लक्षण-योग्यता होती है और उसका लक्षण उसका अपना होता है। विषय के अस्तित्व की प्रतीति प्रतीतिमात्र से अलग नहीं की जा सकती। भ्रान्ति की सम्भावना से और अभाव की भी प्रतीति होने से यह सिद्ध होता है कि अस्तित्व केवल प्रतीयमानता नहीं है। वस्तु का अस्तित्व अन्य वस्तुओं के अस्तित्व को प्रभावित करता है, केवल अस्तित्वरहित "वस्तु" ही सब ओर से तटस्थ होती है। अस्तित्वरहित वस्तु का निदर्शन कल्पना प्रस्तुत करती है नकि ज्ञान। कल्पना अपने विषय का नियमन करती है, ज्ञान का नियमन उसका विषय करता है।

विषय के प्रकाशन को हम ज्ञान परिभाषित करते हैं, किन्तु ज्ञान यदि विशुद्ध प्रकाश होता तो वह सर्वथा अबाध होना चाहिए था, होता है वह अनित्य और सविशेष। अपरोक्षता में इन विशेषों के सन्निवेश का मूल ज्ञान

का स्वयं अर्धवस्तुभाव अथवा चित्तभाव है जिसमें विषयान्तर द्वारा विषयता, ज्ञापन-सामर्थ्य एवं ऐतिहासिक अस्तित्व उपलब्ध होते हैं। चैतसिक इतिहास के कारण ही ज्ञान अनायास विज्ञान की ओर मुड़ता है और वस्तुसत् को केवल प्राकृतिक अस्तित्व निर्धारित करता है।[1]

विज्ञान और प्रकृति

प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में नाना इन्द्रिय-विज्ञानों के द्वारा विषयों के क्षणिक और अधूरे परिचय उन्मिषित होते हैं। परिस्थिति के सम्पर्क से उद्भूत इन जैव प्रतिक्रियाओं के द्वारा जीवनोपयोगी क्रियाओं का सेतुवत् निर्धारण होता है, और जीव और परिस्थिति के इस अन्योन्य-संघट्टन के संस्कारों से चित्त का विकास सम्पन्न होता है। मनुष्य का मस्तिष्क चिरकालीन जैव-विकास का परिणाम है[2]। इसी कारण मन का स्वभाव वासनात्मक है और उसकी क्रियाएं प्राणी की परिस्थिति के अनुकूल अपने को और परिस्थिति को अपने अनुकूल ढालने की स्थूल क्रियाओं की प्रतिध्वनि और प्रारूप प्रतीत होती हैं। जैव-विकास की प्रक्रिया में मन का विकास ज्ञानेन्द्रियों से कर्मेन्द्रियों तक विस्तृत प्राणिक व्यापार के संयोजन और निर्देशन के लिए एक मध्यवर्ती केन्द्र के रूप में हुआ है। बुद्धि का व्यावहारिक आग्रह अपने इसी ऐतिहासिक मूल का परिणाम है। इस दृष्टि से ज्ञान की सत्यता उसकी व्यवहार-स्थल पर अविसंवादकता हो जाती है। इसमें ज्ञान विषयक दो सम्भावनाएं पहले से मान ली जाती हैं—उसकी व्यवहार्यता और उसमें अबाध्यता का अभाव। ज्ञान की व्यवहार्यता ज्ञेय की कार्य-सामर्थ्य का अनुमान कराती है। उसकी सत्यता के लिए आवश्यक है कि वह बाध-सम्भावना के अतिक्रमण के बिना अपने तर्कित योग्यता के क्षेत्र में बाधित न हो। बाध की सम्भावना इस ज्ञान को साक्षात् अथवा परंपरया स्वतःसिद्ध ज्ञान से पृथक् करती है। इस ज्ञान के स्वरूपसिद्ध न होने का एक अर्थ तो यह है कि इसका विषय ज्ञान के लिए आगन्तुक एवं

---

१ ज्ञान की अपरोक्षता उसके सर्वथा वस्तुसात्करण में बाधक है। इसी कारण चित्त और भूत के मौलिक तादात्म्य का प्रस्ताव भी बाधित है। यह कहना कि चित्त का व्यवस्थापक तत्व घटनाओं की स्मृति-शृंखला है, इस बात की विस्मृति है कि स्मृति स्वयं विशुद्ध रूप से चैतसिक है। कम से कम स्मृति की चैतसिकता चित्त की अन्य वृत्तियों से हीन नहीं है।

२ ललाट के पिछले भाग में स्थित मस्तिष्क के कोशों के साथ नैतिक भावनाओं का सम्बन्ध उन्हें जैव विकास का परिणाम सूचित करता है।

स्वप्रकाशता से रहित है, और दूसरा यह कि इसके विषय का स्वरूप अस्तित्व से भिन्न है। मन के लिए यह ज्ञेय यथाकथंचित् भी कल्पनीय है, ज्ञान उसके सम्भव स्वरूपों का अस्तित्व से सम्बन्ध सूचित करता है।

प्रत्यक्ष अवभास वास्तविकता का प्रथम उन्मेष है। युक्तिसिद्ध और दृक्सिद्ध विज्ञान उसका विप्रथित रूप है। विषयता, जड़ता, कारित्रयोग एवं अन्य-व्यावृत्ति के द्वारा 'वस्तु' अथवा 'अस्ति-लक्षण' का परिच्छेद होता है। देश, काल और निमित्त के आयामों में परिगृहीत वस्तुओं का संश्लिष्ट रूप प्रकृति है और यह प्रकृति ही विज्ञान का मुख्य विषय है। यह भी कहा जा सकता है कि परीक्षा-विशोधित ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अनुमान पर आधारित ज्ञान विज्ञान है और यदि वही ज्ञान हो तो उसके द्वारा प्रकाशित जगत् ही वास्तविक जगत् है।

एषणा का आत्मिक मूल

प्राकृतिक जगत् के विराट् जड़ विस्तार के समक्ष मानवीय मूल्य-चेतना निष्प्रभ हो उठती है। यह स्पष्ट है कि जड़ वस्तु में स्वतः मूल्य से कोई लगाव नहीं है। चेतन मनुष्य का स्वभाव ही मूल्य-बोध का मूल हो सकता है। इस चेतन स्वभाव का परिज्ञान आत्मबोध के विश्लेषण के द्वारा ही सम्भव है।[1]

आत्म-बोध का द्वैत

अनुभव के सब प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रमाण-वृत्तियों में नहीं समा जाते। साक्षात्कारिता ही ज्ञान का प्राण है और उसकी यह **विषयिता** विषयता से 'उजाले और अँधेरे के समान' असंकीर्ण है। विषयी और विषय, ज्ञान और वस्तु, चित्त और भूत, आत्मा और अनात्मा, एक ही मूल भेद के औपाधिक प्रभेद हैं। परस्पर अध्यास से यह खाई पटती-सी है, पटती नहीं। सदा ही विभिन्न स्तरों पर एक बाह्य अनात्मलोक के समानान्तर एक आन्तरिक, आध्यात्मिक लोक उन्मीलित होता है। पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनुभव के नित्योपस्थित ध्रुव हैं। इस दृष्टि से विज्ञान अनुभव के केवल बहिर्मुख आयाम में आयत्त है। विज्ञान-गोचर मनुष्य पार्थिव जैव-विकास की एक कड़ीमात्र है। जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, नृतत्व-विज्ञान, समाजविज्ञान, इन सब में इसी एक कड़ी का विभिन्न स्तरों पर वस्तुतान्त्रिक विश्लेषण मिलता है। प्राणि-चेष्टा, अन्तःकरणिक संस्कार

---

१ वाट्सन का कहना था कि **मनोविज्ञान** से निकाले जाने पर भी आत्मा चेतना के छद्मवेश में विद्यमान है। किन्तु चेतना के निकाल देने पर तो जगदान्ध्य का प्रसंग दुर्निवार है।

और व्यापार, बाह्य आचार एवं सामूहिक व्यवस्था के विवरण से मनुष्य का केवल एकदेशी ज्ञान होता है, उसकी प्राकृतिक वास्तविकता का, नकि उसकी आध्यात्मिक चेतना का।

सविशेष आत्मबोध और आकारालम्बन

इच्छा, भाव और संकल्प, स्मृति और कल्पना, श्रद्धा और प्रतिभा, चेतना के इन सभी प्रभेदों में सालम्बनता होती है। आलम्बनभूत आकार प्राकृत अस्तित्व से सनाथ (या नाथित !) हैं या नहीं, यह निरपेक्ष रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं है। अस्तित्व आकारापेक्षी है, यद्यपि आकृति-भेद की ओर वह घोर अविवेकी है। आकार तो केवल चेतना में प्रकाशित होने से ही कृतकृत्य हो जाता है। आकार तो चेतना से अव्यवहित रहता है, अस्तित्व सदा व्यवहित। आकार की सत्ता (या स्वरूपमयी सत्ता) सदा एकरस और देश-कालातीत है। वस्तुगत कारित्र उसमें किसी प्रकार का विशेषाधान नहीं करता। इस तरह आकार का कारित्र से सदा ही तटस्थ सम्बन्ध रहता है। प्रकाश्यता और प्रकाशमानता का एक औपाधिक भेद अवश्य आकार में स्वीकार किया जा सकता है। आकारिक भाव या तत्व के द्वारा ही वस्तु-जगत् वाच्य, परामृश्य एवं अध्यवसेय होता है[1]। तत्व-जगत् में अस्ति और नास्ति का स्थान व्यक्त और अव्यक्त ले लेते हैं।

आकार और अर्थ-संकेत

जहां एक ओर आकारिक सत्ता वस्तु में विलीन उसका तत्व है और प्रमाण-वृत्ति के लिए उसे योग्य विषयता प्रदान करती है, वहीं वह प्रमाण-वृत्ति की बहिर्मुखता और शुष्कता से मुक्त चेतना के लिए अर्थवाही संकेत बन जाती है।[2] आकार और उनके वाचक एक सार्थकता के लोक को उप-

---

१ क्रमशः शब्द, क्रिया और कल्पना के सन्निवेश से। इन सभी साधनों के व्यापार के लिए उनका आकृति-योग आवश्यक है।

२ वस्तु में विश्व की खोज और खण्ड प्रतीतियों में आदर्श ज्ञान की खोज को जन्म देने वाला आकार-बोध का प्रकर्ष वस्तु और मूल्य की चेतना के बीच का सेतु है। वस्तु का आदर्श होने के कारण आकार चेतना के लिए मूल्यवाही बन जाता है और वस्तु को सार्थकता प्रदान करता है। वस्तु के व्यावहारिक लगाव न होने पर उसकी यह आकारिक सार्थकता चेतना के लिए निरपेक्ष मूल्य अथवा आनन्द की व्यंजक बन जाती है। नए वर्ण-संस्थान, मानव-व्यक्ति, मानव-जाति आदि के माध्यम से आकारिक सार्थकता के द्वारा चेतना में क्रमशः राग, रूप, रस, धर्म (प्राचीन अर्थ में) आदि के मूल्य समर्पित होते हैं। चेतना के स्व-रूप का ध्यान मुक्ति की अभिव्यक्ति करता है।

स्थित करते हैं जिसमें प्रस्तुत नाम रूप सदा एक अप्रस्तुत अर्थ के संकेत बनते हैं। यह एक भेद भरा संसार है जहां चेतना अप्रमित लक्ष्यों से आती गूंज के द्वारा एक अनन्त दिशा में उद्दिष्ट होती है। वास्तविकता और तात्विकता सांकेतिकता के समक्ष गौण हो जाते हैं और चेतना को अवार्य प्रेरणा उपलब्ध होती है।

अर्थ और पुरुष

चेतना के प्रेरक और आवर्जक ये अर्थ ही पुरुषार्थ या मूल्य हैं। पुरुषार्थों को सामान्यतः पुरुष की एषणाओं के लक्ष्य समझा जाता है। मानव चेतना इन देवायमान लक्ष्यों की नित्य उपासिका है और उनकी वेदि पर अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए प्रस्तुत करती है। तथ्य यह है कि ये देवता चैतन्य के ही आदर्श भाव हैं और उनके सांकेतिक अभिव्यंजन की प्रक्रिया में चेतना मुख्यतः भावात्मक होती है। संवेगपूर्वक लक्ष्यानुसन्धान ही भावना का स्वरूप है जोकि चित्त की तद्गतता और तत्परता से प्रकट होता है। भावना के द्वारा चेतना का आदर्श परिणाम उसके लक्ष्यों की आध्यात्मिकता सूचित करता है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ की व्याख्या होनी चाहिए-पुरुषरूप अर्थ। चेतना का गवेष्य और भाव्य अर्थ पुरुष ही है। पुरुष अपना स्वयं लक्ष्य है और सब मूल्यों का मूल है।

पुरुष और संस्कृति

मनुष्य का आत्मानुसन्धान एक जागरूक प्रकृतिभाव से प्रारम्भ होता है। नाना उपाधियों के माध्यम से नाना स्तरों पर आत्मानुभूति के क्षण ही मूल्यवान्, मूल्योपलब्धि के क्षण होते हैं। जैसे क्षणिक वस्तु-प्रतिभासों के समझने की चेष्टा में विज्ञान एक युक्तिसंश्लिष्ट प्राकृतिक जगत् का निरूपण करता है, ऐसे ही इन अधूरे मूल्यावभासों को समझने की चेष्टा में अध्यात्मसाधना एक युक्तिसंगत सांस्कृतिक जगत् का अभिव्यंजन करती है। धर्म और नीति, काव्य और कला एक ही अनन्तकल आत्मसाक्षात्कार की साधना के नाना रूप और अवस्थाएं हैं। आत्मानुभूति का अनन्त वैचित्र्य ही मूल्यों के व्यवस्थित संसार में संरक्षित है। अपने इतिहास-सिद्ध रूप में मूल्यवान् अर्थों की यही योजना संस्कृति है जो कि फलतः एक प्रकार की संस्कार-विशेष शालिनी आत्मोन्मुख चेतना है।

पराचीन वस्तु और प्रतीचीन मूल्य

आत्मा और अनात्मा के मिथुनीभाव को पुरस्कृत कर जीवभाव सम्पन्न होता है। उसकी पराङ्मुखता या अनात्माभिमान से ही वस्तुभाव व्यक्त होता है और विज्ञान इस वस्तु जगत् के प्रमापन से कृतकृत्य हो जाता है। एक वस्तु के रूप में मनुष्य अन्य वस्तुओं के साथ निरन्तर क्रियात्मक अभिसम्बन्ध

के द्वारा आत्मलाभ करता है। यही उसका अस्तित्व या पारतंत्र्य है। इसको समझने के प्रयास में वास्तविकता तत्व या आकार के लोक में निमज्जित हो जाती है। साथ ही साथ मनुष्य का आत्मबोध ग्राह्याभिमान से छूट कर ग्रहणाभिमान में प्रतिष्ठित होता है। इस स्थिति में अनायास ही सांस्कृतिक संकेतों के सहारे प्रत्यङ्मुखता का विकास और पुरुष-पर्यन्त अर्थ-जगत् का साक्षात्कार होता है। ये अर्थ या मूल्य आत्मानुभूति की ही कलाएं हैं।

सत् का व्याख्या–भेद

इस प्रकार वस्तु और मूल्य दोनों ही अनुभूतिगोचर सत् की दो विभिन्नस्तरीय व्याख्याएं हैं। सत् की वस्तुपरक व्याख्या लौकिक व्यवहार का अंग है, मूल्यपरक व्याख्या आत्म-साधना से अवियोज्य है। व्यवहार और साधना का द्वैत अध्यास की स्थिति में अवार्य है किन्तु उसमें आध्यात्मिक विकास के द्वारा स्थिरीकृत एक तारतम्य है जिसे उलटा समझने के कारण ही कौंत (Comte) ने अपने 'तीन अवस्थाओं के नियम' को प्रतिपादित किया था। देवता वस्तुभ्रान्ति की उपज न होकर विशेष नाम-रूप के संकेतों के द्वारा आवाहित भावात्मक मूल्यों से अभिन्न हैं और तत्वज्ञान व्यावहारिक वस्तुज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। धर्म से विज्ञानोपयोगी कार्य की दुराशा धर्म के प्रति अवहेलना का कारण बनती है, विज्ञान से आत्मज्ञान की दुराशा एक परिष्कृत अध्यात्मविद्या की जननी बननी चाहिए। सत् के निश्शेष वस्तुसात्करण के दुराग्रह से मूल्यों का अवमूल्यन होता है, वस्तुओं के अधिकाधिक तत्वसात्करण में उनके उत्कर्ष का निमित्त निहित होना चाहिए।

उल्लिखित ग्रन्थों की सूची

आगस्टिन, सेन्ट	कनफैशन्स, एवरीमैन्स ।
——————	अभिज्ञानशकुन्तलम्
अभिनवगुप्त	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, निर्णय सागर, १९१८
	परमार्थसार, श्रीनगर, १९१६
अर्बन, डब्ल्यु. एम.	वेल्युएशन इट्स नेचर एण्ड लौज, मैकमिलन, १९०९
अरविन्द	दि लाइफ डिवाइन, कलकत्ता, १९३९
——————	अर्थशास्त्र
अरिस्टॉटल	निकोमेकियन एथिक्स, एवरीमैन्स
आइसैक्सन (सं.)	बेसिक रीडिंग्स इन न्यूरोसाइकोलॉजी, १९६४
——————	ईशोपनिषद्
——————	ऋग्वेदसंहिता
एक्विनास, टामस	सुम्मा थियोलोजिका (अं० अनुवाद, प्र० बर्न्स, ओट्स, एण्ड वोशबोर्न, लन्दन)
एजवर्थ	मैथेमैटिकल साइकिक्स
एल्टन, विलियम (सं.)	इस्थैटिक्स एण्ड लैंग्वेज, आक्सफोर्ड, १९६७
औलपोर्ट, गोर्डन	पर्सनैलिटी, ए साइकोलौजिकल इण्टरप्रिटेशन, १९३७
	पैटर्न एण्ड ग्रोथ इन पर्सनैलटी, १९६१
औस्बोर्न हैरेल्ड (सं.)	इस्थैटिक्स इन दि मौर्डन वर्ल्ड, न्यूयार्क, १९६८
——————	कठोपनिषद्
	कैम्ब्रिज एन्शीयेन्ट हिस्टरी, जि० ५
कासीरर, एच. डब्ल्यु.	कमैन्टरी ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑव जजमैंट, लन्दन, १९३८

कासीरर, अर्नेस्ट	**फिलौसोफी आँव सिम्बौलिक फोर्म्स**, ३ जिल्द, येल, १९६१
कान्ट, आई	**क्रिटीक आँव प्योर रीज़न** (अनु० माइकल जॉन), एवरीमैन्स, १९३४
	फाउन्डेशन्स आँव दि मैटाफिजिक्स आँव मौरल्स (अनु० बैक), शिकागो, १९५५
	क्रिटीक आँव प्रैक्टिकल रीजन (अनु० बैक), शिकागो, १९४९
	क्रिटीक आँव जजमेन्ट (अनु० बर्नर्ड), लन्दन, १९३१
कार्नप, आर	**फिलोसफी एण्ड लौजिकल सिन्टेक्स**, लन्दन, १९३५
कार्ल मार्क्स	**पूंजी**, खण्ड १, प्रगति प्रकाशन, मास्को
क्लिबान्स्की, रेमेन्ड (सं.)	**फ़िलॉसफी इन दि मिड सैन्चुरी**, तृतीय खण्ड, १९५८
कुमारस्वामी, आनन्द	**दि ट्रान्सफोर्मेशन आँव नेचर इन आर्ट**, न्यूयार्क, १९३४
केशवदेव आचार्य (अनु.)	**दिव्य जीवन**, पाण्डिचेरी, १९७१
————	**केनोपनिषद्**
केयर्ड,	**क्रिटिकल फ़िलौसफ़ी आँव कान्ट**, २ जि०
कौपल्सटन, एफ.सी.	**एक्विनास**, पेलिकन
————	**हिस्टरी आँव फिलोसफी**(बर्न्स, ओट्स एन्ड वोशबोर्न, लन्दन)
क्रोचे, बेनिडिटो	**ईस्थेटिक्स** (अनु० आइन्सली) लन्दन, १९०९
ग्रीन, टी. एच.	**लेक्चर्स आन दि प्रिन्सिपल्स आँव पोलीटिकल ओब्लीगेशन**, लौंगमेन्स, १९३७
	प्रोलेगोमेना टु एथिक्स, आक्सफोर्ड, १९२९
गोटशोल्क	**आर्ट एण्ड सोशल आर्डर**, शिकागो, १९४७
————	**छान्दोग्योपनिषद्**
जगजीतसिंह	**मैथेमेटिकल आइडियाज़ : देअर नेचर एण्ड यूज़**, लन्दन, १९५९
जौवेट, बी.	**दि डायलाग्स आँव प्लेटो**, २ जिल्द, रैन्डम हाउस, १९३७

जैरोम रोथेनवर्ग रायक्रप (सं.) दि स्ट्रक्चर ऑाव इकनौमिक साइन्स, १९६६

दे, एस. के. अर्लि हिस्टरी ऑाव वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बंगाल, कलकत्ता, १९४२

ड्यूई जॉन थियरी आव वैल्युएशन, शिकागो, १९३९

आर्ट एज़ एक्सपीरियन्स, १९३४

——— तैत्तिरीय उपनिषद्

दयाकृष्ण (सं.) माडर्न लॉजिक एण्ड फिलोसफी, नई दिल्ली, १९६४

सोशल फिलौसफी पास्ट एण्ड फ्यूचर, शिमला, १९६९

दुर्बेक मिश्र धर्मोत्तरप्रदीप, पटना १९५५

नीडहैम, जे. साइन्स एण्ड सिविलिजेशन इन चाइना, ४ जिल्द, कैम्ब्रिज, १९५४

नौक्स, टी. एच. (अनु.) हेगल, फ़िलोसोफी ऑाव राइट, आक्सफोर्ड १९०५

——— पञ्चदशी

पिगू, ए. सी. इकोनोमिक्स आव वेलफेयर, लन्दन, १९२०

पाण्डे, गोविन्दचन्द्र स्टडीज़ इन दि आरिजिन्स ऑाव बुद्धिज्म, इलाहाबाद, १९५७

बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, १९६३

न्याय बिन्दु, जयपुर, १९७२

दि मीनिंग एण्ड प्रोसैस ऑाव कल्चर, आगरा, १९७२

प्रायर, एस.एन. लाजिक एण्ड दि बेसिस ऑाव एथिक्स, आक्सफोर्ड, १९४९

प्रेम, श्रीकृष्ण मैन दि मेजर ऑाव आल थिंग्स

पैरि, आर.बी. जनरल थियरी ऑाव वैल्यू, हार्वर्ड, १९५४

फ़िन्डले माइनौंग्स थियरी ऑाव आवजैक्ट्स एण्ड वैल्यूज, आक्सफोर्ड, १९६३

फ्रौन्डिजी, आर. व्हाट इज वैल्यू (अनु० सालोमन लिप), ओपनकोर्ट, १९६३

बर्गसों, एच. क्रियेटिव एवोल्यूशन (अनु० मिचेल) लन्दन, १९२८

बर्नेट, जॉन	ग्रीक फ़िलोसोफी, लन्दन, १९४३
——————	बृहदारण्यक उपनिषद्
बर्नल	साइन्स इन हिस्टरी, ४ जिल्द, पेलिकन
बेकवैल	सोर्स बुक इन एन्श्येन्ट फिलौसफी, चार्ल्स स्क्रिबनर्स, १९३९
बैन्थम, जेरेमी	एन इन्ट्रोडक्शन टु दि प्रिन्सिपल्स ऑव मौरल्स एण्ड लेजिस्लेशन, (बर्ट सं० दि इंग्लिश फिलासफर्स, माडर्न लाइब्रेरी जायन्ट)
बैक, एल. डब्ल्यु (सं.)	कान्ट स्टडीज टुडे, इलिनोइस, १९६९
बोसैन्के, बर्नर्ड	दि वैल्यु एण्ड डेस्टेनी ऑव दि इन्डिविडूअल, मैकमिलन, १९१३
	प्रिन्सिप्ल ऑव इण्डिविडुएलिटी एण्ड वैल्यू, मैकमिलन १९१२
	हिस्टरी ऑव ईस्थैटिक्स, लन्दन, १९३९
ब्रौड, सी. डी.	फाइव टाइप्स आव एथिकल थियरी
भंडारकर, रा. गो.	ए पीप इन्टु दि अर्ली हिस्टरी ऑव इण्डिया, द्वितीय संस्करण, १९३०
——————	मज्झिमनिकाय
मधुसूदन सरस्वती	अद्वैतसिद्धि, निर्णयसागर, १९३७
	भक्तिरसायन
मण्डन	ब्रह्मसिद्धि, मद्रास, १९३७
माधवाचार्य	सर्वदर्शनसंग्रह
मिल, जे. एस.	यूटिलिटेरियनिज्म लिबर्टी एण्ड रिप्रिजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट, एवरीमैन्स
——————	मुण्डक उपनिषद्
मुअर, जी. ई.	फिलोसोफिकल स्टडीज, १९२२
	प्रिन्सिपिया एथिका, कैम्ब्रिज, १९६६
मैर्त्स	ए हिस्टरी ऑव यूरोपियन थाट इन दि नाइनटीन्थ सेन्चुरी, ४ जि०, डोवर, १९६५

मैस्लो, ए. एच. — टूवर्ड ए साइकोलाजी आव बीइंग, न्यूयार्क, १९६२
मार्शल, एल्फ्रेड — प्रिन्सिपल्स ऑव इकनोमिक्स, छठा संस्करण
मैरितैं, जाक — आर्ट एन्ड स्कौलेस्टिसिज्म (अनु० स्कैनलन), न्यूयोर्क, १९४३
——— — योगभाष्य
——— — योगसूत्र
यूइंग, ए. सी. — ए शार्ट कमैन्टरी ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न, लन्दन, १९३८
रसल, बर्ट्रेन्ड — इन्ट्रोडक्शन टु मैथेमैटिकल फिलौसफी, लन्दन, १९२९
प्रिन्सिपल्स ऑव मैथेमैटिक्स, १९०३
प्रिन्सिपिया मैथेमैटिका, ३ जि., कैम्ब्रिज, १९५०
राईस डेविड्स (श्रीमती) — दि बर्थ ऑव इण्डियन साइकोलोजी एण्ड इट्स डेवलपमेन्ट इन बुद्धिज्म, १९३६
——— — रामचरितमानस
रॉस, डब्ल्यु. डी. — दि फाउन्डेशन्स ऑव एथिक्स, १९३९
एरिस्टॉटल, लन्दन, १९४३
रॉस, डब्ल्यु. डी. (सं.) — एरिस्टॉटल सैलेक्शन्स, चार्ल्स स्क्रिबनर्स, १९३८
रोजेनबर्ग, ओटो — दि प्रोब्लेमे देर बुद्धिस्टिशेन फिलौसोफी, १९२४
रोबिन्सन, जॉन — इकोनोमिक फिलोसोफी, पेलीकन, १९६४
लवेनबर्ग (सं.) — हेगल सैलेक्शन्स, चार्ल्स स्क्रिबनर्स, १९२९
लिट्ल, आई. एम. डी. — ए क्रिटीक ऑव वेलफेयर इकनौमिक्स, आक्सफोर्ड, १९६५
लेयर्ड — ए स्टडी इन रियलिज्म, १९२०
लौक, जॉन — ऐसे कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टैन्डिंग
वात्स्यायन — कामसूत्र
वॉलेस, डब्ल्यु. — दि लॉजिक ऑव हेगल, आक्सफोर्ड, १८९४
विवास तथा क्रीगर (सं.) — दि प्रोब्लम्स ऑव ईस्थैटिक्स, न्यूयार्क, १९५७
वुडवर्थ आर. एस. — डाइनेमिक्स ऑव बिहेवियर, १९५८

वुल्फ, मौरिस डी. — सिस्टम ऑंव टामस एक्विनास, डोवर, १९५९

वौल्फ, बौल — कान्ट, मैकमिलन, १९६८

शल्य, यशदेव — संस्कृतिः मानव कर्तृत्व की व्याख्या, जयपुर, १९६६

शल्य, यशदेव (सं.) — समकालीन दार्शनिक समस्याएं

ज्ञान और सत्, दिल्ली, १९६७

शंकर — गीताभाष्य

श्चेरबात्स्कि — दि बुद्धिस्ट कन्सैप्शन ऑंव धर्म = दि सैन्ट्रल कन्शैप्शन ऑंव बुद्धिज़्म एण्ड दि मीनिंग ऑंव दि वर्ड धर्म, १९२३

श्मित, रेमेन्ड — दि द्राई क्रितिकेन, श्तुतगार्त, १९६६

शेलर मेक्स, — देर फौर्मालिस्मुस इन देर एतिक उन्द दि मातेरियाले वैर्तएतिक, बर्न, १९५४

शोबेन और रुख (सं०) — पर्सपेक्टिव्स इन साइकोलॉजी, १९६३

———— श्री श्री चैतन्य चरितामृत (कार्तिक, १३६१, कलकत्ता)

———— सद्दर्शनभाष्य

सिजविक, हेनरी — मैथड्स ऑंव एथिक्स

सिंह, भगवतीप्रसाद — रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय

सेबाइन — ए हिस्टरी ऑंव पोलिटिकल थियरी, लन्दन, १९३७

सैन्टायना, जार्ज — दि सैन्स ऑंव ब्यूटी, चार्ल्स स्क्रिबनर्स, १८९३

सूसनलैंगर — फीलिंग एण्ड फोर्म, न्यूयार्क, १९५३

सूसनलैंगर (सं.) — रिफलैक्शन्स आन आर्ट, बल्टिमोर, १९५८

स्टार्क, डब्ल्यू — दि आइडियल फ़ाउन्डेशन आव इकनौमिकस थॉट, लन्दन, १९४३

स्टीवेन्सन, सी. एल. — एथिक्स एण्ड लैंग्वेज, १९४४

स्पिनोजा, बेनिडिक्ट — एथिक्स, एवरीमैन्स

स्टेस — दि फिलोसफी ऑंव हेगल, डोवर, १९५५

स्पेन्सर, हर्बर्ट — फर्स्ट प्रिन्सिपल्स ऑंव ए न्यू सिस्टेम ऑंव फिलौसफी न्यूयार्क, १९०३

हार्टमान, निकोलाइ — एथिक्स, ३ जि०, १९३२

ह्यूम	एन एन्क्वायरी कन्सर्निंग दि प्रिन्सिपल्स ऑव मौरल्स आक्सफोर्ड, तृतीय संस्करण
हाब्स, टामस	लेवायथन, एवरीमैन्स
हिक्स, जे. एच.	वैल्यू एण्ड कैपिटल, आक्सफोर्ड, १९३९
हेगल, जी. डब्ल्यु. एफ.	एनत्सिक्लोपेदी देर फिलोसोफिश्येन विसेनशाफ्तेन, हेमबर्ग, १९६९
हेयर, आर. एम	लैंग्वेज ऑव मोरल्स, आक्सफोर्ड, १९५२
हैना, आर्न्ट	बिट्वीन पास्ट एण्ड फ्यूचर, लन्दन, १९५४
हैल्सन एण्ड बेवन (सं.)	कन्टेम्परेरी एप्रोचेज टु साइकोलॉजी, १९६४

नामानुक्रमणी

विषयानुक्रमणी

शुद्धिपत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	६	घी	धी
४	३५	घीरः	धीरः
५	१३	याज्ञवल्य	याज्ञवल्क्य
५	३२	आफ	ऑव
७	१	कोशकम्बली	केशकम्बली
७	१६	सारणियों	सरणियों
७	२६	अविर्भूत	आविर्भूत
८	३२	डे०	डे
६	५	विर्षाय-	विषयि-
६	२६	अविर्भाव	आविर्भाव
१०	३४	विर्काय	विकार्य
१२	१३	जसे	जैसे
१५	२८	उद्‌ष्ट	उद्दिष्ट
३४	३५	सधन	सघन
३६	३१	जैमे	जैसे
३७	१	निरूपाधिक	निरुपाधिक
४५	१८	शब्दत, अभिघान	शब्दत : अभिधान
५४	३१	विकसितम	विकसिततम
५६	६	और	ओर
६१	१३	श्रयस्	श्रेयस्
६१	१४	अपरिमाष्य	अपरिभाष्य

६२	१७	भुल्य	मूल्य
६२	२६	सैलेक्शसन्स	सैलेक्शन्स
१०५	१३	सधार	सुधार
१२२	१६	सम्माष्य	सम्भाव्य
१२४	८	ह्यमन अन्डरस्टेन्डिग	ह्यू मन अन्डरस्टैन्डिग
१२५	६	कन्सींग	कन्सनिंग
१२५	१०	तृतीय	द्वितीय
१२६	२	सामाय	सामान्य
१२६	२०	हगेल	हेगेल
१२८	१८	ब्रह्मभेद	अभेद
१३१	१४	एष्यक	एषक
१५२	२४	हेत्वामास	हेत्वाभास
१७७	३२	परिहास	परिहार
२०३	१७	मलतः	मूलतः
२०६	३१	धनीभूत	घनीभूत
२४५	२७	हूं	हैं